

“योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की
अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक”



पी एच.डी. (योग) में उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध—प्रबंध

निर्देशक
डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री
सहायक प्राध्यापक (योग)

शोधार्थी
शशिकांत मणि त्रिपाठी
नामांकन क्र. En16-00029

योग एवं आयुर्वेद विभाग
सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययन केन्द्र
साँची बौद्ध—भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय
अकादमिक परिसर, बारला, रायसेन (म.प्र.)—464551 (भारत)

2020

CERTIFICATE OF THE SUPERVISOR

This is to certify that the work entitled “योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक” is a piece of research work done by Mr. Shashikant Mani Tripathi, under my supervision for the award of the degree of Doctor of Philosophy in Yoga, from Sanchi University of Buddhist-Indic Studies, Academic Campus, Barla, Raisen (M.P.) India.

To the best of my knowledge and belief the dissertation:

1. Embodies the work of the candidate himself.
2. Has duly been completed.
3. Fulfils the requirements of the Rules and Regulations relating to the Ph.D. Programme of the University.

Signature of the Supervisor

Forwarded by

Signature of Head

DECLARATION BY THE CANDIDATE

I declare that the thesis entitled “योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक” is my own work conducted under the supervision of **Dr. Upendra Babu Khatri** (Supervisor) at Department of Yoga and Ayurveda, Sanchi University of Buddhist-Indic Studies, Academic Campus, Barla, Raisen, (M.P.) India, for the award of the degree of Doctor of Philosophy in Yoga.

I further declare that to the best of my knowledge the thesis does not contain any part of any work which has been submitted for the award of any degree either in this University or in any other University/Deemed University without proper citation.

Besides this –

1. I have successfully completed the Course work of one semester as per UGC-Regulation 2018 norms.
2. I have also given a pre-submission seminar and successfully incorporated the changes suggested on the basis of feedback and comments received.
3. I have also published research papers in ISSN/referred journals from the research work of the thesis and have produced an evidence of the same in the form of acceptance letter/or the reprint and also presented research papers in conferences/seminars. Copies of the same have been annexed in the thesis.

Signature of the Candidate

COPYRIGHT

I, **Shashikant Mani Tripathi**, hereby declare that the Sanchi University of Buddhist-Indic Studies, Academic Campus, Barla, Raisen (M.P.) shall have the rights to preserve, use and disseminate this thesis entitled “योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक” in print or electronic format for academic/research purpose.

Note: However, the research scholar may reproduce or authorise others to reproduce material extracted verbatim from the Thesis or derivation of the Thesis for author’s personal use provided that the source and the University’s copyright notice are indicated.

Date:

Place:

Signature of the Candidate

ANTI PLAGIARISM CERTIFICATE

It is certified that the submitted Ph.D. thesis entitled “योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक” has been examined with the following anti-plagiarism tools. I undertake the follows:

- a. Thesis has significant new work/knowledge as compared to already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim from previous work unless it is placed under quotation marks and duly referenced.
- b. The work presented is original and own work of the author (i.e. there is no plagiarism). No ideas, processes, results or words of others have been presented as author's own work.
- c. There is no fabrication of data or results which have been compiled and analyzed.
- d. There is no falsification by manipulating research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or results such that the research is not accurately represented in the research record.
- e. The thesis has been checked using URKUND as per UGC (Promotion of Academic Integrity and Prevention of Plagiarism in Higher Educational Institutes) Regulations 2018.

Signature of the Candidate



Document Information

Analyzed document	Final Thesis Pdf शशिकांत मणि त्रिपाठी.pdf (D78949288)
Submitted	9/11/2020 12:25:00 PM
Submitted by	Dr Amit Tamrakar
Submitter email	amit.tamrakar@subis.edu.in
Similarity	0%
Analysis address	amit.tamrakar.subis@analysis.orkund.com

Sources included in the report



Sanchi University of Buddhist-Indic Studies
संघी बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

Established vide Sanchi University of Buddhist-Indic Studies Act, 2012

2nd floor, Sushasan Bhawan, Bhadbhada Square, Bhopal - 462003, M. P., India

Phone : +91-755-2773256, Fax - +91-755-2773257,

Email : info@subis.edu.in, Web : www.sanchiuniv.edu.in

S.No. **1708**/SUBIS/2020

Barla, Date **01/10/2020**

CERTIFICATE

TO WHOMSOEVER IT MAY CONCERN

This is to certify that Mr. **Shashikant Mani Tripathi** having Enrollment Number Registration No. **En16-00029** has made Pre-Ph.D Presentation Seminar in the Department of Yoga and Ayurveda, School of Santana Dharma and Indic Studies, Sanchi University of Buddhist Indic-Studies, Barla, Raisen (MP) before the faculty members and Research Scholars for feedback and comments according to UGC Regulation 2016 on his Research topic “योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं योगिक तकनीक” on 04/09/2020 on Online Google Meet.

Dr. Upendra Babu Khatri

HoD

Department of Yoga and Ayurveda

SUBIS, Barla Campus, Raisen

आभार

परमपिता परमेश्वर के अहेतुकी कृपा एवं असीम अनुकंपा से मैं यह शोध कार्य पूर्ण करने में सफल हो पाया हूँ। आदियोगी शिव और शक्ति के योग से ही योग विषय पर यह शोध कार्य करने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ। इस योग के लिए मैं उस आदि-अंत से मुक्त, शाश्वत, शांत और अप्रमेय सत्ता का आभारी हूँ।

मैं अपने पूज्यनीय माता-पिता एवं परिवार के सभी सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके आशीर्वाद, प्रेम, प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहयोग से यह शोध कार्य पूर्ण कर सका।

यह शोध कार्य डॉ० उपेंद्र बाबू खत्री के निर्देशन में पूर्ण करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ, जो योग विद्या के विद्वान एवं कुशल आचार्य हैं। आचार्य जी का योग युक्त आचरण आचरण, अमूल्य समय और समय-समय पर दिया गया प्रोत्साहन इस शोध कार्य को पूर्ण करने में सहयोगी रहा। इनके द्वारा प्राप्त आत्मीय स्नेह और शोध कार्य में योगदान के लिए मैं हृदय से आभारी हूँ।

अपने विश्वविद्यालय के विद्वान आचार्यों डॉ० नवीन मेहता, डॉ० तीखे शाम गणपति, डॉ० अखिलेश सिंह, डॉ० संतोष प्रियदर्शी, डॉ० प्रभाकर पांडेय, डॉ० विश्व बंधु, डॉ० राहुल सिद्धार्थ, डॉ० नवीन दीक्षित आदि ने समय-समय पर शोध कार्य के लिए अपना सहयोग प्रदान किया इसके लिए मैं इन सब का का आभारी हूँ।

मैं विशेष रूप से आभारी हूँ डॉ० गिरीश्वर मिश्र, पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा, डॉ० नंदलाल मिश्र, प्राध्यापक मनोविज्ञान, महात्मा गांधी ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट, डॉ० के एन त्रिपाठी प्राध्यापक मनोविज्ञान, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय भोपाल, डॉ० प्रदीप कुमार खरे प्राध्यापक दर्शनशास्त्र, सरोजिनी नायडू शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय भोपाल के प्रति जिन्होंने इस शोध कार्य को पूर्ण करने में अपना विद्वत्ता पूर्ण निर्देशन मार्गदर्शन एवं सुझाव दिया।

मैं आभारी हूँ, डॉ० शैलेन्द्र मिश्र: जी का जिन्होंने समय-समय पर इस शोध कार्य के लिये अपना अविस्मरणीय सहयोग प्रदान किया इसके साथ ही साथ मैं आभारी हूँ अपने मित्र नितिन जैन जी का जिनसे इस विषय पर विमर्श हुआ। मैं अपने सहयोगी मित्र डॉ० प्रवीण शर्मा से इस शोध कार्य के लिए प्राप्त सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ। इसके साथ ही साथ अन्य मित्रों धनंजय कुमार जैन, उमाशंकर कौशिक, लोकेश चौधरी, डॉ० देवेंद्र छायाला, डॉ० रविकांत गुप्ता, भानुप्रताप सिंह बुंदेला आदि के सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ।

अंत में मैं उन सभी मित्रों एवं सहयोगियों के प्रति आभारी हूँ, जिनका प्रत्यक्ष और परोक्ष सहयोग एवं मार्गदर्शन इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मिला है।

धन्यवाद

शशिकांत मणि त्रिपाठी

अनुक्रमणिका		
क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
	अध्याय-1	
1.	शोध समस्या की पृष्ठभूमि	1-23
1.1	प्रस्तावना	1-13
1.2	अध्ययन का औचित्य	13-14
1.3	समस्या कथन	14
1.4	शोध के उद्देश्य	14
1.5	शोध प्रविधि	14-18
1.6	शोध से संबंधित प्रश्न	18
1.7	शोध समस्या के चर	18
1.8	चरों का परिभाषीकरण	18-21
1.9	अध्ययन की सीमाएं	21
1.10	शोध अध्ययन की उपयोगिता एवं महत्व	21-22
1.11	सन्दर्भ	23
	अध्याय-2	
2.	साहित्य का पुनरावलोकन	24-33
2.1	सन्दर्भ	33
	अध्याय-3	
3.	अधिगम की सामान्य अवधारणा	34-62
3.1	सामान्य मनोविज्ञान में अधिगम की अवधारणा	34-35
3.2	अधिगम का अर्थ एवं परिभाषायें	35-37
3.3	अधिगम के स्वरूप एवं सिद्धांत	37-39
3.4	अधिगम और अभिप्रेरणा	40-41
3.5	अधिगम और साहचर्य	41-42
3.6	अधिगम तथा स्मृति और विस्मृति	42-43
3.7	अधिगम एवं व्यक्तित्व	43-45
3.8	भारतीय मनोविज्ञान में अधिगम की अवधारणा	45-46
3.9	अधिगम का संस्कार सिद्धांत	46-56
3.10	भारतीय मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि	56-57
3.11	भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान में अंतर	58-60
	सन्दर्भ	61-62
	अध्याय-4	
4.	महर्षि पतंजलि योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक	63-119
4.1	महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र का परिचय	63-67
4.2	महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा	67-71

4.3	महर्षि पतंजलि योगसूत्र में अधिगम का विवेचन	71–93
4.4	महर्षि पतंजलि योगसूत्र में अधिगम की यौगिक तकनीक	93–111
4.5	सन्दर्भ	112–119
	अध्याय–5	
5.	योगवासिष्ठ में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक	120–186
5.1	योगवासिष्ठ का परिचय	120–130
5.2	योगवासिष्ठ में अधिगम की अवधारणा	131–139
5.3	योगवासिष्ठ में अधिगम का विवेचन	139–144
5.4	योगवासिष्ठ में अधिगम की यौगिक तकनीक	144–181
5.5	सन्दर्भ	182–186
	अध्याय–6	
6.	श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक	187–238
6.1	श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय	187–188
6.2	श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा	188–192
6.3	श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम का विवेचन	192–220
6.4	श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की यौगिक तकनीक	220–232
6.5	सन्दर्भ	233–238
	अध्याय–7	
7.	पातंजल योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक का समन्वयात्मक अध्ययन	239–294
7.1	योग का अधिगम एवं अधिगम शैली	242–45
7.2	योगसूत्र में अधिगम	246–251
7.3	योगवासिष्ठ में अधिगम	251–260
7.4	श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम	260–294
	अध्याय–8	
8.	निष्कर्ष एवं सुझाव	295–321
	सन्दर्भ ग्रंथ सूची एवं परिशिष्ट	322–324

अध्याय—1

शोध समस्या की पृष्ठभूमि

1.1 प्रस्तावना

मनुष्य के जीवन में अधिगम का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतया अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। सीखने से व्यवहार में परिवर्तन होता है। व्यवहार में किसी भी प्रकार के परिवर्तन को अधिगम नहीं कहा जा सकता क्योंकि कई बार व्यवहार में परिवर्तन का कारण बीमारी, थकान, परिपक्वता आदि हो सकते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से अधिगम से तात्पर्य व्यवहार के उस परिवर्तन से है जो अपेक्षाकृत स्थाई हो। अभ्यास और अनुभव के परिणामस्वरूप होने वाले व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि व्यवहार में परिवर्तन नहीं होता तो सीखना या अधिगम नहीं होता है। ऐसा ज्ञान जो हमारे व्यवहार में परिलक्षित न हो या व्यवहार परिवर्तन का आधार न हो, वह अधिगम नहीं है। अधिगम किसी भी प्रकार की शिक्षा की आधारशिला है।

शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्ति का निर्माण करना है, जो मनुष्यता के गुण से ओतप्रोत हो। मानवीय गुणों के साथ ही मनुष्य का विकास होता है। व्यक्ति के निर्माण के अभाव में व्यक्तित्व का विकास मात्र एक मुखौटा बन के रह जाता है। मानवीय गुणों के अधिगम के बिना शिक्षित समाज व्यक्तित्व विकास के इसी मुखौटे का शिकार हो जाता है। जहां ज्ञान महज सूचनाओं के आदान-प्रदान का माध्यम बनकर रह जाता है।

ज्ञान का अधिगम तब होता है जब व्यवहार में परिवर्तन हो। यह परिवर्तन अच्छा और बुरा दोनों रूपों में हो सकता है। मनुष्य के व्यवहार में सद्गुणों और दुर्गुणों दोनों का विकास हो सकता है। सीखने का तात्पर्य इन दोनों प्रकार के व्यावहारिक परिवर्तनों से है। व्यवहार में यह परिवर्तन अभ्यास और अनुभूति के फलस्वरूप होता है तथा अपेक्षाकृत स्थाई होता है। अधिगमकर्ता के द्वारा बार-बार अभ्यास और भूल सुधार या किसी अनुभव के द्वारा व्यवहार में होने वाले स्थाई एवं दीर्घकालिक परिवर्तन को ही अधिगम कहते हैं। क्षणिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर होने वाले व्यवहार परिवर्तन को अधिगम नहीं कहा जा सकता।

अधिगम अथवा सीखने के लिए व्यवहार में परिवर्तन होना परम आवश्यक है और इस परिवर्तन के लिए अभ्यास और अनुभूति का होना अपरिहार्य है। अधिगमकर्ता की

अभ्यास की अपनी एक शैली होती है और उसके अनुभव के आधार पर जो चिंतन विकसित होता है, उसकी भी अपनी एक शैली होती है।

अधिगम का अर्थ होता है— **सीखना** और **शैली** का अर्थ होता है— **सीखने की कला**। अधिगमकर्ता के सीखने की शैली अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करती है, जिसका प्रभाव उसके जीवन की उपलब्धियों पर साफ दिखाई देता है। सीखने की प्रक्रिया में कोई देखकर, कोई सुनकर, कोई अच्छा करके और कोई चर्चा के माध्यम से आसानी से सीखता है। सीखने की प्रक्रिया जीवन में किसी न किसी रूप में सतत् चलती रहती है। हर प्रकार के अधिगम शैली की अपनी समस्या होती है, जिसका सामना अधिगमकर्ता को करना पड़ता है। समुचित अधिगम के लिए अधिगमकर्ता के अधिगम शैली और इस शैली से उसके जीवन में सीखने पर पड़ने वाले प्रभाव और दुष्प्रभाव का अध्ययन करके उसका निदान किस प्रकार होना चाहिए इसका ज्ञान अधिगम कराने वाले शिक्षक या गुरु को होना चाहिए। प्रत्येक अधिगमकर्ता सीखने की कुछ विशेष विधियों में अपनी रुचि प्रस्तुत करता है। यह विशेष विधियां उसके अधिगम शैली का हिस्सा बन जाती हैं और उसके अनुरूप शिक्षक या गुरु उन विशेष विधियों का प्रयोग करके अधिगम की प्रक्रिया को सफल बनाता है। विभिन्न प्रकार के अधिगमकर्ताओं के **विभिन्न अधिगम शैलियां** हो सकती हैं— जैसे अधिगम की दार्शनिक शैली, अधिगम की श्रवण शैली, अधिगम की मनन अर्थात् चिंतनशील शैली, अधिगम की भावनात्मक एवं संवेदनात्मक शैली, नाम—रूपात्मक अधिगम शैली, क्रियाशील अधिगम शैली, अंतर्दृष्टि अधिगम शैली, क्रमिक तथा व्यापक अधिगम शैली इत्यादि। अधिगम की प्रक्रिया सीखने के विभिन्न तरीकों के माध्यम से संपन्न हो सकती है। अधिगम और जीवन की उपलब्धियों का परस्पर संबंध है।

मनुष्य के विकास में उसके सीखने की इच्छा का महत्वपूर्ण स्थान है। **आकांक्षा का स्तर** उससे संबंधित निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्य को प्रेरित करता है। सीखना हमेशा उद्देश्यपूर्ण होता है। आकांक्षा के स्तर से ही व्यक्ति अभिप्रेरित होता है। एक सामान्य व्यक्ति अपनी आकांक्षा का स्तर अपने पूर्व की उपलब्धियों के आधार पर निश्चित करता है। पूर्व की उपलब्धियों से वर्तमान आकांक्षा का स्तर ऊपर होता है। निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति हो जाने के बाद अगली बार क्रमशः उसके आकांक्षा का स्तर ऊपर उठता जाता है। व्यक्ति के आकांक्षा के स्तर एवं उपलब्धि के स्तर में एक तरह का आपसी सामंजस्य होता है।

व्यक्ति अपने पूर्व के अनुभव एवं उपलब्धियों के आधार पर वर्तमान में सीखने के उद्देश्य को निर्धारित करता है।

वर्तमान में निर्धारित उद्देश्य पूर्व के अनुभूतियों से प्रभावित होता है। पूर्व की अनुभूतियों के प्रभाव को देखने के लिए मृत्यु के भय से भयभीत प्राणियों को प्रायः देखा जा सकता है। अपने प्राणों की रक्षा करना हर प्राणियों का स्वभाव है। प्राणों पर आते संकट को देखकर प्राण को बचाने की प्रक्रिया का अधिगम हर प्राणी को है। जीवित रहने की इच्छा प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। जीवन की इस आकांक्षा का स्तर पूर्व के मृत्यु की अनुभूतियों से प्रभावित है, जिसे अभिनिवेश के रूप में प्रत्येक प्राणी में देखा जाता है। अधिगम के लिए आकांक्षा का स्तर एक प्रभावशाली माध्यम है।

पूर्व के अनुभव से प्रेरित होकर व्यक्ति सीखता है। अभिप्रेरण कोई ऐसी चीज नहीं है जो बाहर से पैदा की जाती है। अभिप्रेरण अंदर से उत्पन्न होने वाली ऐसी आकांक्षा है, जो व्यक्ति को अधिगम के लिए प्रेरित करती है। अभिप्रेरण एक ऐसी शक्ति है, जो व्यक्ति के भीतर से उत्पन्न होती है। बाहर का प्रभाव कुछ देर तक व्यक्ति को प्रभावित कर सकता है लेकिन भीतर से उत्पन्न होने वाली अभिप्रेरण व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन का कारण बनती है, इसलिए अधिगम की प्रक्रिया में अभिप्रेरण का भी गहरा प्रभाव है।

मनोविज्ञान में अभिप्रेरण को दो भागों में बांटा गया है—

1. जैविक या शारीरिक अभिप्रेरण

2. सीखा हुआ या अर्जित अभिप्रेरण

शारीरिक अभिप्रेरण में व्यक्ति शरीर की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर सीखता है। इसके अंतर्गत भूख, प्यास, भय आदि आते हैं।

अर्जित अभिप्रेरण के अंतर्गत निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं—

अर्जित अभिप्रेरण जन्मजात नहीं होती है, इसे सीखना पड़ता है। यह अभिप्रेरण सार्वभौम नहीं होती, क्योंकि जीवित रहने के लिए व्यक्ति को अर्जित अभिप्रेरण की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिकता के अधिगम के लिए अर्जित अभिप्रेरण की आवश्यकता होती है।

मनोविज्ञान में शिक्षा के दृष्टिकोण से कई ऐसे अर्जित अभिप्रेरण होते हैं, जिन पर प्रकाश डाला गया है— उपलब्धि अभिप्रेरण, संबंधन अभिप्रेरण, चिंताह्रास अभिप्रेरण, सत्ता अभिप्रेरण, अनुमोदन अभिप्रेरण, आक्रमणशीलता का अभिप्रेरण इत्यादि।

मानव जीवन को प्रभावित करने वाले बहुत सारे कारक हो सकते हैं। मनुष्य का जन्म प्राप्त कर लेने मात्र से मानव जीवन सफल नहीं होता। मनुष्य में जब तक मनुष्यता का संस्कार नहीं होता तब तक मनुष्य विवेक के आधार पर विकसित प्राणी नहीं होता है। मनुष्य का विकास भौतिकता के संसाधनों से नहीं, अपितु मानवीय गुणों के विकास से ही मापा जा सकता है। मानवीय गुणों के साथ विकसित मनुष्य ही सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव समाज का निर्माण कर सकता है। इसलिए भारतीय मनोविज्ञान में “मनुर्भव” अर्थात् “मनुष्य बनो” की संकल्पना को पुष्ट करने के लिए पुरुषार्थ चतुष्टय के अंतर्गत— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आधार स्तंभ के रूप में स्वीकार किया गया है। मनुष्य का विकास शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आत्मिक आधार पर ही पूर्ण रूप से हो सकता है। मनुष्य के इस चतुर्दिक विकास के अभाव में मानव समाज ईर्ष्या, द्वेष, कलह, संघर्ष, असंतोष, प्रतिस्पर्धा, भेदभाव, हिंसा और अशांति आदि विकारों से ग्रस्त हो गया है। इन विकारों से मुक्ति के लिए योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की जो शैक्षणिक प्रणाली है, उनमें से अधिगम शैली, आकांक्षा स्तर, अभिप्रेरण, अनुभूतिगम्य ज्ञान, अभ्यास, वैराग्य आदि का अध्ययन शोधकर्ता द्वारा किया जाएगा। योग के इन ग्रंथों का जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अध्ययन किया जाएगा, जिससे इस क्षेत्र में व्यापक अनुसंधान कार्य किया जा सके।

भारतीय शिक्षण प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है। मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण शरीर, प्राण, मन और आत्मा से मिलकर होता है। व्यक्तित्व के निर्माण की इस प्रक्रिया में बाहर से भीतर की तरफ यात्रा करनी पड़ती है, अर्थात् शरीर से आत्मा की ओर उन्मुख होकर जब मनुष्य विकसित होता है, तब उसका सर्वांगीण विकास होता है। मनुष्य के आत्मोन्मुखी विकास के लिए योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में योग के शिक्षण और उस शिक्षण के साध्य अधिगम के लिए यौगिक तकनीक का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। भारत में शिक्षण कार्य एक प्रकार की साधना है। इसके लिए शिक्षक को साधक बनना पड़ता है।

अनुभूति और अभ्यास से होने वाले व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहा जाता है। ज्ञान जब तक व्यवहार का अभिन्न अंग नहीं बनता तब तक अधिगम की प्रक्रिया पूरी नहीं होती है। गुरु द्वारा जो ज्ञान दिया जाता है उस ज्ञान का दर्शन गुरु के व्यवहार में परिलक्षित होना परम आवश्यक है। जिस ज्ञान को हम दूसरों को देना चाहते हैं, उस ज्ञान

का प्रभाव अगर हमारे जीवन पर नहीं दिखाई पड़ता तो वह ज्ञान ग्राह्य नहीं होता है। व्यक्ति के व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या ज्ञान के अधिगम की है। हम दूसरे के व्यवहार में परिवर्तन देखना चाहते हैं परंतु स्वयं के व्यवहार में वह परिवर्तन नहीं कर पाते, जिसके परिणामस्वरूप अधिगमकर्ता हमसे वह नहीं सीख पाता, जो हम उसे सिखाना चाहते हैं।

शिक्षा के जगत में वर्तमान समय की सबसे बड़ी समस्या अधिगम की है। किसी भी तरह के शिक्षण का एकमात्र उद्देश्य अधिगम उत्पन्न करना है। शिक्षण अगर साधन है तो अधिगम उसका साध्य है। किसी भी शिक्षण का वास्तविक परिणाम अधिगम है। अधिगम और शिक्षण दो अलग संप्रत्यय होने के बावजूद भी एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। अधिगम के अभाव में शैक्षणिक ज्ञान मात्र सूचनाओं का आदान-प्रदान बनकर रह जाता है। शिक्षा सतत् चलने वाली प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य औपचारिक और अनौपचारिक किसी रूप से आजीवन सीखते रहना है। अधिगम का अर्थ भी सीखना है। मनुष्य जीवन में सतत् कुछ न कुछ सीखता रहता है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन में योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक का शोधार्थी द्वारा अध्ययन किया जाएगा। इन ग्रंथों में अधिगम का संबंध संस्कारों से है। इन संस्कारों के कारण ही मनुष्य का जन्म होता है और क्रमानुसार मृत्युपर्यंत नियत भोगों को भोगना पड़ता है। संस्कार ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं भावनात्मक रूप से मनुष्य में संकलित होते रहते हैं। ज्ञानात्मक संस्कार से स्मृति का निर्माण होता है। भावनात्मक संस्कार से क्लेशों एवं संवेगों का निर्माण होता है। क्रियात्मक संस्कार से जाति, आयु और भोगों का निर्माण होता है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत इन्हीं संस्कारों के आधार पर सीखता है। शोध अध्ययन में योग के इन ग्रंथों में अधिगम की अवधारणा, अधिगम कौशल, आकांक्षा स्तर, उपलब्धि अभिप्रेरण, यौगिक तकनीक एवं शैक्षिक उपलब्धि का शोधार्थी द्वारा अध्ययन किया जाएगा।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के प्रथम अध्याय में शोध समस्या की पृष्ठभूमि का वर्णन किया गया है। अधिगम से तात्पर्य सीखने से है, और मनुष्य के जीवन में सीखने की प्रक्रिया जन्म से प्रारंभ होकर मृत्यु होने तक किसी न किसी रूप में चलती रहती है। व्यक्ति वर्तमान में जो कुछ भी है या भविष्य में जो कुछ भी होना चाहता है, वह सीखने के परिणामस्वरूप ही

संभव है। अधिगम का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है और यह जीवनपर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है।

शोध समस्या की पृष्ठभूमि के रूप में वर्तमान समय की अधिगम प्रक्रिया से मानव समाज में व्याप्त ईर्ष्या, द्वेष, असंतोष, भेदभाव, हिंसा, प्रतिस्पर्धा, अशांति इत्यादि मानसिक एवं भावनात्मक विकारों से मुक्ति दिलाने में प्राचीन भारत की अधिगम प्रक्रिया यथा—योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अधिगम की अवधारणा, अधिगम प्रक्रिया का विवेचन एवं यौगिक तकनीक का क्या योगदान है? उसका अध्ययन करना है। इस अध्ययन से वर्तमान समय में व्याप्त मानसिक एवं भावनात्मक विकारों से मुक्त, आत्मिक आधार पर विकसित, विवेकशील मनुष्य और उसके द्वारा निर्मित सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव समाज का निर्माण हो सकेगा।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक का अध्ययन करना है। अर्वाचीन अधिगम की प्रक्रिया और प्राचीन भारत की अधिगम प्रक्रिया में क्या अंतर है? प्रस्तुत शोध से संबंधित यह मुख्य प्रश्न है।

मनुष्य इस जीव जगत का सबसे विवेकशील प्राणी है। आत्मिक रूप से विकसित मनुष्य ही लोककल्याणकारी प्राणी के रूप में इस जगत में अपना स्थान बना सकता है। जगत को अपने में और अपने को जगत में देखने की दृष्टि एकात्मभाव के साथ विकसित होती है और एकात्मभाव का विकास अध्यात्म विद्या से होता है। **विद्या से अविद्या की ग्रंथि का भेदन होता है**, जिसके परिणामस्वरूप आत्मिक आधार पर विकसित और विवेकशील मनुष्य का निर्माण होता है। प्राचीन भारत की अधिगम प्रक्रिया का उद्देश्य ऐसे मनुष्य का निर्माण है, जो आत्मज्ञान के साथ समत्व बुद्धि से युक्त और पाप—पुण्य से मुक्त होकर, अपना कर्तव्य कर्म करने में कुशल हो। ऐसा मनुष्य ही इस जगत तथा जीवधारियों के जीवन साथ ही साथ अपने जीवन की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है।

शोध प्रबंध के दूसरे अध्याय में शोध से संबंधित साहित्य के सर्वेक्षण का परिचय दिया गया है।

प्रस्तुत शोध के तीसरे अध्याय में अधिगम की सामान्य अवधारणा के संबंध में वर्णन किया गया है। मनुष्य के जीवन में अधिगम का महत्वपूर्ण स्थान है। अधिगम से तात्पर्य सीखने से है और सीखने से व्यवहार में परिवर्तन होता है। व्यवहार में किसी भी प्रकार के

परिवर्तन को अधिगम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कई बार व्यवहार का यह परिवर्तन बीमारी, थकान, परिपक्वता आदि कारणों से भी होता है। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अधिगम से तात्पर्य व्यवहार के उस परिवर्तन से है जो अपेक्षाकृत स्थाई हो। अभ्यास और अनुभव के परिणामस्वरूप होने वाले व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहते हैं। अधिगम के परिणामस्वरूप किसी परिस्थिति में पुराने व्यवहारों में परिवर्तन और किसी परिस्थिति में नए व्यवहारों की प्राप्ति होती है। जन्म लेने के साथ प्रत्येक प्राणी में कुछ विशेष प्रकार की कार्यक्षमताएं विद्यमान रहती हैं। वातावरण के संपर्क में आने के साथ ही अपनी विशेष प्रकार की क्षमताओं के साथ जन्म लेने वाले प्राणी में कई प्रकार की क्रियाएं उत्पन्न होने लगती हैं। यहीं से उन प्राणियों की अधिगम प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

जन्म लेने के साथ ही मनुष्य में सीखने की प्रक्रिया मृत्युपर्यंत चलती रहती है। कुछ न कुछ सीखते हुए ही मनुष्य बड़ा होता है। जीवन में किसी भी **स्मृति का आधार अधिगम ही होता है** और अधिगम के अभाव में स्मृति के नहीं होने को ही विस्मृति कहा जाता है। विस्मृति वास्तव में अधिगम का अभाव ही है। इस प्रकार स्मृति और विस्मृति की प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती रहती है। इस प्रकार से अधिगम के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषाओं का वर्णन किया गया है।

व्यक्ति के जीवन में अधिगम की आवश्यकता होती है क्योंकि जिसकी आवश्यकता हमारे जीवन में होती है उसे सीखना हमारे लिए महत्वपूर्ण होता है। हम उसी को सीखना चाहते हैं जो हमारे लिए उपयोगी हो। अधिगम के लिए एक लक्ष्य निर्धारित होना परम आवश्यक है, क्योंकि किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही व्यक्ति किसी भी प्रकार का अधिगम करने को तैयार होता है। अधिगम के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया जाता है, जिससे प्रोत्साहित होकर व्यक्ति सीख सके।

अधिगम के प्रमुख सिद्धांतों में साहचर्यवादी, व्यवहारवादी और गेस्टाल्टवादी सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं।

अधिगम के **साहचर्यवादी सिद्धांत** के अनुसार व्यक्ति अनुकरण करके तथा प्रयत्न एवं भूल के आधार पर अधिगम करता है।

अधिगम के **व्यवहारवादी सिद्धांत** के अंतर्गत पावलव का प्रतिबंध-अनुक्रिया सिद्धांत और स्किनर का सक्रिय-अनुबंध सिद्धांत आता है।

अधिगम के गेस्टाल्टवादी सिद्धांत के अनुसार किसी भी व्यक्ति में सीखने की प्रक्रिया अचानक उसके अंदर उत्पन्न सूझ से उत्पन्न होती है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में अधिगम को लेकर जितने प्रयोग हुए हैं उनमें अधिकतर प्रयोग पशुओं पर किए गए हैं। जिन प्राणियों में बुद्धि पाई जाती है वे अंतर्दृष्टि द्वारा अधिगम करते हैं। मनुष्य के अधिगम में चिंतन एवं बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी भी कार्य को सीखने के लिए उचित प्रेरणा की आवश्यकता होती है, इसलिए अधिगम के लिए अभिप्रेरणा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अभिप्रेरणा एक प्रकार की आंतरिक शक्ति है जो हमें किसी कार्य को करने के लिए प्रेरित करती है। अभिप्रेरणा अदृश्य शक्ति की भांति काम करती है, जो दिखाई तो नहीं देती पर किसी भी कार्य को करने के लिए प्रेरित अवश्य करती रहती है। अधिगम में साहचर्य की भी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। मनुष्य अनुकरण करके तथा प्रयत्न एवं भूल के सिद्धांत के आधार पर भी सीखता रहता है।

भारतीय मनोविज्ञान में अधिगम की अवधारणा पश्चात्य मनोविज्ञान से अत्यंत प्राचीन है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य के विकास के लिए आध्यात्मिक मूल्यों को अत्यधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि मनुष्य का विकास वास्तव में आत्मिक आधार पर ही हो सकता है। आत्मिक रूप से विकसित मनुष्य इस जगत के लिए लोककल्याणकारी प्राणी साबित होगा।

बौद्धिक रूप से विकसित मनुष्य स्वयं की संपन्नता और समृद्धि के लिए इस सृष्टि में विकास के ऐसे आयाम भी खड़े कर सकता है, जिससे विकास के साथ ही साथ विनाश की भी संभावनाएं प्रबल हो सकती हैं। विज्ञान से विकास और विज्ञान से विनाश दोनों तरह के दृश्य सहज परिलक्षित होते हैं। अपने जीवन तथा जगत के जीवन में संतुलन की स्थापना आत्मिक रूप से विकसित विवेकशील मनुष्य ही कर सकता है, इसलिए भारत में अधिगम की प्रक्रिया में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक आधार पर व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास को महत्व दिया गया है। इस आधार पर विकसित मनुष्य एकात्मक दृष्टि के साथ विश्व में एकता का दर्शन करते हुए विश्व-बंधुत्व एवं विश्व-शांति की संकल्पना को साकार रूप दे सकता है।

प्रस्तुत शोध के चतुर्थ अध्याय में महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक का वर्णन किया गया है। इसके अंतर्गत योगसूत्र का परिचय देते हुए मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य पुरुषार्थ चतुष्टय— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए योग के अधिगम का विस्तार से वर्णन किया गया है। योग

चित्त-वृत्तियों का निरोध है। अविद्या के कारण द्रष्टा और दृश्य के संयोग के परिणामस्वरूप शरीर और संसार का निर्माण हुआ है। इस संसार में शरीर और इंद्रियों के द्वारा किसी भी तरह का अधिगम चित्त-वृत्तियों का निर्माण करता है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के रूप में इन पांच वृत्तियों का ज्ञान शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से होता है। अहंकार का जन्म अविद्या के कारण होता है और मनुष्य को किसी भी प्रकार के शारीरिक ज्ञान का अधिगम अहंकार के कारण ही होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान का आधार, अविद्या से जन्म लेने वाला अहंकार है। योगविद्या के अधिगम से अविद्या की ग्रंथि टूटती है और मनुष्य के चित्त-वृत्तियों के रूप में संकलित ज्ञान का निरोध होता है, जिसके परिणामस्वरूप अपने यथार्थ स्वरूप अर्थात् द्रष्टा का ज्ञान होता है।

अविद्या के कारण द्रष्टा, दृश्य के अनुरूप ही अपने स्वरूप को समझने लगता है। योगविद्या से जब चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है। योगसूत्र में योग के अधिगम का तात्पर्य प्रकृति से मुक्त पुरुष का ज्ञान है। इस ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान या आत्मस्वरूप का ज्ञान कहते हैं। **ईश्वर-प्राणिधान** से आत्मस्वरूप के ज्ञान के साथ ही साथ योग के विघ्नों का अभाव हो जाता है। ईश्वर प्रकृति से सर्वथा मुक्त एक विशेष पुरुष है, जो अविद्या से जन्म लेने वाले अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश से कभी युक्त नहीं होता है, इसलिए ईश्वर को विशेष पुरुष कहते हैं। इस विशेष पुरुष के साहचर्य से सरलता और सहजता से योग का अधिगम किया जा सकता है।

वास्तव में योग, प्रकृति से पुरुष का वियोग है। दृश्य प्रकृति से मुक्त होने के पश्चात् ही द्रष्टा को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। योगसूत्र में योग के अधिगम का विवेचन करते हुए यौगिक तकनीक का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें चित्त-वृत्तियों के निरोध लिए अभ्यास और वैराग्य का वर्णन किया गया है। पुरुष का ज्ञान होने के बाद ही पर-वैराग्य की सिद्धि होती है। तत्पश्चात् अध्यात्म प्रसाद से साधक की प्रज्ञा ऋतंभरा होती है। यह प्रज्ञा श्रुतबुद्धि और अनुमान बुद्धि से अलग सत्य को धारण करने वाली होती है। इससे विवेकख्याति की प्राप्ति होती है, जिससे सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

कैवल्य की अनुभूति तभी होती है जब विवेकज्ञान से चित्त और पुरुष समान रूप से शुद्ध हो जाते हैं। शुद्ध चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है, तत्पश्चात् पुरुष को अपने

स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। चित्त की शुद्धि के लिए सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियों के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना, योग के साधकों को करनी चाहिए। ऐसा करने से मन निर्मल होता है। इसके पश्चात यौगिक तकनीक के रूप में क्रियायोग का वर्णन किया गया है, जिसके अंतर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान आते हैं। इसके उपरांत यौगिक तकनीक के रूप में अष्टांगयोग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत शोध के पांचवें अध्याय में योगवासिष्ठ में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें महर्षि वसिष्ठ द्वारा ज्ञानमूर्ति श्रीराम को तत्त्वज्ञान का अधिगम कराया गया है। वास्तव में इस दृश्य जगत में परिवर्तन हर पल हो रहा है, जिसके कारण जगत की सत्ता आभासी है। वास्तविक सत्ता ब्रह्म की है। ब्रह्म जगत का अधिष्ठान है, जिसमें दृश्य जगत आरोपित हो रहा है। जीव को शरीर और इंद्रियों के माध्यम से संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का आभास होता है।

प्रकृति और पुरुष के योग से निर्मित इस संसार में अविद्या के कारण सत्य का आभास होता है। अविद्या से जन्म लेने वाला अहंकारयुक्त मानस सत्य का आभास कर सकता है परंतु सत्य का ज्ञान नहीं, क्योंकि सत्य का ज्ञान अहंकार से मुक्त के पश्चात होता है। सत्य का ज्ञान ब्रह्मज्ञान है, जिसका साक्षात्कार ब्रह्मविद्या से अविद्या का नाश होने के पश्चात होता है। नाम और रूप के आरोप से मुक्त होने के पश्चात अपने आत्मस्वरूप, अविनाशी ब्रह्म तत्व का बोध होता है। आत्मबोध से अविद्या की ग्रंथि से मुक्ति मिलती है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। ब्रह्मविद्या मुक्ति प्रदान करती है।

यह संसार भोगभूमि है, जहां व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार निर्मित फल का भोग करता है। कर्म और कर्मफल का संबंध बड़ा ही अनूठा है। कामना से युक्त कर्म के फल को प्रत्येक जीव को निश्चित ही भोगना पड़ता है। जन्म और मृत्यु कामना से युक्त कर्म के फल का ही परिणाम है। जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति सत्य, सनातन, शाश्वत, आनंदस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार से ही संभव है। ब्रह्म सत्य है, जिसमें इस परिवर्तनशील दृश्य जगत का आभास हो रहा है। यह तत्त्वज्ञान शरीर और इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से नहीं होकर आत्मबोध से होता है। अध्यात्म विद्या से अहंकार शून्य होने के पश्चात ब्रह्मबोध होता है।

योगवासिष्ठ की शिक्षण प्रक्रिया में महर्षि वसिष्ठ द्वारा श्रीराम को ब्रह्मविद्या का अधिगम कराया गया है। सात भागों में यथा— वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु—व्यवहार प्रकरण,

उत्पत्ति प्रकरण, स्थिति प्रकरण, उपशम प्रकरण, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध और निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध। यह ग्रंथ बत्तीस हजार श्लोकों में वर्णित है, इसे महारामायण, वसिष्ठ रामायण आदि नामों से भी जाना जाता है। महर्षि वसिष्ठ ने स्वयं इस ग्रंथ के बारे में कहा है कि “संसार सर्प के विष से विकल तथा विषय विषूचिका से पीड़ित प्राणियों के लिए योगवासिष्ठ परम पवित्र अमोघ मंत्र है।”

इस प्रकार इस ग्रंथ में ज्ञान और कर्म को मोक्ष का साधन बताया गया है। जिस प्रकार पक्षी दो पंखों से उड़ान भरता है उसी प्रकार जीव ज्ञान और कर्म के रूप में प्राप्त दो साधनों से परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि करता है। अधिगम प्रक्रिया का विवेचन करते हुए अंत में सांख्ययोग तथा अष्टांगयोग के वर्णन के साथ ही साथ अन्य यौगिक तकनीकों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत शोध के छठवें अध्याय के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा विवेचन एवं यौगिक तकनीक का विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता का प्राकट्य धर्मक्षेत्र—कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित, कौरव और पांडव सेनाओं के मध्य में खड़े अर्जुन को अपने सगे संबंधियों की मृत्यु के विचार से विषादग्रस्त मन के विषाद को दूर करने के लिए हुआ है। मनुष्य के जीवन में कई बार ऐसी परिस्थितियों का निर्माण होता है जिसमें अपने और अपनों के मध्य में कर्तव्य कर्म को लेकर मन में युद्ध प्रारंभ हो जाता है, जिसमें हर हाल में अपनी हार दिखाई पड़ती है। युद्ध प्रायः जीत के लिए लड़ा जाता है, परंतु जिस युद्ध में शत्रु पक्ष में अपने सगे संबंधी हो उसमें हार ही निश्चित है। ऐसे युद्ध को करने में मन विषादग्रस्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, और कर्म नहीं करने का संकल्प ले लेता है।

गीता का प्राकट्य कर्म जिज्ञासा को लेकर मन में चल रहे कर्म युद्ध के कारण हुआ। इस जगत में जन्म लेने वाले जीव को मृत्युपर्यंत कर्म करना पड़ता है। इस कर्मभूमि में कर्म जीवन का धर्म है परंतु जब अपने सगे संबंधियों से युद्ध करना जीवन का धर्म बन जाए तब कर्म करना मुश्किल हो जाता है और मन में कर्म को लेकर युद्ध शुरू हो जाता है। अर्जुन कर्म के युद्ध क्षेत्र में कर्म नहीं करके विजय प्राप्त करना चाहता है क्योंकि युद्ध का लक्ष्य जीतना ही होता है। जीवन में व्यक्ति कई बार कर्म नहीं करने का संकल्प ले लेता है क्योंकि वह कर्म करने योग्य नहीं होता है। कर्म सन्यास और कर्मयोग की जिज्ञासा

से श्रीमद्भगवद्गीता का प्राकट्य हुआ है। कामनाओं से युक्त कर्म बंधनकारी और निष्काम कर्म सुख-दुख से मुक्ति प्रदान करने वाला होता है।

इस मृत्युलोक में जन्म लेने वाला जीव, सुख की प्राप्ति और दुख से मुक्ति की कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है। इस जगत में जीव के बंधन का कारण कामनाएं हैं और यहां जन्म लेने वाले जीव को जीवन भर कर्म करना ही पड़ता है। कर्म से संन्यास लेने का शरीरधारी को इस कर्मभूमि में कोई भी अवसर प्राप्त नहीं है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग का ज्ञान देते हैं। गीता में योग के अधिगम से आशय-कर्मयोग से है, जिसमें निष्काम कर्म करने की कुशलता प्राप्त होती है। इस संसार में मोक्ष प्रदान करने वाला कर्म निष्काम कर्म है।

सभी प्रकार की कामनाओं से मुक्त होकर कर्म करने की कुशलता को योग कहते हैं। समत्व बुद्धि के साथ पुण्य-पाप से मुक्त होकर कर्म करने को योग कहते हैं। सफलता और विफलता में समत्व भाव के साथ स्थिर बुद्धि से अपने कर्तव्य कर्म को करना ही कर्म की कुशलता है, और कर्म करने का यह समत्व भाव ही योग है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के धर्म, अधर्म की कामनाओं के कारण विषादग्रस्त मन से मुक्ति प्रदान करने हेतु श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से कर्मयोग की शिक्षा से योग का अधिगम कराते हैं। मोक्ष की कामना से तपस्या में रत साधकों से इस नश्वर शरीर से क्षणभंगुर संसार तथा शाश्वत, सनातन, आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् कर्म से संन्यास लेने वाले ज्ञानयोगियों से तथा किसी न किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर कर्म करने वाले कर्मयोगियों से, योगी श्रेष्ठ है। इसलिए अर्जुन को योगी बनने का उपदेश करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम का विवेचन करते हुए यौगिक तकनीक का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिसमें अभ्यास एवं वैराग्य से चित्त की चंचलता को दूरकर कर अपने आत्म स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् निष्काम भाव से स्थिर बुद्धि से युक्त होकर कर्म करने की बात की गई है।

प्रस्तुत शोध के सातवें अध्याय में योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा विवेचन एवं यौगिक तकनीक का समन्वयात्मक अध्ययन किया गया है। इन तीनों ग्रंथों में अधिगम से तात्पर्य अपने सत्य, सनातन, आत्मस्वरूप के बोध से है। मनुष्य का जन्म- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के लिए हुआ है। आत्मिक आधार पर विकसित मनुष्य ही अपने जीवन में सुख और शांति को अनुभव कर

सकता है। ऐसा विवेकशील प्राणी जगत, जीव और जीवन की रक्षा करने में सफल हो सकता है। शरीर मन और बुद्धि से विकसित मनुष्य अपने कल्याण के लिए काम कर सकता है, परंतु इस संसार और संसार के अन्य जीवों के लिए अपने जीवन के जैसा ही कर्म करने की कुशलता आत्मिक रूप से विकसित विवेकशील व्यक्ति के अंदर ही हो सकती है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति योग विद्या के अधिगम से होती है।

प्रकृति और पुरुष के संयोग का कारण अविद्या है और अविद्या से युक्त इस संसार में विवेकवान प्राणी यत्र-तत्र-सर्वत्र दुख का ही दर्शन करता है। विवेकशील व्यक्ति संसार में आनंद ढूंढने के बजाय अपने सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा में स्थित होकर आनंद की अनुभूति करता है। योग के अधिगम से चित्त वृत्तियों के निरोध के पश्चात् अपने आत्मस्वरूप का, साधक को ज्ञान होता है। योग के इन ग्रंथों यथा-योगसूत्र योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में विभिन्न प्रकार के अधिगम शैली के माध्यम से तत्त्वज्ञान का अधिगम कराया गया है।

प्रस्तुत शोध के आठवें अध्याय में निरीक्षण एवं निष्कर्ष के साथ शोध प्रबंध को पूर्ण किया गया है।

1.2 अध्ययन का औचित्य

किसी भी कार्य को करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण कारण औचित्य होता है। बिना औचित्य के कोई कार्य नहीं किया जा सकता। अधिगम हमेशा उद्देश्यपूर्ण होता है। जीवन में कोई भी कार्य बिना आवश्यकता के नहीं किया जाता है। कहा भी जाता है कि **आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है**। व्यक्ति जीवन भर किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ सीखता रहता है। शिक्षा मनोविज्ञान में अधिगम को जीवन की एक आवश्यक क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसमें शिक्षण अगर एक साधन है तो अधिगम उसका साध्य है। शिक्षण और अधिगम दोनों का उद्देश्य अधिगमकर्ता के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन लाकर, व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। शैक्षिक उपलब्धि अधिगम का साध्य है। शैक्षिक उपलब्धि और अधिगम शैली के बीच में गहरा अंतर संबंध है।

वर्तमान युग प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा का युग है। इस युग में बने रहने के लिए उच्च आकांक्षा स्तर का होना आवश्यक है। सद्गुणों के विकास के लिए आकांक्षा का स्तर ऊँचा होना चाहिए। मानवीय गुणों का विकास उच्च आकांक्षा स्तर से ही संभव है।

“सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मां कश्चित् दुःखभागभवेत्,”¹

यह घोष उच्च आकांक्षा के स्तर को ही प्रदर्शित करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आकांक्षा का स्तर भी शैक्षिक उपलब्धि से इतर नहीं है। उपलब्धि अभिप्रेरण भी एक मुख्य अभिप्रेरक है, जिसका प्रभाव अधिगमकर्ता पर तीव्रता से पड़ता है। इस प्रकार शिक्षक अथवा गुरु द्वारा अधिगम शैली, आकांक्षा स्तर, उपलब्धि अभिप्रेरण एवं शैक्षिक उपलब्धि के बीच व्याप्त अंतर्संबंध को ध्यान में रखते हुए सफलतापूर्वक शिक्षण कार्य कराया जा सकता है। शोधकर्ता द्वारा यह देखने का प्रयास किया गया है कि अधिगम शैली, आकांक्षा स्तर एवं उपलब्धि अभिप्रेरण का जीवन में अधिगम पर क्या प्रभाव पड़ता है।

1.3 समस्या कथन

प्राचीन भारत के ग्रंथों यथा योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में उद्धृत अधिगम शैलियों से विचलन के कारण वर्तमान अधिगम प्रक्रिया में ईर्ष्या, द्वेष, असंतोष, भेदभाव, हिंसा, प्रतिद्वंद्विता, अशांति इत्यादि विकारों का समावेश होना।

प्रस्तुत अध्ययन में इन विकारों से मुक्ति दिलाने में योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा अधिगम शैली, आकांक्षा स्तर और उपलब्धि अभिप्रेरण किस प्रकार सहायक हो सकते हैं, का प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है।

1.4 शोध के उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

- वर्तमान अधिगम प्रक्रिया के परिपेक्ष्य में योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक-तकनीक का अध्ययन करना।
- वर्तमान अधिगम प्रक्रिया के परिपेक्ष्य में योगवासिष्ठ में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक-तकनीक का अध्ययन करना।
- वर्तमान अधिगम प्रक्रिया के परिपेक्ष्य में श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक-तकनीक का अध्ययन करना।

1.5 शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध अध्ययन की प्रविधि साहित्य सर्वेक्षणात्मक प्रकृति की है, जिसमें शोध हेतु पुस्तकालयों में साहित्य का अध्ययन, विश्लेषण, समीक्षा, संदर्भित ग्रंथों से तथ्यों का

संकलन पत्र-पत्रिकाओं में उपलब्ध शोध सामग्री का संकलन एवं विश्लेषण किया गया है। विश्लेषण हेतु साहित्य विश्लेषण पद्धति, गणनात्मक एवं गुणात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया है।

1.5.1 साहित्य विश्लेषण पद्धति (Taxual Analysis)

वर्तमान समय में शिक्षा का उद्देश्य एक सभ्य मानव समाज का निर्माण करना है, जिसमें मनुष्य मानवता के गुणों से ओतप्रोत हो। मानवीय गुणों के साथ ही मनुष्य इस जगत का सबसे विवेकशील प्राणी होने का दर्जा प्राप्त करता है। विवेक-बुद्धि से ही मनुष्य इस जगत के जीवन में अपने जीवन और अपने जीवन में जगत के जीवन को देखने की संजीवनी दृष्टि को प्राप्त करता है। मनुष्य के निर्माण के लिए धर्मग्रंथों के शिक्षण एवं अधिगम की आवश्यकता है। ईश्वर के अवतार भी मनुष्य को मानवीय गुणों के ज्ञान के साथ ही साथ उसे व्यवहार में अनुशीलन के लिए ही हुए हैं। ईश्वर के साहचर्य से ईश्वरीय गुणों को अपने व्यवहार में धारण कर मनुष्य विवेकवान बनता है और जगत के लिए लोककल्याणकारी प्राणी के रूप में विकसित होता है।

आधुनिक समाज में मनुष्य के विकास के लिए विभिन्न तरीकों का उपयोग किया जाता है, जिससे कि मानव और मानव समाज को सही दिशा दी जा सके और वांछित उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके क्योंकि दिशाविहीन मानव और समाज का कोई औचित्य नहीं होता। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में भी मानवीय गुणों के साथ विकसित मनुष्य के लिए प्राचीन शिक्षण विधियों एवं प्रविधियों का किसी न किसी रूप में प्रयोग होता रहा है। मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए प्राचीन शिक्षण एवं अधिगम प्रक्रिया का सतत् प्रयोग होता रहा है। इन विधियों और प्रविधियों को छोड़कर शायद ही किसी नई प्रक्रिया ने जन्म लिया हो। शोधार्थी का मुख्य उद्देश्य योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में शिक्षण एवं अधिगम प्रक्रिया तथा इन यौगिक ग्रंथों में वर्णित यौगिक प्रविधियों का अध्ययन करना है।

किसी भी शोध अध्ययन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए एक शोध अभिकल्प तैयार किया जाता है, जिससे वांछित उद्देश्य की सिद्धि की जा सके। योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में दुख से मुक्ति और अपने वास्तविक स्वरूप के बोध के लिए जिस तरह का आध्यात्मिक एवं प्रेरणात्मक संचार हुआ है उनके तत्वों का अध्ययन करने के लिए शाब्दिक विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग इस शोध अध्ययन में किया गया है। योग के इन ग्रंथों की व्याख्या विशेषज्ञों, विद्वानों, धर्माचार्यों, वैज्ञानिकों ने अपने ढंग से अलग

अलग तरीके से किया है। योग का साधक एवं एवं शोधार्थी होने के नाते इस अध्ययन के लिए योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता की विषय वस्तु का शोध अध्ययन की गणनात्मक तथा गुणात्मक विधियों का प्रयोग करते हुए शाब्दिक विश्लेषण की शोध प्रविधि से इन यौगिक ग्रंथों का अध्ययन किया गया है।

शोध अनुसंधान विधि में **शाब्दिक विश्लेषण विधि** शोध अध्ययन की एक प्रविधि है, जिसके माध्यम से शोधकर्ता द्वारा लिखित, मुद्रित शोध सामग्री में दिए गए तत्वों का विश्लेषण किया जाता है। शाब्दिक विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य विषय का विवेचन, रूपरेखा, विषय के संदेश, कार्य एवं उसके प्रभावों का विश्लेषण करना है। इस विधि का प्रयोग करते समय शोधकर्ता को विषय वस्तु का चयन सावधानीपूर्वक करना पड़ता है। इस शोध अध्ययन के लिए जिन विषय वस्तुओं का प्रयोग किया जा रहा है उनके दो रूप हो सकते हैं— संबंधित विषय के विशेषज्ञ द्वारा दिया गया संदेश और किसी संदेश की लिखित या मुद्रित प्रतियां। दोनों ही स्थितियों में शाब्दिक विश्लेषण विधि के माध्यम से विषय वस्तु का अध्ययन किया जा सकता है। इस विधि में शोध विषय से संबंधित यौगिक ग्रंथों का अध्ययन किया जा सकता है।

इस शोध अध्ययन में शाब्दिक विश्लेषण के लिए चार प्रकार की विधियों का शोधार्थी द्वारा प्रयोग किया जाएगा— शोध अध्ययन से संबंधित यौगिक ग्रंथों की अंतर्वस्तु का विश्लेषण, शिक्षण के प्रभावों का विश्लेषण, शिक्षण के पश्चात अधिगम के प्रभावों का विश्लेषण और प्रदर्शन का विश्लेषण विधि का प्रयोग किया जाता है। योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक के शोध अध्ययन में शाब्दिक विश्लेषण विधि का प्रयोग किया गया है। महर्षि पतंजलि द्वारा विरचित योगसूत्र, महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित योगवासिष्ठ एवं महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, अधिगम कौशल, अधिगम प्रक्रिया एवं उसका जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन एक जीवंत प्राचीन एवं अर्वाचीन कृति है। योगसूत्र में वर्णित एक सौ पिंछानवे सूत्र, योगवासिष्ठ में वर्णित बत्तीस हजार श्लोक एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित सात सौ श्लोक संवाद रूप में संकलित हैं। यह संवाद श्लोकों के रूप में पद्य एवं गद्य के रूप में संकलित है। शोध अध्ययन में गुणात्मक एवं गणनात्मक विश्लेषण पद्धति का समावेश किया गया है।

योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता प्रेरणात्मक एवं प्रभावात्मक संचार के प्रामाणिक एवं यथार्थ ग्रंथ हैं, जिनके माध्यम से जीवन के किसी भी दुविधा में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी समस्याओं का समाधान किसी न किसी रूप में प्राप्त कर लेता है। शोधकर्ता की दृष्टि में इन ग्रंथों के शिक्षण और अधिगम से मनुष्य जीवन के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। इन ग्रंथों में अधिगम की अवधारणा, अधिगम कौशल, अधिगम प्रक्रिया, अभिप्रेरण, साहचर्य आदि का बारीकी से अध्ययन किया गया है, जिससे कि वर्तमान समय में व्याप्त शिक्षण एवं अधिगम प्रक्रिया को प्रभावशाली एवं सुसंगत बनाने में सहयोग प्राप्त हो सके। शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना है। शिक्षण रूपी साधन के माध्यम से अधिगम रूपी साध्य की प्राप्ति होती है, जिसके पश्चात ज्ञान के साथ ही साथ व्यक्ति के व्यवहार में भी अपेक्षाकृत स्थाई परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को ही अधिगम कहा जाता है, जो किसी भी प्रकार की शिक्षा एवं शिक्षण का उद्देश्य है।

अधिगम जीवन में चलने वाली एक सतत् प्रक्रिया है, जिसके अंतर्गत व्यक्ति किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ सीखता रहता है। इस प्रकार अधिगम बहु-अनुशासनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें भाषा, साहित्य, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान, मानव शास्त्र, गणित, ज्योतिष, नक्षत्र विज्ञान, धर्मशास्त्र आदि विषयों का प्रभाव व्यक्ति के जीवन में किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी लक्ष्य की सिद्धि आवश्यक है। मनुष्य के व्यक्तित्व का चतुर्दिक विकास पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के पश्चात् ही संभव है। शोध अध्ययन में योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अधिगम की अवधारणा, अधिगम और साहचर्य, अभिप्रेरण, अधिगम की प्रक्रिया, अधिगम कौशल आदि का अध्ययन कर व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना, स्वस्थ एवं सभ्य समाज का निर्माण करना शोध का उद्देश्य है।

1.5.2 गणनात्मक एवं गुणात्मक दृष्टिकोण

गणनात्मक एवं गुणात्मक विश्लेषण को वर्तमान समय में विशेष महत्व दिया जा रहा है। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में गणनात्मक विश्लेषण की प्रवृत्ति यूरोपीय समाज में सशक्त है। शाब्दिक एवं आध्यात्मिक संचार के क्षेत्र में गुणात्मक विश्लेषण पद्धति को स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में मुख्य शोध विधि के साथ ही साथ अनुपूरक विधि के रूप में गुणात्मक तरीकों का प्रयोग किया गया है। गुणात्मक विश्लेषण पद्धति का प्रयोग उन शोध अध्ययन में किया जाता है जहां पर आंकड़ों का महत्वपूर्ण स्थान नहीं होता है।

मानवीय व्यवहार से संबंधित शोध अध्ययन के लिए पूर्व में गुणात्मक विश्लेषण पद्धति का ही अध्ययन किया जाता था। मनुष्य एवं मानवतावादी अनुसंधान में गुणात्मक विश्लेषण पद्धति का प्रयोग प्राचीन समय से होता रहा है, जिसमें विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों का विश्लेषण एवं व्याख्या की जाती है।

सामान्यतया शास्त्रों के पठन-पाठन में विश्लेषण एवं व्याख्या की प्रवृत्ति का ही संज्ञान होता है, जिसमें एकत्रित शोध सामग्री की व्याख्या एवं संकलित आंकड़ों का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में शोधकर्ता की व्याख्यात्मक शैली शोध का प्राथमिक साधन है। योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अधिगम से संबंधित आवश्यक तत्व का अर्थ संदर्भ के साथ प्रस्तुत किया गया है। गुणात्मक अनुसंधान पद्धति में शोध के लिए चयनित विषय की अनिवार्य रूप से व्याख्या की जाती है और यह व्याख्या आत्मपरक एवं व्यक्तिनिष्ठ प्रवृत्ति की होती है। प्रस्तुत शोध अध्ययन विषय का आलोचनात्मक अध्ययन न होकर अंतर्वस्तु का गुणात्मक विश्लेषण है।

1.6 शोध से संबंधित प्रश्न

- वर्तमान अधिगम प्रक्रिया तथा योगसूत्र, योगवासिष्ठ व श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा एवं यौगिक-तकनीक में कोई सार्थक अंतर है।
- प्राचीन भारत के ग्रंथों यथा योगसूत्र, योगवासिष्ठ व श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा एवं यौगिक-तकनीक में कोई सार्थक अंतर अथवा समानताएं हैं।

1.7 शोध समस्या के चर

स्वतंत्र चर

- अधिगम की अवधारणा, यौगिक-तकनीक, अधिगम शैली, आकांक्षा स्तर, उपलब्धि अभिप्रेरण

परतंत्र चर

- शैक्षिक उपलब्धि

1.8 चरों का परिभाषीकरण

1.8.1 अधिगम शैली

अधिगम शैली वह मार्ग है जिसके द्वारा अधिगम किया जाता है। अधिगम से आशय व्यवहार में परिवर्तन से है। व्यवहार में होने वाले उन परिवर्तनों को अधिगम के रूप में स्वीकार किया जाता है, जो अभ्यास एवं अनुभूति के माध्यम से होते हैं तथा अपेक्षाकृत

स्थाई होते हैं। इस प्रकार अधिगम का अर्थ सीखना और शैली का अर्थ सीखने का तरीका है। अधिगम शैली अधिगमकर्ता के सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। सीखने के दौरान शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं परिस्थितियों का प्रभाव अधिगमकर्ता पर पड़ता है। यह प्रभाव उसके सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। ऐसी स्थिति में कोई देखकर, सुनकर, अच्छा व्यवहार करके, चर्चा करके आदि तरीकों से सीखता है।

सीखने वाले की मनःस्थिति और परिस्थिति का प्रभाव उसकी सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। ऐसे में अधिगमकर्ता सीखने की कुछ विशेष विधियों को वरीयता देता है। सीखने की विधियां मिलकर उसकी अधिगम शैली बन जाती है। अधिगम की शैली शिक्षक या गुरु को विशेष विधि से शिक्षण कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।

सीगल और कूप के अनुसार “अधिगम शैली एक ऐसा समन्वित संप्रत्यय है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं संज्ञानात्मक आयाम को जोड़ता है।”²

लेकॉक के अनुसार “अधिगम शैली अनुदेशनात्मक वातावरण में निश्चित चरों के प्रति प्रतिक्रिया का वैयक्तिक विशिष्ट तरीका है।”³

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर अधिगम शैली के संबंध में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत विभिन्नताओं के आधार पर अधिगमकर्ता की अपनी-अपनी अधिगम शैली होती है। अधिगम शैली अधिगम का वह मार्ग है, जिसके द्वारा सीखने वाला सर्वोत्तम तरीके से सीखता है।

1.8.2 आकांक्षा स्तर

आकांक्षा स्तर से तात्पर्य अधिगमकर्ता की शैक्षिक निष्पादन हेतु निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने की प्रत्याशा से है। **ड्रेवर जे., गुप्ता एस.पी. (1996)** उल्लेखित अनुसार:— “आकांक्षा स्तर ही मनुष्य को जीवन में सतत् प्रयास के लिये प्रेरित करता है। आकांक्षा स्तर के कारण ही आज मनुष्य जंगली एवं असभ्य जीवन को त्यागकर सुसभ्य एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण कर सका है। अपनी आकांक्षा के कारण ही आज मनुष्य समस्त जीवधारी प्राणियों का सिरमौर बन सका है।”⁴

मनुष्य के विकास में आकांक्षा स्तर का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अपने जीवन के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रत्याशा मानव के विकास को प्रभावित करते हैं। अधिगमकर्ता की शैक्षिक उपलब्धि उसके आकांक्षा स्तर से प्रभावित होती है। यह अधिगमकर्ता का व्यक्तिगत अभिप्रेरण है। अपने पूर्व की उपलब्धि के आधार पर सामान्य

व्यक्ति अपने आकांक्षा स्तर का निर्धारण करता है। सामान्यतया व्यक्ति अपना आकांक्षा स्तर अपनी पूर्व की उपलब्धि के स्तर से अपेक्षाकृत ऊंचा रखता है। जब व्यक्ति को अपने आकांक्षा स्तर की प्राप्ति हो जाती है तो अगली बार वह अपने आकांक्षा स्तर को और ऊंचा करना चाहता है। यह प्रवृत्ति सामान्यतया हर व्यक्ति में देखी जाती है। अपनी पूर्व की उपलब्धियों के आधार पर व्यक्ति अपने आकांक्षा स्तर को धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।

1.8.3 उपलब्धि अभिप्रेरण

उपलब्धि अभिप्रेरणा से आशय एक ऐसे अभिप्रेरण से है, जिससे प्रेरित होकर अधिगमकर्ता अपने कार्य इस ढंग से करता है कि उसे अधिक से अधिक सफलता प्राप्त हो सके। उपलब्धि अभिप्रेरण से व्यक्ति के व्यवहार में तीव्रता, निरंतरता एवं अपेक्षित दिशा का समावेश होता है।

रिली और लेविस ने उपलब्धि अभिप्रेरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि “किसी चीज को अपने से करने, उसे अच्छे ढंग से करने तथा उसमें विशिष्टता दिखाने की स्वीकारात्मक इच्छा को उपलब्धि अभिप्रेरण कहा जाता है।”⁵

उपलब्धि अभिप्रेरण की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि इसमें निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं—

- उपलब्धि अभिप्रेरण से सीखने वाले में दायित्व बोध विकसित होता है। उसमें अपनी असफलता का दायित्व स्वयं पर लेने की प्रवृत्ति विकसित होती है। साथ ही साथ दूसरों को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति से मुक्ति मिलती है।
- उपलब्धि अभिप्रेरण से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सीखने वाले को प्रयास करने के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है।
- सीखने वाले में उच्च उपलब्धि अभिप्रेरण से निश्चित सफलता दिलाने वाले तथा साधारण कठिनाई वाले कार्यों को करने की प्रवृत्ति विकसित होती है।
- उपलब्धि अभिप्रेरण के माध्यम से परिणामों पर अधिक नियंत्रण करने वाले कार्यों की पहचान करने एवं उन पर काम करने की शक्ति प्राप्त होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उपलब्धि अभिप्रेरण एक सामाजिक प्रत्यय है। यह सीखने वाले में जन्मजात नहीं वरन अर्जित किया जाता है। किसी भी क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए उपलब्धि अभिप्रेरण से प्रेरित होकर व्यक्ति सक्रियता के साथ कार्य करता है।

1.8.4 शैक्षिक उपलब्धि

शैक्षिक उपलब्धि से तात्पर्य जीवन में प्राप्त शिक्षा की परीक्षा है। ज्ञान की परीक्षा अधिगमकर्ता के व्यवहार में परिलक्षित होनी चाहिए। क्योंकि अधिगम अभ्यास एवं अनुभूति से होने वाले व्यवहार परिवर्तन का नाम है। अधिगमकर्ता का मूल्यांकन उसकी शैक्षिक उपलब्धि के आधार पर किया जाता है। योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में शैक्षिक उपलब्धि से तात्पर्य व्यवहार में हुए परिवर्तन से है। ज्ञान का जब अधिगम होता है तब व्यवहार बदल जाता है। जीवन की सफलता, असफलता का मूल्यांकन उपलब्ध ज्ञान और व्यवहार के संतुलन के आधार पर ही संभव है। अधिगमकर्ता सफल है या असफल इसका मूल्यांकन उसकी शैक्षिक उपलब्धि के आधार पर किया जाता है।

1.9 अध्ययन की सीमाएं

संसाधनों की सीमितता एवं उपलब्ध साहित्यों एवं विषय की व्यापकता को दृष्टिगत रखते हुए शोधार्थी द्वारा प्रस्तुत शोध अध्ययन में योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक अधिगम प्रक्रिया का ही अध्ययन किया जा सका है।

1.10 शोध अध्ययन की उपयोगिता एवं महत्व

योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता के शिक्षण एवं अधिगम से वर्तमान समय में मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। योग के इन ग्रंथों में संपूर्ण विश्व के लिए शांति, सद्भावना, सामाजिक समरसता, विश्व बंधुत्व की भावना, भय एवं संघर्ष मुक्त समाज की स्थापना, ज्ञान और कर्म की अनूठी प्रेरणा है। अविद्या के कारण मनुष्य दुखी होता है और दुख से मुक्त होने के लिए जीवन भर प्रयास करता रहता है। दुख से मुक्ति के साधनों का विस्तार से वर्णन इन ग्रंथों में प्राप्त होता है।

वर्तमान समय में निराशा, चिंता, शोक, मोह, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मद, विषाद आदि मानसिक विकारों से मनुष्य एवं समाज किसी न किसी रूप में ग्रसित होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में इन ग्रंथों की उपादेयता आज भी उतनी ही है जितनी कि प्राचीन समय में थी। विज्ञान एवं तकनीकी के इस युग में जहां भौतिक सुख के साधनों का विकास हुआ है वहीं मनुष्य मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक रूप से असंतुलित हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप चिंता, शोक, तनाव, विषाद, उदासी, निराशा, हताशा इत्यादि प्रवृत्तियां मनुष्य

के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में बढ़ती जा रही हैं। हर क्षण किसी न किसी रूप में मनुष्य बेबस, लाचार, अकेला और असहाय महसूस कर रहा है। अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह किए बिना ही व्यक्ति अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए तत्पर रहता है, जबकि अधिकार का जन्म कर्तव्य के पालन से ही होता है। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों एवं चरित्र का पतन तेजी से हो रहा है, जो मानव एवं मानवीय समाज के लिये चिंताजनक है। मानवीय मर्यादा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। अनीति, अराजकता, अशांति, भय, हिंसा, असंतोष आदि की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इन सभी समस्याओं का समाधान योग के इन ग्रंथों के शिक्षण एवं अधिगम से संभव है।

योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता के शिक्षण का उद्देश्य ज्ञान के साथ कर्म की प्रेरणा देना है। ज्ञान के बिना कर्म और कर्म के बिना ज्ञान का कोई महत्व नहीं होता है। ज्ञान और कर्म के योग से ही मनुष्य के जीवन में संतुलन स्थापित हो सकता है। आधुनिक समय में व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की किसी भी समस्या का समाधान ज्ञानयुक्त कर्म से हो सकता है। यह संसार कर्मभूमि है, जहां कर्म के बिना एक पल भी रहा नहीं जा सकता है। अज्ञानता के साथ किया जाने वाला कर्म दुख का कारण बनता है और ज्ञान के साथ किया जाने वाला निष्काम कर्म मोक्ष का कारण बनता है। मोक्ष, मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् ही मानव जीवन की सिद्धि होती है। ज्ञान और कर्म के योग से ही मोक्ष मिलता है। योग के इन ग्रंथों के शिक्षण एवं अधिगम से इस अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:-

1. ईशादि नौ उपनिषद शंकराचार्य भाष्यार्थ सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण-2066
2. आर.ई.सीगल एवं आर.एच. कूप (1974), कोग्नीटीव स्टाइल एंड क्लास रूम प्रैक्टिस इन साइकोलॉजी कांसेप्ट इन द क्लास रूम. आर.एच. कूप एंड के. व्हाइट (एडी.), न्यूयार्क: हार्पर एंड रो, -53
3. लीकाक, के. (1978) एसेसिंग लर्निंग करैक्टरेस्टिक्स. इन रोबर्ट एम. एंडरसन. जॉन जी. ग्रीर एंड सेरी जे. ओडली(इड्स) इंडिविजुअलाइजिंग एजुकेशनल मटेरियल फॉर स्पेशल चिल्ड्रेन द मेन स्ट्रीम, बाल्टीमोर. यूनिवर्सिटी लार्क प्रेस, 29
4. ड्रेवर जे., गुप्ता एस.पी. (1996) उल्लेखित, आधुनिक मनोविज्ञान, पृष्ठ 41-
5. रिले पी., लेविस आर. एवं वांग बी. (2012) इन्वेस्टिगेटिंग टीचर्स एक्सप्लेनेशन फॉर एग्रेसिव क्लासरूम डिसिप्लिन स्ट्रेटेजीज इन चाइना एंड ऑस्ट्रेलिया. एजुकेशनल साइकोलॉजी, 32(3), 389-403- डीओआई 10-1080 / 01443410-2012-662151-1

अध्याय—2

साहित्य का पुनरावलोकन

डॉ. ब्रह्म प्रकाश (2009)¹ इनके द्वारा लिखी पुस्तक **बाल मनोविज्ञान** में अधिगम और अभिप्रेरणा के बारे में विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया। अभिप्रेरणा को सीखने का हृदय कहा गया है। मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने और जीवन में सफलता की प्राप्ति में अभिप्रेरणा का महत्वपूर्ण योगदान है। व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आंतरिक उत्तेजनाओं के आधार पर होता है। कोई भी प्रतिक्रिया उत्तेजना के अभाव में संभव नहीं है। अभिप्रेरणा एक आंतरिक शक्ति है, जो मनुष्य को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। यह शक्ति अदृश्य होती है, जो आसानी से दिखाई नहीं देती, परंतु व्यवहार में परिवर्तन का महत्वपूर्ण कारण होती है। अधिगम व्यवहारगत बदलाव है।

ब्रज कुमार मिश्र (2010)² इनके द्वारा लिखित पुस्तक **मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन** में अधिगम की प्रक्रिया व्यक्ति के जन्म के तुरंत बाद से ही प्रारंभ हो जाती है और जीवनपर्यंत चलती रहती है। व्यक्ति में जन्म के बाद ही कुछ विशेष कार्य क्षमताएं विद्यमान रहती हैं, जिसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न तरह की अनुक्रियाओं को करने में समर्थ होता है।

डॉ. जानकी मुरजानी एवं डॉ. मीना जैन (2007)³ द्वारा लिखित पुस्तक **सामान्य मनोविज्ञान** में कहा गया है कि मनुष्य के जीवन में सीखने के द्वारा ही किसी भी प्रकार की क्रिया का प्रारंभ होता है। मनुष्य में यह सीखना जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत पाया जाता है।

अजीमुर्रहमान (1978)⁴ द्वारा लिखित पुस्तक **सामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या** में अधिगम और साहचर्य के संबंध में विशद वर्णन किया गया है। अभ्यास के परिणामस्वरूप होने वाले अपेक्षाकृत स्थाई व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहा जाता है। अभ्यास करके व्यक्ति नए व्यवहार को सीखता है तथा पुराने व्यवहार से छुटकारा प्राप्त करता है, यह दोनों क्रियाएं अधिगम के अंतर्गत ही आती हैं।

विलियम जेम्स (1890)⁵ की प्रसिद्ध पुस्तक **प्रिंसिपल ऑफ साइकोलॉजी** में अधिगम के स्थान पर अनुभव के स्मरण का वर्णन किया गया है तथा स्मरण का कारण साहचर्य

को माना गया है। अधिगम और साहचर्य के बीच अभिन्न संबंध है। साहचर्य अधिगम के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि स्मरण के लिए।

एस.एन. दासगुप्ता (1996)⁶ इनके द्वारा लिखित ग्रंथ **योगा फिलासफी** में महर्षि पतंजलि द्वारा विरचित योगसूत्र में वर्णित योग, चित्त, चित्त की वृत्तियां तथा चित वृत्तियों के निरोध के साधन और योगांगों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

डॉ. सीताराम जायसवाल (2004)⁷ इनके द्वारा लिखित पुस्तक **भारतीय मनोविज्ञान और शिक्षा** में वर्णन है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान बहिर्मुखी भाव के साथ अधिगम प्रक्रिया को विकसित करता है। जिसके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक संस्कृति का प्रादुर्भाव होता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य के जीवन से जुड़े अनेक प्रश्नों के समाधान के साथ ही साथ अनेक समस्याओं का भी जन्म होता है। भारतीय मनोविज्ञान में मनुष्य के आंतरिक विकास अर्थात् आत्मिक विकास के लिए अधिगम प्रक्रिया पर विशेष रूप से जोड़ दिया गया है।

श्री अरविंद (1967)⁸ द्वारा लिखित **भागवत मुहूर्त** में मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान कहा गया है। यहां चेतना को पाश्चात्य मनोविज्ञान से व्यापक अर्थों में वर्णित किया गया है। हमारे चारों ओर व्याप्त एक विश्व चेतना है, जिसके हम सभी अंश हैं। हमारा मन विश्वव्यापी मन की ही एक रचना है। श्री अरविंद के द्वारा मनोविज्ञान के संबंध में जो कुछ भी लिखा गया है वह भारतीय मनोविज्ञान का ही एक प्रकार से परिचय है।

डॉ. संपूर्णानंद (1965)⁹ द्वारा लिखित **योगदर्शन** में चित्त और शरीर को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से संयुक्त माना गया है। किसी में सतोगुण, किसी में रजोगुण और किसी में तमोगुण की अधिकता के कारण जीवन में गुणों के अनुसार क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। सजातीय गुण एक दूसरे को प्रभावित तथा एक दूसरे से आकर्षित होने का कारण बनते हैं। इसको सिद्धांत मान लेने के आधार पर मनोविज्ञान की बहुत सारी पहेलियां सुलझ जाती हैं।

स्वामी अक्षय आत्मानंद (1981)¹⁰ द्वारा लिखित साहित्य **योग के चमत्कार** में प्राणी जगत में सात प्रकार के शरीरों का वर्णन किया गया है। जो क्रमशः इस प्रकार हैं— पंच भौतिक शरीर, भाव या आकाशीय शरीर, सूक्ष्म शरीर, मानस शरीर, आत्मिक शरीर, ब्रह्म शरीर और निर्वाण शरीर। निर्वाण शरीर में प्रवेश करते ही मैं, तू, अहम्, ब्रह्म, सब खो जाता है। यहां आध्यात्मिक यात्रा का अंत हो जाता है।

श्री अरविंद (1969)¹¹ अपनी पुस्तक योग समन्वय के पूर्वार्ध में उपनिषद की दार्शनिक परंपरा में शरीर के पांच कोषों का जो वर्णन हुआ है, उसी के आधार पर व्यक्तित्व के पांच सोपानों का वर्णन करते हैं। जो क्रमशः इस प्रकार है— अन्नमय पुरुष, प्राणमय पुरुष, मनोमय पुरुष, विज्ञानमय पुरुष और आनंदमय पुरुष। पुरुष को यहां मानवीय व्यक्तित्व के यह पाँच सोपानों के रूप में वर्णित किया गया है।

वेंकटेश्वर शर्मा (1975)¹² द्वारा लिखित पुस्तक अध्यात्म योग और चित्त विकलन में तीन तरह की मनोवृत्तियों का वर्णन है— ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इन तीन मनोवृत्तियों में ज्ञानात्मक वृत्ति प्रधान मनोवृत्ति है। अन्य सभी मनोवृत्तियाँ इसके अंतर्गत समाहित होती हैं।

हरिकृष्णदास गोयंका (संवत् 2072)¹³ द्वारा अनुवादित पुस्तक योगदर्शन में चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। संसार में मन का भटकाव तब तक दूर नहीं होगा जब तक कि चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध नहीं होंगी। चित्त में असंख्य वृत्तियाँ होती हैं। योगसूत्र के समाधि पाद में योग का अर्थ, द्रष्टा का स्वरूप, पांच प्रकार की वृत्तियों एवं उनके लक्षण का वर्णन करने के साथ ही साथ समाधि के लक्षणों एवं प्रकारों का वर्णन किया गया है। ईश्वरप्रणिधान से योग के विघ्नों का अभाव एवं अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। वास्तविक स्वरूप से आशय द्रष्टाका अपने स्वरूप में स्थित होना है, जो चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात होता है। योग के अधिगम का परम लक्ष्य द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होना ही है। योगसूत्र के साधन पाद में अविद्या से जन्म लेने वाले मानसिक क्लेशों को दुख का कारण माना गया है। दुख से मुक्ति के लिए क्लेश का मूल कारण अविद्या का नाश कर, योग विद्या से विवेक ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधक को अष्टांग योग के साधनों का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए। विभूतिपाद में धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया गया है तथा इसी पाद में अनेकों प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है, जिसके प्रलोभन में योग के साधक को नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि साधना में यह सिद्धियाँ बाधक की भूमिका निभाती हैं। योगसूत्र के कैवल्यपाद में चित्त के स्वरूप का वर्णन के साथ ही साथ कैवल्य की स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

अभिलाष दास (2007)¹⁴ द्वारा लिखित पुस्तक महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य में योगसूत्र का प्रथम सूत्र *अथ योगानुशासनम्* का अर्थ— परंपरा से प्राप्त योग का शिक्षण है। इस शास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संबंध को तोड़ना योग है। राजा भोज ने महर्षि पतंजलि के योग दर्शन की जयकार करते हुए कहा है कि धन्य है पतंजल

मुनि, जिन्होंने प्रकृति और पुरुष के वियोग को योग कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने दुख के संयोग के वियोग को योग कहा है। द्रष्टाका दृश्य से वियोग ही योग है। योग के शिक्षण का मुख्य उद्देश्य अंतरात्मा का अधिगम है। **समाधि पाद के उनतीसवें सूत्र में अधिगम** शब्द आया है, जिसका अर्थ है अपने चेतन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना। चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् योग घटित होता है, जिसके उपरांत अपने चेतन स्वरूप का अधिगम होता है।

स्वामी ओमानंद तीर्थ (संवत् 2069)¹⁵ द्वारा लिखित पुस्तक **पातंजलयोगप्रदीप** में वर्णित है कि दर्शनों का यथार्थ ज्ञान योग के द्वारा ही संभव है। इसके बिना शाब्दिक ज्ञान बुद्धि का व्यायाम बन कर रह जाता है। योग का उद्देश्य प्रकृति से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप अर्थात् द्रष्टाका स्वरूप बोध है। इस बोध के पश्चात् ही दुख से पूर्ण रूपेण निवृत्ति मिल सकती है। जगत में कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणी दुख से निवृत्त होने के लिए प्रयास करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि दुख प्राणियों का स्वाभाविक धर्म नहीं है, तो दुख का स्वरूप क्या है? यह आता कहां से है? और दुःख का अभाव किस अवस्था में होता है? एवं उस अवस्था की प्राप्ति का साधन क्या है? इन प्रश्नों का समाधान ही दर्शन का मुख्य विषय है।

पातंजल योग दर्शन का मुख्य विषय— योग है, जिसका प्रयोजन स्वरूप स्थिति अर्थात् आत्म स्थिति की प्राप्ति है। इस ग्रंथ में योग को साधन के रूप में और स्वरूप स्थिति को साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ईश्वरचिंतन से जीव के वास्तविक स्वरूप के अधिगम के साथ ही साथ योग के विघ्नों का भी अंत होता है। चित्त की वृत्तियों के साथ ही साथ योग के विघ्न भी होते हैं, जो योग की सिद्धि में बाधक होते हैं। इसलिए इन्हें योग का प्रतिपक्षी भी कहा जाता है। योग चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् घटित होता है, जिसमें द्रष्टा को अपने स्वरूप में स्थित होने का बोध होता है।

पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य, माता भगवती देवी शर्मा (2011)¹⁶ द्वारा लिखित पुस्तक **सांख्य एवं योगदर्शन** में योग से तात्पर्य समाधि की अवस्था को प्राप्त करना है। अष्टांगयोग में समाधि आठवां अंग है, जिसको प्राप्त करना योग का परम लक्ष्य है। योग शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर विचार करने से योग के दो अर्थों का ज्ञान होता है— प्रथम आत्मा और परमात्मा का मिलन, दूसरे शब्दों में अद्वैत की अनुभूति को योग कहते हैं तथा दूसरे

अर्थों में अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से चित्तवृत्तियों की निवृत्ति के पश्चात अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होना योग है।

मनुष्य अपने जीवन में दुख से निवृत्ति के लिए अपनी रुचि एवं पात्रता के अनुसार जप, तप, उपासना, भक्ति आदि साधनों का प्रयोग करता है, परंतु सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा के द्वारा ही अपने आत्म स्वरूप का बोध होता है। योगदर्शन मात्र विचारात्मक और सैद्धांतिक ग्रंथ न होकर पूर्ण रूप से व्यावहारिक एवं क्रियात्मक ग्रंथ है। मनुष्य के जीवन में दुख, दुख के कारण और दुखों से निवृत्ति का मार्ग खोजने में सांख्य एवं योगदर्शन मार्ग दिखाते हैं। योग दर्शन में वर्णित अष्टांग योग की उपादेयता मात्र योगियों के लिए ही नहीं, वरन समस्त मानव समाज के लिए है। इन योगांगों का पालन कर वर्तमान समय में व्याप्त वैमनस्यता को दूर कर आपसी भाईचारा एवं विश्व बंधुत्व के भाव से मानव समाज में विकसित किया जा सकता है। योगसूत्र के साधनपाद में देश, काल, जाति आदि की सीमा से परे होकर इन साधनों का अनुष्ठान करने से लोक का कल्याण किया जा सकता है।

चंद्रधर शर्मा (2013)¹⁷ द्वारा लिखित पुस्तक **भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन** में योग शब्द की व्युत्पत्ति युज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ समाधि से लिया गया है। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है और यह निरोध समाधि में होता है। इसलिए योग को समाधि भी कहते हैं। योग में मन, बुद्धि और अहंकार के मेल को ही चित्त कहते हैं। चित्त जड़ है परंतु पुरुष के चैतन्य स्वरूप से प्रकाशित होने के कारण चेतन जैसा प्रतीत होता है। यह चित्त इस जगत में शुद्ध चैतन्य स्वरूप द्रष्टा को अभिव्यक्त करने का एक माध्यम है।

पंडित श्री कृष्ण पंत शास्त्री (2016)¹⁸ द्वारा लिखित पुस्तक **योगवासिष्ठ महारामायण** में वर्णन है कि जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की कामना होती है, उसके ऊपर ही शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। गुरु के द्वारा शिक्षा देने के पश्चात् भी उस व्यक्ति में अधिगम की कोई संभावना नहीं होती, जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा नहीं हो। बिना इच्छा के ज्ञान देने का प्रयास करना सुअर के आगे हीरा बिखेरने जैसा ही है। जिसमें ज्ञान की पिपासा नहीं हो, उसे उच्च कोटि का ज्ञान नहीं देना चाहिए। जिसमें ज्ञान प्राप्ति की इच्छा होती है वह कहीं से भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जिज्ञासु के पास स्वयं गुरु उसे खोजता हुआ पहुंचता है। गुरु योग्य शिष्य को खोजता रहता है। श्रीराम जी में तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा को देखने

के पश्चात् महर्षि वसिष्ठ ने उन्हें योग्य शिष्य समझ कर सृष्टि के रहस्यों तथा तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया। तत्त्व ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् श्री राम को आत्मबोध की प्राप्ति हुई। उसके पश्चात् जीवन मुक्त होकर उन्होंने अपने कर्तव्य कर्म का पालन किया।

संक्षिप्त योगवासिष्ठ (संवत् 2073)¹⁹ गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित ग्रंथ में बंधन, मोक्ष, जीव, जगत, जगदीश, आत्मा, परमात्मा आदि विषयों का सरल एवं सुबोध ढंग से कथानकों और द्रष्टांतों के माध्यम से वर्णन किया गया है। योगवासिष्ठ ग्रंथ तत्त्व ज्ञान के जिज्ञासु के लिए विश्व साहित्य में एक सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। योगवासिष्ठ मूलतः एक ब्रह्मवादी ग्रंथ है, जिसके अनुसार एक ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता नहीं है। इसलिए अद्वैत परंपरा का यह सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। अविद्या से जन्म लेने वाले अहंकार का नाश होते ही चौतन्य ब्रह्म का बोध होता है। ब्रह्म तत्त्व का निरूपण, विभिन्न कथाओं, आख्यानों और इतिहास के माध्यम से इस ग्रंथ में किया गया है।

श्री नंदलाल दशोरा (2010)²⁰ द्वारा लिखित पुस्तक **योगवासिष्ठ महारामायण** में वर्णन है कि ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है। योगवासिष्ठ ग्रंथ के माध्यम से सबसे पहले ज्ञान की प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति संभव है। भारतीय ज्ञान परंपरा के संपूर्ण वेदांत साहित्य में योगवासिष्ठ शिरोमणि ग्रंथ है। ज्ञान के जिज्ञासु को शम, दम, तितिक्षा आदि गुणों के द्वारा मन को शुद्ध करना चाहिए। मन की शुद्धि के पश्चात् सब कुछ ब्रह्म ही है, इसका ज्ञान सहज एवं स्वाभाविक रूप से हो जाता है। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त को एकाग्र एवं स्थिर किया जाता है। वैराग्य से तात्पर्य वासना के पूर्ण त्याग अर्थात् वासना रहित जीवन से है। वासना से मुक्त होने के पश्चात् ही मनुष्य का अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण होता है।

श्री हरिकृष्णदास गोयंका (संवत् 2073)²¹ द्वारा अनुवादित पुस्तक **श्रीमद्भगवद्गीता शंकरभाष्य** में धर्म का आधार वेद को माना गया है। वेद दो भागों में वर्णित है— मंत्र और ब्राम्हण। ब्राम्हण भाग में यज्ञादि, कर्मकांड और आरण्यक या ज्ञान कांड का वर्णन मिलता मिलता है। वेदों के अंतिम उपदेश को वेदांत कहा जाता है। वेदांत के तीन प्रस्थान हैं— श्रोत प्रस्थान के अंतर्गत उपनिषद्, स्मार्त प्रस्थान के अंतर्गत गीता और दार्शनिक प्रस्थान के अंतर्गत ब्रह्मसूत्र का वर्णन मिलता है। इस प्रस्थानत्रयी के आधार पर समस्त वेदांत—साहित्य का वर्णन किया गया है। चित्त की शुद्धि के लिए मनुष्य को निष्काम भाव से अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह करना चाहिए। फल की आकांक्षा से मुक्त कर्म ही चित्त को शुद्ध करने में

सहायक हो सकता है। चित्त की शुद्धि के बिना जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हो सकती और जिज्ञासा के बिना मोक्ष की कामना असंभव है।

पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष परम पुरुषार्थ है, जिसकी प्राप्ति विवेक के उदय होने के पश्चात ही होती है। विवेक से तात्पर्य— नित्य और अनित्य वस्तु के भेद को वास्तविकता से समझने के साथ ही साथ आत्मा के पृथक् एवं नित्य होने का बोध है। विवेक का उदय सांसारिक और पारलौकिक सुखों एवं उनके भोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने से होता है। अनित्य वस्तुओं में वैराग्य का उत्पन्न होना ही मोक्ष का प्रथम कारण है। इस प्रकार मोक्ष का कारण विवेक से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता का ज्ञान ही मोक्ष है। अज्ञानता के कारण ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ है और विवेक ज्ञान ही अज्ञानता के नाश का मूल कारण है।

वेद में धर्म दो रूपों में वर्णित है— प्रथम— प्रवृत्ति रूप और दूसरा— निवृत्ति रूप। शोक और मोह के सागर में डूबे हुए अर्जुन को इससे मुक्त होने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने दोनों ही प्रकार के वैदिक धर्म का उपदेश किया है। इन उपदेशों को श्रीमद्भगवद्गीता नाम के ग्रंथ में सात सौ श्लोकों के रूप में महर्षि व्यास जी ने संकलित किया है। यह गीता शास्त्र वेदार्थ का सार संग्रह है। इस शास्त्र का प्रयोजन मनुष्य तथा मानव समाज का परम कल्याण करना है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2012)²² द्वारा लिखित पुस्तक **भगवद्गीता** में गीता को एक लोकप्रिय काव्य के रूप में स्वीकार किया गया है, जो उन लोगों की सहायता करता है जो विभिन्न परिवर्तनशील वस्तुओं में भटकते रहते हैं। यह ग्रंथ मनुष्य जीवन के संघर्ष, विफलता और विजय को वास्तविकता के धरातल पर अत्यंत गहराई के साथ स्पर्श करता है। इस संसार को बनाए रखने के लिए जीवन के अर्थ एवं मूल्यों के संदर्भ में गीता शास्त्र द्वारा दिए गए सुझाव आदरणीय एवं परम आवश्यक है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए शुद्ध अंतःकरण से मन के समस्त विक्षेपों को दूर करना होगा, तत्पश्चात ज्ञान की प्राप्ति के परिणामस्वरूप जीवन में नवीनता का बोध होगा। गीता के प्रारंभिक भाग में मनुष्य के जीवन में कर्म की समस्याओं से संबंधित प्रश्न खड़े किए गए हैं और इसके समाधान के रूप में आत्मविद्या का अधिगम कराया गया है। गीता सत्य का दर्शन कराने वाला एक प्रभावपूर्ण ग्रंथ है।

स्वामी अपूर्वानंद (1988)²³ श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में वर्णन मिलता है कि मन में जब तक विषय भोग की आकांक्षा रहती है तब तक इंद्रियां बुद्धि को भ्रमित करतीं रहती हैं। आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ एकनिष्ठ अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि के साथ होता है, जिनका चित्त अस्थिर है, उनके मन में विचारों की असंख्य श्रृंखलाएं चलतीं रहती हैं, जिसके परिणामस्वरूप शक्ति का क्षरण होता रहता है। जिनका चित्त सभी प्रकार की आकांक्षाओं से मुक्त हो चुका है, वे सभी प्रकार की आसक्ति, भय आदि से मुक्त हो जाते हैं। ज्ञानी व्यक्ति किसी भी प्रकार के भय, क्रोध, आसक्ति आदि मानसिक विकल्पों से मुक्त होता है। ज्ञानी व्यक्ति के जीवन में जीवित या मृत व्यक्ति के लिए शोक का कोई स्थान नहीं होता है क्योंकि आत्मा के सत स्वरूप का उसे ज्ञान होता है। योगी सभी प्रकार की आसक्ति को त्याग कर सिद्धि और आसिद्धि में समभाव रखते हुए अपना कर्तव्य कर्म करता है। समभाव से युक्त बुद्धि को योग कहते हैं। समबुद्धि से युक्त योगी इस जगत में पुण्य-पाप से युक्त कर्म से मुक्त होकर, निष्काम भाव से कर्म करता है। इस प्रकार के कर्म का कौशल ही योग कहलाता है। समबुद्धि से युक्त योगी जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होकर जीवन के परम पद मोक्ष को प्राप्त करता है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (2017)²⁴ द्वारा लिखित पुस्तक गीता रहस्य में गीता को निवृत्ति प्रधान ग्रंथ के रूप के मान्यता न देकर कर्म प्रधान ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया गया है। गीता में योग शब्द कर्मयोग के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। योग से तात्पर्य समत्व बुद्धि के साथ निष्काम भाव से कर्म करना है। गीता शास्त्र के अनुसार कर्म से कभी छुटकारा नहीं हो सकता। इस जगत में प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्तव्य है कि वह परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, बुद्धि योग से निष्काम कर्म करे। गीता में कर्म-अकर्म के साथ ही साथ मोक्ष का विशद रूप से वर्णन किया गया है और यह निश्चय किया गया है कि जीवन में कर्म कभी नहीं छूटते हैं और न ही कभी कर्म को छोड़ा जाना चाहिए। गीता में मूलतः ज्ञानयुक्त भक्तिप्रधान कर्मयोग को ही मान्यता दी गई है। यह ग्रंथ कर्मयोग का प्रधान ग्रंथ है। ब्रह्म विद्या से जब ब्रह्म ज्ञान हो जाता है तब बुद्धि सम हो जाती है और बुद्धि के सम हो जाने पर मनुष्य से पाप कर्म हो ही नहीं सकता। सिद्धि और असिद्धि में जिसकी बुद्धि सम रहती हो वह योगी है। कर्म के सफल होने या निष्फल होने की दशा में समता की मनोवृत्ति को योग कहते हैं। जो योगी समबुद्धि से युक्त होकर इस जगत में

पाप-पुण्य से मुक्त कर्म करता है वहीं कर्म करने में कुशल है और इस कुशलता को ही कर्मयोग कहते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची:—

1. ब्रह्मप्रकाश, (2009), बाल मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 22/4735 प्रकाश दीप बिल्डिंग, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली।
2. मिश्र, बृजकुमार, (2010) मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन, पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली-110001।
3. मुरजानी, जानकी एवं जैन, मीना, (2007), सामान्य मनोविज्ञान, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स जयपुर- 302003।
4. अजीमुर्रहमान, (1978), सामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली- 110007।
5. जेम्स, डब्ल्यू. (1890), द प्रिंसिपल ऑफ साइकोलॉजी, इन टू वॉल्यूम्स. न्यूयॉर्क हेनरी होल्ट एंड कंपनी।
6. गुप्ता, एस.एन.दास, (1996), योगा फिलासफी, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली- 110007।
7. जायसवाल, सीताराम, (2004), भारतीय मनोविज्ञान और शिक्षा, आर्य बुक डिपो करोलबाग नई दिल्ली- 110005।
8. अरविंद, (1967), भागवत मुहूर्त, अदिति कार्यालय पांडिचेरी।
9. सम्पूर्णानंद, (1965), योगदर्शन, हिन्दी समिति सूचना विभाग उ.प्र. लखनऊ।
10. आत्मानंद, स्वामी अक्षय (1981), योग के चमत्कार, हिन्द पाकेट बुक्स, नई दिल्ली।
11. अरविंद, (1969), योग समन्वय (पूर्वार्द्ध), श्री अरविंद सोसायटी, पांडिचेरी।
12. शर्मा, वेंकटेश्वर, (1975), आध्यात्म योग और चित्त विकलन, बिहार राष्ट भाषा परिषद् पटना।
13. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर।
14. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001।
15. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर।
16. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा।
17. शर्मा, चंद्रधर (2019), भारतीय दर्शन(आलोचन और अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, ISBN-9788120821347
18. शास्त्री, श्रीकृष्णपंत, (2016), योगवासिष्ठ (महारामायण), चौखंभा, सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
19. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2073), गीताप्रेस गोरखपुर।
20. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखंड।
21. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर।
22. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003।
23. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012।
24. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020।

अध्याय—3

अधिगम की सामान्य अवधारणा

3.1 सामान्य मनोविज्ञान में अधिगम की अवधारणा

मनुष्य एक विकासशील प्राणी है। मनुष्य के विकास के साथ ही साथ उसकी बुद्धि और विद्या से प्राप्त अनुभव का भी विकास होता है। जीवन में आने वाली विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के साथ ही उसे कभी प्रसन्नता और कभी दुख का अनुभव होता है। कुछ बातें उसे वर्षों तक याद होती हैं और कुछ बातें कुछ काल में ही विस्मृत हो जाती हैं। मन में उठने वाले असंख्य विचारों की श्रृंखला के संबंध में ज्ञान-अज्ञान के बीच संघर्ष चलता रहता है। इन संघर्षों के बीच में मनोविज्ञान का जन्म हुआ होगा।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक **प्लेटो और अरस्तू** ने मनोविज्ञान को निराकार मनुष्य के कार्यकलाप का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। मनोविज्ञान को अंग्रेजी भाषा में साइकोलॉजी (Psychology) कहते हैं। Psychology शब्द Psyche और logos से मिलकर बना है। Psyche का अर्थ (soul) अर्थात् आत्मा से है और logos का अर्थ विवेचन से है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि साइकोलॉजी आत्मा की व्याख्या करने वाला विज्ञान है। समय के परिवर्तन के साथ ही साथ दर्शनशास्त्र के विद्वानों ने Psychology को मन के रूप में परिभाषित करते हुए Psychology को मन का विज्ञान कहना प्रारंभ कर दिया। हजारों साल के चिंतन के बाद 19वीं शताब्दी के अंत में मनोविज्ञान को एक निश्चित विज्ञान के रूप में स्वीकार कर लिया गया। **वुण्ट** पहले ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं जिनको प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का जनक माना जाता है।

वुण्ट के अनुसार “मनोविज्ञान चेतन अनुभूति का विज्ञान है।” चेतन अनुभव सभी प्राणियों को होता है या केवल मनुष्य को होता है, यह विवाद का विषय है। मनोवैज्ञानिक डेकार्टे पशुओं में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। इनके अनुसार पशु एक स्वचालित यंत्र की भांति होते हैं, जो उद्दीपन के अनुसार प्रतिक्रिया करते हैं। उद्दीपन और प्रतिक्रिया के बीच चेतन अनुभव नहीं होता है। **डेकार्टे** के पशु संबंधी विचारों को **ला मेट्री** मनुष्य के लिए भी सत्य मानते हैं। मनोविज्ञान की व्यवहारवादी दृष्टिकोण के अनुसार मनोविज्ञान ऐसे विषयों का अध्ययन करेगा जो देखे और दिखाए जा सकें। देखे और दिखाए जा सकने वाले विषय को व्यवहार कहते हैं, जो किसी उद्दीपन के प्रभाव से मनुष्य

और पशुओं में उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिक मैकडुगल के अनुसार “मनोविज्ञान मानव आचरण का विज्ञान है। आगे चलकर मनोविज्ञान को सजीव प्राणियों के व्यवहार का निश्चयात्मक एवं आनुभविक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया। मनोविज्ञान मन का निश्चयात्मक आनुभविक विज्ञान है।”¹

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम को मनोविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण विषय माना है। इनके अनुसार प्राणी की समस्त मनोवैज्ञानिक क्रियाएं अधिगम से ही प्रभावित हुआ करती हैं। जन्म लेने के साथ ही प्राणियों में कुछ विशेष कार्य क्षमताएं विद्यमान रहती हैं। वातावरण के संपर्क में आने के पश्चात उनकी कार्यक्षमताओं के अनुसार व्यक्ति में कई प्रकार की क्रियाएं उत्पन्न होने लगती हैं और यहीं से उनके अधिगम की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। मनोवैज्ञानिक **हिलगार्ड** (1956) के अनुसार “अधिगम एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे परिस्थिति का सामना होने पर कोई क्रिया आरंभ होती है या किसी क्रिया में परिवर्तन होते हैं। शर्त यह है कि क्रिया की उत्पत्ति या परिवर्तन की व्याख्या किसी जन्मजात क्रिया-प्रवृत्ति, परिपक्वता या शरीर की अवस्थाओं से नहीं हो सके।”²

अभ्यास या प्रयास के पश्चात प्राणी के व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को अधिगम कहते हैं। अधिगम के पश्चात नये व्यवहार की प्राप्ति होती है। अधिगम के उपरांत प्राणी के व्यवहार में परिवर्तन अनेक रूपों में हो सकता है। किसी परिस्थिति में पुराने व्यवहारों का रूपांतरण या उनका तिरस्कार अधिगम कहलाता है, तो किसी परिस्थिति में नवीन कौशल की प्राप्ति को अधिगम कहते हैं। कार्य की गति एवं गुण को बढ़ाने की प्रक्रिया भी अधिगम कहलाती है। इस प्रकार “अभ्यास करके नए व्यवहार को प्राप्त करना तथा पुराने व्यवहार को छोड़ना अधिगम कहलाता है। अधिगम अभ्यास के फलस्वरूप होने वाला व्यवहार में परिवर्तन है।”³

3.2 अधिगम का अर्थ एवं परिभाषायें

अधिगम की अर्थ

अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। सीखना हमेशा उद्देश्यपूर्ण होता है। जीवन में सीखने की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। जीवन की परिस्थिति एवं पर्यावरण में समायोजन स्थापित करने के लिए प्राणी सतत् सीखता रहता है। अधिगम शिक्षा एवं व्यवहार मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण विषय है। किसी भी शिक्षण का उद्देश्य अधिगम उत्पन्न करना

होता है। अधिगम के बिना शिक्षण कार्य पूर्ण नहीं माना जाता है। शिक्षण को अगर एक साधन के रूप में माना जाए तो अधिगम साध्य है। जिसकी प्राप्ति के लिए शिक्षण कार्य किया जाता है। शिक्षण शब्द की व्युत्पत्ति “शिक्ष” धातु से हुई है, जिसका अर्थ सिखाना या सीख देना है। शिक्षण को आंग्ल भाषा में टीचिंग (Teaching) कहते हैं। जिसका अर्थ शिक्षा प्रदान करने की प्रक्रिया है। विस्तृत अर्थों में शिक्षा और अधिगम जीवनपर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है, जिसके द्वारा औपचारिक और अनौपचारिक रूप से प्राणी आजीवन सीखता रहता है।

मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण में अधिगम एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनुभूति या अभ्यास के फलस्वरूप प्राणी के व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थाई परिवर्तन होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्यवहार के किसी भी परिवर्तन को अधिगम नहीं कहा जा सकता है। कई बार व्यवहार में परिवर्तन का कारण बीमारियां, थकान, दवा, परिपक्वता आदि भी हो सकते हैं। इन कारणों से व्यवहार में जो परिवर्तन होता है, उसे अधिगम नहीं कहा जा सकता। अधिगम उस व्यवहारिक परिवर्तन को कहते हैं, जो अभ्यास या अनुभूति के परिणामस्वरूप होता है। यह परिवर्तन ही प्राणी को पर्यावरण एवं विभिन्न परिस्थितियों में समायोजित करने में मदद करता है। अधिगम उस व्यवहार परिवर्तन को कहते हैं, जो अभ्यास या अनुभूति के फलस्वरूप होता है। जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने को विभिन्न परिस्थितियों में समायोजित करता है।

अधिगम की परिभाषा

सीखने की प्रक्रिया जन्म के तुरंत बाद से ही प्रारंभ हो जाती है और जीवनपर्यंत चलती रहती है। जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष कार्य क्षमताएं विद्यमान रहती हैं, जिसके परिणामस्वरूप वह कुछ सरल अनुक्रियाओं को करने में समर्थ हो पाता है। सलन (Solon) महोदय ने कहा है कि “मैं प्रतिदिन कुछ न कुछ नई चीजें सीखते हुए ही प्रौढ़ के रूप में विकसित हुआ हूं।”⁴

क्रानबेक के अनुसार “सीखना अनुभव के परिणामस्वरूप व्यवहार में बदलाव द्वारा व्यक्त होता है।” एक बच्चे में जन्म लेने के पश्चात शैशवावस्था में कोई ज्ञान नहीं होता है, इसलिए ही उसे अबोध बालक कहते हैं। भूख-प्यास लगने पर वह रोता है। उसके पश्चात उसे दूध की प्राप्ति होती है। कालांतर में यह आदत बन जाती है और भूख लगने पर उसे रोना चाहिए, यह बच्चा सीख जाता है। आगे चलकर यह रोना ही उसकी वाणी बन जाती

है। एक परिस्थिति में बालक की यह क्रिया सहज है परंतु दूसरी परिस्थिति में यह क्रिया अधिगम है। इस प्रकार कह सकते हैं कि सीखना व्यवहार का बदलाव है, जिसमें किसी नवीन तथ्य का ज्ञान होता है। नवीन तथ्य का ज्ञान होना अधिगम कहलाता है। **बुडवर्थ** के अनुसार “नवीन ज्ञान और नवीन प्रतिक्रियाओं को प्राप्त करने की प्रक्रिया सीखने की प्रक्रिया है।”⁵

मनुष्य में सीखना जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत पाया जाता है। सीखने के द्वारा ही जीवन में क्रिया प्रारंभ होती है। परिणामस्वरूप व्यवहार में परिवर्तन होता है। **मार्गन** (1956) के अनुसार “सीखना सापेक्षतः व्यवहार में ऐसा स्थाई परिवर्तन है जो अतीत के अनुभव का परिणाम होता है।”⁶

3.3 अधिगम का स्वरूप एवं सिद्धांत

व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन एवं परिमार्जन अधिगम के द्वारा होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति का सामाजिक विकास सीखने की प्रक्रिया है। व्यक्ति का सामाजिक विकास सीखने की प्रक्रिया से ही संभव है। अधिगम के द्वारा व्यक्ति के अनुभव की वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में अनुभव के द्वारा किया गया विकास अधिगम कहलाता है। समय के साथ-साथ व्यक्ति का विकास परिपक्वता एवं अधिगम दोनों के साथ होता है। हम जहां होते हैं, पर्यावरण के साथ समायोजन एवं अपनी परिस्थितियों के अनुरूप जीवन जीने की कला हर किसी को सीखनी पड़ती है। अधिगम का संबंध हमारे जीवन के उद्दीपन एवं अनुक्रियाओं की क्रियाओं से है। कुशल व्यक्ति वह होता है जो उद्दीपन के अनुकूल क्रिया करता है। कोई भी व्यक्ति जो सामाजिक व्यवहार करता है वह सामाजिक उद्दीपन के प्रति उस व्यक्ति की अनुक्रिया ही होती है। सही या गलत कार्य उद्दीपन के अनुकूल और प्रतिकूल अनुक्रिया है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति अधिगम द्वारा पर्यावरण एवं जीवन की अनंत विधाओं से संबंधित उद्दीपन के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल अनुक्रिया करना सीखा जाता है।

अधिगम हमेशा उद्देश्यपूर्ण होता है। व्यक्ति कुशलता के लिए, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, सामाजिक उद्दीपनों के प्रति अनुकूल अनुक्रिया के लिए अधिगम करता है। अधिगम कभी भी उद्देश्यहीन नहीं होता है। अधिगम का उद्देश्य जीवन को सुखी बनाना होता है। क्योंकि हर व्यक्ति सुख चाहता है। व्यक्तिगत, सामाजिक, आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के

लिए जीवन में किसी न किसी प्रकार से अधिगम होता रहता है। अधिगम जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास है।

उल्लेखनीय है कि अधिगम व्यक्ति के जीवन एवं पर्यावरण से संबंधित है। अधिगम का पर्यावरण और जीवन से गहरा संबंध है। अधिगम जीवनपर्यंत होता है। जहां जीवन और पर्यावरण होगा वहां अधिगम अवश्य होगा। जीवन और पर्यावरण के अभाव में अधिगम नहीं होगा।

मनोविज्ञान में अधिगम संबंधी अधिकतर प्रयोग पशुओं पर किए गए हैं। पशु जगत के प्राणी सीखने की प्रक्रिया में प्रयत्न एवं भूल की विधि को अपनाते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **थार्नडाइक** ने अधिगम से संबंधित तीन सिद्धांतों या नियमों का जिक्र किया है, जो इस प्रकार हैं—

1. परिणाम का नियम।
2. तैयारी का नियम।
3. अभ्यास का नियम।

आधुनिक मनोविज्ञान के **गेस्टाल्ट** संप्रदाय के मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम के लिए **अंतर्दृष्टि के नियम** का प्रतिपादन किया है। इस संप्रदाय के अनुसार अधिगम की प्रक्रिया में अंतर्दृष्टि का विशेष महत्व है। अंतर्दृष्टि मानसिक विकास में सहायता करता है तथा सीखने में बुद्धि का प्रयोग अंतर्दृष्टि द्वारा किया जाता है। अधिगम की एक विधि अनुकूलित अनुक्रिया की है। जिसमें पशुओं की अनुक्रिया को अनुकूलित किया जाता है। यह अनुकूलित अनुक्रिया सीखने में सहायता प्रदान करती है।

3.3.1 अधिगम के प्रमुख सिद्धांत

अधिगम के सिद्धांतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

1. साहचर्यवादी सिद्धांत।
2. व्यवहारवादी सिद्धांत।
3. गेस्टाल्टवादी सिद्धांत।

अधिगम का साहचर्यवादी सिद्धांत— इसके अंतर्गत मुख्य रूप से अनुकरण सिद्धांत, प्रयत्न एवं भूल का सिद्धांत शामिल है।

अधिगम का व्यवहारवादी सिद्धांत— इसके अंतर्गत पावलव का प्रतिबंध-अनुक्रिया सिद्धांत और स्किनर का सक्रिय-अनुबंधन सिद्धांत आता है।

अधिगम का गेस्टाल्टवादी सिद्धांत— गेस्टाल्टवादियों के अनुसार सीखने की प्रक्रिया में व्यक्ति अचानक अपने अंदर उत्पन्न सूझ द्वारा सीखता है।

3.3.2 अधिगम के सिद्धांतों का विश्लेषण

अधिगम शारीरिक नहीं, बल्कि मानसिक क्रिया है। जिस क्रिया में मस्तिष्क से काम नहीं लिया जाता उसे या तो हम सीख नहीं पाते और अगर सीख भी जाएं तो शीघ्र ही भूल जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है अधिगम सीखने की एक मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें बिना मन के शामिल हुए सीखना संभव नहीं है। सीखना मन से ही होता है। मन को भारतीय मनोविज्ञान में दस इंद्रियों के अतिरिक्त ग्यारहवीं इंद्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है। यह मन, बंधन और मोक्ष का कारण है।

3.3.3 अवस्था के आधार पर अधिगम सिद्धांत

शैशवावस्था में बच्चा अनुकरण के माध्यम से सीखता है, जो भी देखता है उसकी वह नकल करता है। बचपन में भूल और प्रयत्न एवं अनुकूलित-अनुक्रिया के द्वारा ही सीखना संभव हो पाता है।

किशोरावस्था में भूल एवं प्रयत्न, अनुकूलित अनुक्रिया और सूझ इन तीनों सिद्धांतों के द्वारा सीखना होता है।

3.3.4 बौद्धिक क्षमता के आधार पर अधिगम के सिद्धांत

मंदबुद्धि व्यक्तियों हेतु अनुकरण, भूल एवं प्रयत्न आंशिक रूप से तथा अनुकूलित अनुक्रिया के सिद्धांत आंशिक रूप से कार्य करते हैं।

विकसित बुद्धि वालों के लिए भूल एवं प्रयत्न आंशिक रूप से, अनुकूलित-अनुक्रिया सिद्धांत आंशिक रूप से तथा सूझ के सिद्धांत पूर्ण रूप से कार्य करते हैं।

3.3.5 शिक्षा एवं शिक्षा के लक्षणों के आधार पर अधिगम के सिद्धांत

1. मनोवृत्ति हेतु अधिगम अनुकरण के द्वारा होता है।
2. ज्ञान हेतु अधिगम प्रयत्न एवं भूल के द्वारा होता है।
3. रुचि हेतु अधिगम अनुकूलित-अनुक्रिया के द्वारा होता है।
4. कौशल हेतु अधिगम सूझ के नियम के द्वारा होता है।

3.4 अधिगम और अभिप्रेरणा

अभिप्रेरणा शब्द लेटिन भाषा के **मोटम** और अंग्रेजी भाषा के **मोटिवेशन (Motivation)** का हिंदी रूपांतरण है, जिसका अर्थ मूव मोटर तथा मोशन अर्थात् गति करना है। अभिप्रेरणा से आशय आंतरिक उत्तेजना से है, जिस पर व्यक्ति का व्यवहार आधारित होता है। जीवन में किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्तेजना के अभाव में संभव नहीं है। अभिप्रेरणा एक अदृश्य शक्ति की भांति काम करती है, जो दिखाई तो नहीं देती, परंतु किसी भी क्रिया को करने के लिए प्रेरित करती है।

प्रेरणा एक आंतरिक शक्ति है, जो हमें किसी कार्य को करने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने और उसको सही मार्ग दिखाने में अभिप्रेरणा का महत्वपूर्ण योगदान है। जीवन में किसी भी प्रकार की सफलता की प्राप्ति अभिप्रेरणा के माध्यम से ही होती है। शायद इसलिए ही **अभिप्रेरणा को सीखने का हृदय भी कहा जाता है**। स्किनर महोदय के अनुसार “अभिप्रेरणा अधिगम का सर्वोच्च मार्ग है।”

किसी व्यक्ति के व्यवहार परिवर्तन में अभिप्रेरणा का महत्वपूर्ण योगदान है। इसके माध्यम से उन आंतरिक शक्तियों का विकास होता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिए अग्रसर होता है। अभिप्रेरणा किसी दृश्य कार्य की अदृश्य शक्ति है, जो दिखाई तो नहीं देती लेकिन कार्य को संपन्न कराने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। **गुड** के अनुसार “प्रेरणा कार्य को आरंभ करने, जारी रखने और नियमित करने की प्रक्रिया है।”

अभिप्रेरणा कई प्रकार की होती है। किसी कार्य को करने में अभिप्रेरणा स्वाभाविक, पारितोषिक, कृत्रिम, सकारात्मक, नकारात्मक, दंडात्मक आदि प्रकृति की हो सकती है। कुन्टज तथा डोनेल के अनुसार “अभिप्रेरणा की प्रक्रिया जरूरत-आवश्यकता-संतुष्टि की श्रृंखला (Need-want-satisfaction chain) के रूप में होती है। जरूरत से आवश्यकता जन्म लेती है, उसके पश्चात तनाव होता है। तनाव से कार्यवाही होती है, जिसके उपरान्त संतुष्टि की प्राप्ति होती है।”⁷

मनुष्य के अधिगम पर मौद्रिक पुरस्कार और मौखिक प्रशंसा से बहुत लाभ होते देखा गया है। भविष्य में अधिगम पर प्रशंसा और निंदा का भी प्रभाव पड़ता है। अधिगम के प्रभाव के नियम में **पुरस्कार और दंड** को अधिगम की प्रक्रिया में एक बराबर का महत्व दिया गया था, परंतु बाद में मनोवैज्ञानिक **थार्नडाइक** ने अधिगम में पुरस्कार के महत्व को स्वीकार

किया और दंड को कम महत्व दिया। अधिगम की प्रक्रिया में शुद्ध क्रियाओं के लिए पुरस्कार और अशुद्ध क्रियाओं के लिए दंड देना, केवल पुरस्कार के द्वारा किए गए अधिगम से अधिक प्रभावशाली होता है। योग के अनुसार अधिगम के लिए प्रेरित करने वाले अंगों में प्रतिद्वंद्विता और मान्यता का भी महत्वपूर्ण योग है। मनुष्य के अधिगम प्रक्रिया पर किसी कर्म के फल का ज्ञान भी अपना प्रभाव छोड़ता है। जिस फल की प्राप्ति की इच्छा होती है उसके लिए किए गए कार्य को व्यक्ति आसानी से सीखता है।

3.5 अधिगम और साहचर्य

अधिगम या सीखना मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण विषय है। प्रत्येक प्राणी की मनोवैज्ञानिक क्रियाएं अधिगम से प्रभावित और निर्धारित होती हैं। अधिगम जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। प्राणियों में जितने भी क्रियाएं हैं, वह किसी न किसी प्रकार से सीखी हुई हैं। **अधिगम प्राणी का अभ्यास अथवा प्रयास है।** अभ्यास से उत्पन्न व्यवहार में परिवर्तन को अधिगम कहा जाता है। अभ्यास से होने वाले सभी परिवर्तन अधिगम की श्रेणी में नहीं आते। अभ्यास से उत्पन्न ऐसे परिवर्तन जो अपेक्षाकृत स्थाई हो, अधिगम की श्रेणी में आते हैं। परिपक्वता, बीमारी, थकावट, दुर्घटना आदि के द्वारा व्यवहार में जो स्थाई परिवर्तन होता है वह अधिगम नहीं है। अधिगम से नए व्यवहार की प्राप्ति होती है। अधिगम से व्यवहारों में परिवर्तन अनेक रूपों में हो सकता है। किसी परिस्थिति में नए कला कौशल की प्राप्ति अधिगम की श्रेणी में आती है। किसी विशेष परिस्थिति में नए व्यवहार उत्पन्न करना और पुराने व्यवहार में परिवर्तन भी अधिगम है। अभ्यास से होने वाला परिवर्तन यदि कुछ समय तक नहीं ठहरे, तो वह परिवर्तन अधिगम नहीं है। परिवर्तन अपेक्षाकृत स्थाई होना चाहिए।

3.5.1 साहचर्य

अधिगम और साहचर्य के बीच गहरा संबंध है। साहचर्य संबंधी विचारों की शुरुआत प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु के स्मृति नामक निबंध से हुआ है। इस निबंध में अरस्तू ने एक बड़ा बुनियादी प्रश्न खड़ा किया है कि एक घटना क्यों किसी दूसरी घटना की याद दिलाती है ? इसी का उत्तर उन्होंने अपने विचारों में दिया।

अरस्तू ने कहा यदि दो घटनाएं समान हो तो, एक की उपस्थिति में दूसरे का स्मरण होता है। इसे साहचर्य के **समानता का नियम** कहते हैं।

यदि दो घटनाएं एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हो तो एक की उपस्थिति में दूसरे की स्मृति होती है। इसे साहचर्य का **विरोध नियम** कहा जाता है।

यदि दो घटनाएं एक-दूसरे के समीप या अतीत में एक दूसरे के समीप होते देखी गईं हो तो उनमें से एक की उपस्थिति से दूसरे की उपस्थिति का एहसास होता है। इसे साहचर्य की **समीपता का नियम** कहते हैं।

अरस्तु द्वारा दिए गए साहचर्य के इन तीनों नियमों को साहचर्य का प्राथमिक नियम कहा गया। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में **थॉमस ब्राउन** ने अनुभव की समीपता को साहचर्य का मुख्य एवं प्राथमिक नियम घोषित किया, परंतु इसके साथ ही साथ उन्होंने अनुषंगी साहचर्य नियमों की भी आवश्यकता महसूस की। समीपता के आधार पर अनेक घटनाएं एक-दूसरे से संबंधित होती हैं। एक घटना के उपस्थित होने पर दूसरी घटना का प्रत्यास्मरण होता है। **प्रत्यास्मरण** तीन अंगों पर आधारित है। जो अनुभव बार-बार होता है उसका साहचर्य सबसे प्रबल होता है। इसलिए उसके प्रत्यास्मरण की संभावना सबसे अधिक है। जो अनुभव सबसे अंत में हुआ है, उसका साहचर्य सबसे नया और सफल होता है। इसलिए उसके स्मरण होने की संभावना अधिक होती है। जो अनुभव सबसे स्पष्ट तरीके से हुआ है। उसका साहचर्य दूसरे अन्य अस्पष्ट अनुभव की तुलना में अधिक प्रबल होगा। इसलिए उसके प्रत्यास्मरण की संभावना अन्य से अधिक होगी। **ब्राउन** के द्वारा साहचर्य के तीन अनुषंगी नियमों का प्रतिपादन किया गया।

बारंबारता का नियम, अभिनवता का नियम, स्पष्टता का नियम इसके बाद के विद्वानों ने एक चौथा अनुषंगी नियम भी दिया। जिसके अनुसार पहला अनुभव प्रबल साहचर्य बनाता है और उसके प्रत्यास्मरण की संभावना अन्य अनुभवों से अधिक रहती है।

अधिगम दो रूप में होता है। एक प्रबलन से उत्पन्न होने वाला अधिगम और दूसरा समीपता से उत्पन्न होने वाला अधिगम।

3.6 अधिगम तथा स्मृति और विस्मृति

मनुष्य में सीखने की प्रक्रिया जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत चलती रहती है। कुछ न कुछ सीखते हुए ही व्यक्ति जीवन में बड़ा होता है। जीवन के किसी भी स्मृति का आधार अधिगम होता है क्योंकि अधिगम के बिना कोई स्मृति नहीं हो सकती है। **बुडवर्थ** के अनुसार “जिन तथ्यों को भूतकाल में सीखा जा चुका है, उन्हें स्मरण करना ही स्मृति है।”

रायबर्न के अनुसार “अपने अनुभव को संचित करने तथा उन्हें पुनः चेतना में लाने की शक्ति स्मृति कहलाती है।”⁸

“स्मृति की प्रक्रिया में सबसे पहले अधिगम होता है उसके पश्चात उसे धारण कर पुनः स्मरण करना स्मृति कहलाती है। अधिगम के बिना किसी भी प्रकार की स्मृति संभव नहीं है।”⁹

“अधिगम के अभाव में स्मृति के नहीं होने को ही विस्मृति कहा जाता है। **विस्मृति एक प्रकार से अधिगम का अभाव है।** मनोवैज्ञानिक **मन** के अनुसार सीखी हुई बात को स्मरण रखने या पुनः स्मरण करने की असफलता को विस्मृति कहते हैं। विस्मृति वास्तव में अधिगम का अभाव ही है।”¹⁰

3.7 अधिगम एवं व्यक्तित्व

व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत कुछ न कुछ सीखते हुए ही बड़ा होता है। सीखने की प्रक्रिया में ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्तित्व वास्तव में व्यक्ति के व्यवहारों का संकलन एवं समायोजन है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करता है। **ट्रैक्लर** के अनुसार “व्यक्तित्व से तात्पर्य मनुष्य के संपूर्ण व्यवहार से है, जो कि सामाजिक स्थितियों में दृष्टिगोचर होता है। यहां व्यवहार के अंतर्गत केवल बुद्धि से युक्त कार्य ही नहीं आते, बल्कि आंतरिक भाव भी आते हैं, जो किसी विशेष परिस्थितियों में पैदा होते हैं।”

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति के संस्कारों का निर्माण और संस्कारों के अनुसार व्यवहार के परिवर्तन में समाज का महत्वपूर्ण योगदान है। विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, यह व्यक्ति समाज से ही सीखता है। समाज की सबसे प्राथमिक इकाई परिवार है। सीखने की प्रक्रिया परिवार से ही प्रारंभ होती है। शायद इसी क्रम में “मातृ देवो भव् पितृ देवो भव्” अर्थात् माता पिता देवता बने। जिससे कि बच्चा भी माता पिता को देखकर, सुनकर देवत्व के गुणों का अधिगम करने के साथ अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। **आर.बी. कैटल** के अनुसार “व्यक्तित्व वह है जिसके द्वारा हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि कोई व्यक्ति किन्ही परिस्थितियों में क्या करेगा।”

देशाइल के अनुसार “व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहारों का एक समायोजित संकलन है, जो कि व्यक्ति अपने सामाजिक व्यवस्थापन के लिये करता है।”¹¹

3.7.1 शिक्षा और विद्या के समन्वय से मानवीय व्यक्तित्व का समग्र विकास

मनुष्य जीवन में पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की सिद्धि शिक्षा और विद्या के समन्वय से ही संभव है। शिक्षा से जहां अर्थ और काम की सिद्धि होती है, वहीं विद्या, धर्म और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायक होती है। शिक्षा के अधिगम से भौतिक जानकारीयों एवं भौतिक आवश्यकता से संबंधित संसाधनों की आपूर्ति होती है। मानव के मस्तिष्कीय विकास एवं अर्थोपार्जन के लिए शिक्षा आवश्यक है। पर्यावरण एवं परिस्थितियों के समायोजन में शिक्षा परम उपयोगी एवं आवश्यक साधन है। शिक्षा अक्षर ज्ञान से प्रारंभ होकर, संसार की बाह्य परिस्थितियों का ज्ञान कराती है। विभिन्न विषयों का ज्ञान यथा— इतिहास, भूगोल, गणित, समाजशास्त्र, जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, भाषा विज्ञान, अर्थशास्त्र, नागरिक-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र आदि विषयों का ज्ञान शिक्षा का विषय है।

वर्तमान समय में इन्हीं विषयों का ज्ञान विद्यालय एवं महाविद्यालयों में कराया जाता है। इन विषयों के साथ ही साथ ज्ञान की एक धारा विद्या भी है। विद्या ज्ञान का महती रूप है। विद्या का संबंध शब्द, अर्थ और ज्ञान तक ही सीमित नहीं है बल्कि विद्या का संबंध बोध से है। आत्मबोध ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। जिसकी सिद्धि के पश्चात मुक्ति का अनुभव होता है। विद्या मुक्ति प्रदान करती है। विद्या के अधिगम से जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का ज्ञान होता है। अध्यात्म दो शब्दों से मिलकर बना है— अधि और आत्म। अध्यात्म वह है जिसका आधार आत्मा है। **आत्मा के अधिगम को अध्यात्म कहते हैं।**

संसार का ज्ञान, ज्ञान के दो साधनों, बाह्यकरण और अंतःकरण के माध्यम से होता है। आत्मा के अधिगम के लिये ज्ञान के इन साधनों से मुक्त होना पड़ता है। इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान आत्मज्ञान नहीं हो सकता। संसार में किसी भी प्रकार का ज्ञान, ज्ञान की इंद्रियों से ही संभव है। विद्या के अधिगम से आत्मा का ज्ञान होता है। आत्मज्ञान से मनुष्य संसार के जितने भी प्राणी हैं, उन प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में जाना जाता है। मनुष्य में इस श्रेष्ठता का विकास विवेक के पश्चात ही संभव है। विवेक बिना आत्मज्ञान के संभव नहीं है। विद्या का अधिगम एकात्मता का बोध है, जो आत्मज्ञान से ही संभव होता है। इस एकात्मता की दृष्टि से वसुधा कुटुंब जैसी दिखने लगती है और मनुष्य जगत के जीवन का रक्षक बन जाता है।

मानव समाज में मानवता का जब विकास होता है तब विश्व-बंधुत्व एवं विश्व-शांति का ज्ञान आत्मसात होता है। मानवता के अभाव में यह ज्ञान महज एक सूचना बन करके रह जाता है। शिक्षा के अधिगम से ज्ञान की इन सूचनाओं का संकलन मस्तिष्क में तो हो सकता है पर, ऐसे मनुष्य का निर्माण जो इस ज्ञान का जीता जागता प्रतिमूर्ति हो, संभव नहीं हो सकता। शायद इसलिए ही भारतीय मनीषियों ने **मनुर्भव अर्थात् मनुष्य बनो** का उदघोष किया। मनुष्य का शरीर प्राप्त कर लेने मात्र से मनुष्य का निर्माण नहीं होता। मनुष्य का निर्माण तो मनुष्यता से होता है और मनुष्यता का अधिगम शिक्षा और विद्या के समन्वय से संभव है। मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास ज्ञान के इन दो अंगों **शिक्षा और विद्या** के अधिगम से ही संभव है।

3.8 भारतीय मनोविज्ञान में अधिगम की अवधारणा

सामान्य अर्थों में अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। सीखना जीवनपर्यंत चलने वाली एक सतत् प्रक्रिया है। भारतीय दृष्टिकोण में मनुष्य का जन्म बड़े भाग्य का विषय है। मानव शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है। क्योंकि इस शरीर से मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। मोक्ष जन्म और मृत्यु के वर्तुलाकार गति से मुक्ति है। मोक्ष अमरता का विज्ञान है। जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी मृत्यु को प्राप्त करना नहीं चाहता, परंतु मृत्यु प्रत्येक जन्म लेने वाले की होती है। जन्म के साथ ही मृत्यु का भय अभिनिवेश के रूप में बना रहता है। मोक्ष, जन्म और मृत्यु से मुक्ति है। जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही मानव का जन्म हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए मनुष्य का जन्म एक साधन है। मनुष्य जन्म का परम साध्य मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति आत्म-साक्षात्कार से होती है। भारतीय मनोविज्ञान में मनुष्य के लिए मोक्ष, अधिगम का परम साध्य है।

व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में शिक्षा के साथ ही साथ विद्या का समन्वय भी भारतीय अधिगम प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है। शिक्षा के अधिगम से जहां हम जीवनोपयोगी संसाधनों की आपूर्ति करते हैं, वहीं विद्या हमें जीवन जीने की कला सिखाती है। भारत में ज्ञान, शब्द और अर्थ तक ही सीमित नहीं रहा। ज्ञान का महती स्वरूप विद्या के रूप में है। विद्या से तात्पर्य बोध से है। बिना बोध के विद्या का अधिगम नहीं होता है। वर्तमान परिवेश में शिक्षा की अभिवृद्धि हो रही है और विद्या की उपेक्षा हो रही है। ऐसे में व्यक्ति के पास

ज्ञान के रूप में सूचनाओं का संकलन तो हो रहा है पर, उस ज्ञान से होने वाले व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो गया है।

मानव समाज में बढ़ते अमानवीय व्यवहारों को देखने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि मानवता का अधिगम मानव नहीं कर पा रहा है। मानवताविहीन मानव समाज भौतिक समृद्धि के चाहे जिस शिखर पर हो परंतु, सुख-शांति और संतोष से वंचित ही रहेगा। शायद इसी कारण से संसार में दुख-शोक और संतापों की वृद्धि हो रही है। आज सारा विश्व अशांति, भय, संघर्ष, पर्यावरण असंतुलन विभिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है। इन समस्याओं का समाधान सिर्फ शिक्षा ही नहीं बल्कि विद्या के आत्मबोध से हो सकता है।

भारत में विद्या के इस महत्व को समझा गया, जिसके परिणामस्वरूप भारत में शिक्षालय नहीं, विद्यालय और महाविद्यालयों की संकल्पना की गई। जिसमें अध्ययन करने वाले विद्वान बनकर मानव समाज और पूरी प्रकृति का संतुलन स्थापित करने के लिए प्रयत्न करते हैं। विद्या का अधिगम करने वाले विद्वानों की दृष्टि में पूरा विश्व एक परिवार है। परिवार में एकता होती है। हर व्यक्ति एक-दूसरे से अभिन्न रूप में जुड़ा रहता है। अभिन्नता से ही एकात्म दृष्टि का विकास होता है। एकात्मता की यह दृष्टि ही मनुष्य को जगत का सबसे विवेकशील प्राणी बनाती है। मनुष्य विवेक के साथ ही इस जगत का संरक्षक हो सकता है। विवेक के अभाव में मनुष्य के कारण ही यह जगह विभिन्न तरह के संकटों का सामना करते हुए अंत में विनाश को प्राप्त भी हो सकता है।

विश्व में एकता का दर्शन आत्मविद्या के अधिगम के पश्चात् ही होता है। आत्मिक दृष्टि से यह जगत नाम-रूपात्मक भेद के पश्चात् भी एक ही दिखाई देता है। इस एकात्मता की दृष्टि के कारण ही पूरी वसुधा में परिवार का दर्शन होता है। यह दृष्टि ही मानवीय अधिगम की सर्वोच्च दृष्टि है। इसके माध्यम से ही विश्व-बंधुत्व और विश्व-शांति की संकल्पना को साकार रूप दिया जा सकता है।

3.9 अधिगम का संस्कार सिद्धांत

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार अधिगम का संबंध संस्कार सिद्धांत से है। श्री लज्जाराम तोमर जी की पुस्तक “भारतीय शिक्षा के मूल तत्व” में वर्णन मिलता है कि मानव के अवचेतन मन के क्षेत्र में भारतीय ऋषियों को प्राचीनकाल से ही ज्ञान प्राप्त था। पाश्चात्य मनोविज्ञान आज भी उस ज्ञान की पूर्णता तक नहीं पहुंच सका है। अवचेतन मनोविज्ञान के द्वारा किए गए प्रयोगों एवं अन्वेषणों के बाद ज्ञात हुआ कि मनुष्य की

अवचेतन अवस्था के कारण उसके विचार, उद्वेग और समस्त क्रियाएं प्रभावित होती हैं। यह ज्ञान ऋषियों ने बहुत पहले ही प्राप्त कर लिया था।

भारतीय ऋषियों के अनुसार अवचेतन अवस्था का निर्माण करने वाले संस्कार होते हैं। संस्कार को ही अवचेतन मनोविज्ञान काम, प्रसुप्त, अवशेष, संसेचन आदि नामों से परिभाषित करता है। भारतीय मनोविज्ञान ने जहां संस्कारों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने की प्रक्रिया को जाना है वही आधुनिक मनोविज्ञान इन विषयों का केवल ज्ञान रखता है। चित्त में अनेक प्रकार की वृत्तियों का निर्माण होता रहता है। प्रत्येक वृत्ति अपने समान चित्त पर अपना छाप छोड़ जाती है। चित्त की इन वृत्तियों को संस्कार की संज्ञा दी गई है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक पर्सीनन ने संस्कार को एनग्राम (**Engram**) कहा है। संस्कार तीन प्रकार के होते हैं— ज्ञानात्मक (**Cognitive**) संस्कार, भावनात्मक (**Affective**) संस्कार और क्रियात्मक (**Conative**) संस्कार। भारतीय मनोवैज्ञानिक चित्तकों का ऐसा मानना है कि इन तीन संस्कारों के अलावा पूर्वजन्म के संस्कार और गर्भावस्था के भी संस्कार होते हैं, जिन्हें हम वासनाएं भी कह सकते हैं। वासनाओं के अनुसार रुचियों और प्रवृत्तियों का निर्माण होता है। इस जन्म के अनुभव से ज्ञानज संस्कार का निर्माण उद्वेग, भावनात्मक संस्कार का निर्माण और क्रियाएं क्रियात्मक संस्कार का निर्माण करती हैं। ज्ञानज संस्कार से स्मृति रूपी चित्तवृत्ति का निर्माण होता है।

अचेतन अवस्था में सभी प्रकार के ज्ञानज संस्कार होते हैं, जो उपयुक्त परिस्थितियों के अनुसार चेतन अवस्था में प्रकट हो जाते हैं। कुछ ज्ञानज संस्कार हमेशा अवचेतन में ही बने रहते हैं, इन्हें चेतन में लाने के लिए योग की विधियों अर्थात् यौगिक तकनीकी का सहारा लिया जाता है। ज्ञानज संस्कार से केवल स्मृति की प्राप्ति नहीं होती बल्कि, संवेदनाओं को भी अर्थ की प्राप्ति होती है। आधुनिक मनोविज्ञान में ज्ञानज संस्कार को सम्प्रत्यक्ष (**Apperception**) शब्द के समकक्ष मान्यता प्राप्त है। स्मृति उन विषयों की होती है जिन विषयों का अनुभव प्राप्त होता है।

संस्कार मात्र इस जन्म के अनुभव नहीं होते बल्कि चित्त में असंख्य जन्मों के संस्कार संचित रहते हैं। जब इन संस्कारों को जागृत करने वाले साधन और परिस्थितियां उपलब्ध होती हैं तब ये संस्कार प्रकट हो जाते हैं। चित्त की एकाग्रता, साहचर्य, दर्शन आदि ऐसे साधन हैं जिनकी उपस्थिति में संबंधित संस्कार जागृत होकर उनसे संबंधित स्मृति को प्रकट करते हैं। वास्तव में स्मृति केवल ज्ञानज संस्कारों की होती है, अन्य

संस्कारों की स्मृति नहीं होती है। संस्कार का निर्माण तो भावनाओं, संवेगों और कर्मों से भी होता है, पर उनकी स्मृति नहीं होती है। भावनाओं और संवेगों से हमारी क्रियाएं प्रभावित होती हैं और उनके संस्कार भी चित्त में अंकित हो जाते हैं। संवेग के संस्कार संवेग को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं और भावनाओं के संस्कार भावनाओं को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

हमारे कर्मों से भी संस्कारों का निर्माण होता है जिन्हें कर्माशय कहा जाता है। शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप धर्म और अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप अधर्म का उदय होता है और यह धर्म-अधर्म रूपी कर्माशय जन्म, आयु और भोग का कारण बनते हैं। इन कर्माशयों से युक्त चित्त से जीवात्मा, अपने पूर्व जन्म के शुभ, अशुभ कर्मों की वासनाओं के कारण ही एक देह से दूसरे देह को धारण करता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानज संस्कार स्मृति को, भावनात्मक संस्कार क्लेशों तथा संवेगों को और कर्माशय के संस्कार जाति, आयु और भोगों के कारण बनते हैं। ये समस्त संस्कार चित्त के धर्म हैं और किस न किसी रूप में चित्त में संकलित रहते हैं।

प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्म के आधार पर तीन प्रकार के कर्म संस्कार होते हैं— प्रारब्ध कर्म संस्कार के कारण जीव जन्म, आयु और भोग प्राप्त करता है। संचित कर्म संस्कार जन्म जन्मांतर के वे संस्कार हैं जो चित्त में तो हैं पर, उनके फल भोगने का समय नहीं आया है और क्रियमाण कर्म के संस्कार का निर्माण इस जन्म में किए जाने वाले कर्मों से होता है। भारतीय मनोवैज्ञानिक चिंतकों के अनुसार पुनर्जन्म और कर्म संस्कार सिद्धांत एक-दूसरे पर आश्रित हैं। ज्ञानज संस्कार, भावनात्मक संस्कार एवं कर्म संस्कार यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं परंतु किसी न किसी रूप में परस्पर संबंधित भी हैं। ये संस्कार ज्ञान, इच्छा और क्रिया के कारण हैं और इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि ज्ञान से इच्छा का जन्म होता है और इच्छा कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। इस तरह इन तीनों प्रकार के संस्कारों की प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है।

संस्कार सिद्धांत की मान्यता के अनुसार कोई भी संस्कार चाहे ज्ञानज संस्कार हो, संवेगात्मक संस्कार हो या कर्म संस्कार हो कभी नष्ट नहीं होते हैं। ये सारे संस्कार अवचेतन अवस्था में किसी न किसी रूप में दबे रहते हैं, इनको उद्दीप्त करने वाली परिस्थितियों की उपस्थिति में यह सुप्त संस्कार चेतन अवस्था में प्रकट हो जाते हैं।

अच्छे संस्कारों के द्वारा कुसंस्कार के प्रभावों को प्रभावहीन किया जा सकता है तथा निरंतर यह कोशिश करनी चाहिए कि कुसंस्कारों को उद्दीप्त करने वाले वातावरण से अपने आप को बचाया जाए। यह प्रयास बलपूर्वक संभव नहीं हो सकता बल्कि ज्ञान से युक्त होकर आत्म- अनुसंधान एवं आत्म-निर्देशन से सफल हो सकता है। योगाभ्यास की उच्चतम अवस्था में संस्कार दग्धबीज की भांति प्रभावहीन हो जाते हैं।

भारतीय मनोविज्ञान में शिक्षा का मूल आधार संस्कार सिद्धांत को माना गया है। संस्कारों के आधार पर यदि बालक को शिक्षा दी जाए तब सर्वांगीण विकास अर्थात् शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आत्मिक विकास संभव हो सकेगा। संस्कार सिद्धांत के आधार पर अधिगम की प्रक्रिया आधारित होती है। जहां आधुनिक मनोविज्ञान पशुओं पर विभिन्न प्रकार के प्रयोग कर अधिगम सिद्धांत को निर्धारित करता है वहीं, भारतीय मनोविज्ञान संस्कार सिद्धांतों के आधार पर अधिगम के सिद्धांतों का निर्धारण करता है।¹²

3.9.1 अभ्यास और वैराग्य से अधिगम

भारतीय मनोविज्ञान में योग का अधिगम चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात होता है और चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है। वास्तव में अधिगम अभ्यास और वैराग्य के बिना संभव नहीं है। पश्चिमी मनोविज्ञान में अधिगम को रुचि और ध्यान का विषय माना गया है। अभ्यास और वैराग्य के वास्तविक महत्व को नहीं स्वीकार किया गया है। मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक ने अधिगम के लिए अभ्यास के नियम को स्वीकार किया है, परंतु मनुष्य को एक जैविक प्राणी मानने के कारण किसका अभ्यास करना?, अभ्यास क्यों करना?, अभ्यास किसलिए करना तथा अभ्यास का जीवन के लक्ष्य के साथ क्या संबंध है? इन विषयों की उपेक्षा, आधुनिक मनोविज्ञान करता है।

भारतीय मनोविज्ञान की मान्यता के अनुसार मनुष्य का विकास आत्मा के ज्ञान के साथ ही हो सकता है। आत्मिक आधार पर विकसित मनुष्य जगत का सबसे विवेकशील प्राणी कहलाता है। विवेकशील मनुष्य को इस दृश्य जगत में अद्वैत का दर्शन होता है। आत्मिक रूप से विकसित मनुष्य जगत में अपने को और अपने में जगत को देखता है। जहां दूसरा दिखाई न दे वहीं अद्वैत दर्शन की दृष्टि प्राप्त होती है। शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अद्वैत का बोध नहीं होता है। अद्वैत का बोध योग विद्या के अधिगम से जब अविद्या का नाश होता है, तब दृश्य से मुक्त द्रष्टा का बोध होता है। द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही अद्वैत का बोध है।

योगसूत्र में अभ्यास और वैराग्य को चित्तवृत्तियों के निरोध का साधन माना गया है। किसी भी प्रकार के अधिगम के लिए एकाग्र चित्त होकर मन को पूरी तरह लगाना होता है, इसके लिए अभ्यास और वैराग्य परम आवश्यक है। इस दृश्य जगत का वास्तविक स्वरूप जान लेने के पश्चात जगत के क्षणभंगुर होने का बोध हो जाता है।

योगसूत्र में दृश्य जगत की क्षणभंगुरता से वैराग्य के संबंध में सूत्र इस प्रकार है—

दृष्टानुश्रविकविषय—वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्। (1/15, योगसूत्र)

दृश्य के नश्वरता का बोध होने के साथ ही साथ देखें और सुने गए किसी भी विषय में तृष्णा का अंत हो जाना ही अपर वैराग्य है।

संसार के विषयों में सारहीनता का बोध हुए बिना तृष्णा का मिटना संभव नहीं है। तृष्णा के मिटने को ही वैराग्य कहते हैं। रजोगुण और तमोगुण से तृष्णा मिट जाने पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि विषय अपने वश में हो गए हैं, पर ये वैराग्य की संपूर्ण व्याख्या नहीं है। इसमें रजोगुण और तमोगुण से आसक्ति छूट जाने पर विषयों पर एक मर्यादित नियंत्रण स्थापित हो जाता है पर सतोगुण का उत्कर्ष बना रहता है। यह वैराग्य की सीमित सीमित व्याख्या है। अपने वास्तविक स्वरूप पुरुष का ज्ञान हो जाने के पश्चात जब सत्व गुण से भी आसक्ति छूट जाती है तब इसे पर वैराग्य कहते हैं। आत्मज्ञान हो जाने पर शरीर आत्मा से भिन्न है ऐसा अनुभव होने लगता है। अपर और पर वैराग्य के अभ्यास से साधक अपने मन पर पूरी तरह से नियंत्रण स्थापित कर लेता है।

इस प्रकार योगसूत्र के समाधि पाद के बारहवें सूत्र में चित्त को स्थिर करने के लिए अभ्यास और वैराग्य को आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय मनोविज्ञान का आधार अध्यात्म है। इस कारण से मनुष्य के सभी कार्य एवं व्यवहार को एक प्रकार से योग की साधना के रूप में स्वीकार किया गया है, इसलिए महर्षि अरविंद ने कहा है कि “मनुष्य का सारा जीवन ही योग है।” भारतीय चिंतन के दृष्टिकोण से योग के अधिगम द्वारा आत्म उपलब्धि ही परम साध्य है।

अभ्यास और वैराग्य का वर्णन एक रूपक के माध्यम से महर्षि व्यास देव जी ने इस प्रकार किया है— चित्त एक नदी की भांति है जिसमें वृत्तियों का प्रवाह निरंतर प्रवाहित होता रहता है। इस नदी की दो धाराएं हैं— जिसमें एक संसार सागर की ओर प्रवाहित होती है और दूसरी धारा आत्म कल्याण के सागर की ओर प्रवाहित होती है। जिसने अपने पूर्व जन्म में सांसारिक विषयों के भोग के लिए कार्य किए हैं, उस कार्य के अनुरूप ही उनके

संस्कारों का निर्माण हुआ है। निर्मित संस्कारों के आधार पर उनके चित्त की धारा संसार सागर में जा मिलती है। जिन्होंने पूर्व जन्म में कैवल्य की साधना के लिए कार्य किया है उस कार्य के अनुरूप निर्मित संस्कारों से चित्त की धारा विवेक मार्ग से प्रवाहित होती हुई आत्म कल्याण के सागर में जा मिलती है। पहली धारा जन्म के साथ ही खुली होती है, परंतु दूसरी धारा को हम गुरु सतशास्त्र, ईश्वरीय चिंतन से खोलते हैं। संसार सागर की ओर बहने वाली धारा को रोकने के लिए वैराग्य का बंध लगाया जाता है और अभ्यास के द्वारा दूसरे मार्ग को गहरा कर चित्त की समस्त वृत्तियों के प्रवाह को विवेक स्रोत से कल्याण सागर के मार्ग में लगा दिया जाता है।

इससे स्पष्ट होता है कि अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर चित्तवृत्तियों के निरोध में सहायक साधन सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार पक्षी आकाश में अपने दोनों पंखों से उड़ता है, उसी प्रकार चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही संभव है। चित्त में जब तमोगुण की अधिकता होती है तो आलस्य, हतोत्साह, निद्रा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। चित्त की मूढ़ अवस्था में ये सारे दोष उत्पन्न होते हैं तथा चित्त की चंचलता का कारण रजोगुण है। तमोगुण के निवृत्ति अभ्यास के द्वारा और रजोगुण के निवृत्ति वैराग्य द्वारा होती है।¹³

श्रीमद्भगवद्गीता में चंचल मन को शांत करने का उपाय जब अर्जुन पूछता है तब भगवान श्रीकृष्ण उत्तर में कहते हैं कि—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (6/35, श्रीमद्भगवद्गीता)

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है, यद्यपि मन को वश में करना बहुत कठिन है, परंतु अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन को साधा जा सकता है। निरंतर अभ्यास के द्वारा जब तक मन को पूरी तरह सब विषयों से हटाकर एकाग्र नहीं किया जाता, तब तक किसी भी तरह का अधिगम करना संभव नहीं है। जिस विषय का हम अधिगम करना या कराना चाहते हैं, उसमें चित्त को एकाग्र किये बिना, अधिगम की प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकती। चित्त की इस एकाग्रता के लिए मन का अन्य विषयों से वैराग्य और जिस विषय का अधिगम करना है, उसमें निरंतर चित्त को लगाए रखने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। इस प्रकार किसी भी तरह के अधिगम की प्रक्रिया को अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से साधा जा सकता है। ऐसी भारतीय मनोविज्ञान की मान्यता है।

3.9.2 अधिगम में ज्ञान की भूमिका

जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करना और आवश्यक बातों को सीखना अधिगम का उद्देश्य है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए अधिगमकर्ता में अपने लक्ष्य के अनुरूप बुद्धि का होना परम आवश्यक है। अधिगम के साथ बुद्धि का गहरा संबंध है। बुद्धि और ज्ञान से संबंधित जो संकल्पना भारतीय मनोविज्ञान में हैं, उससे अधिगम का स्वरूप स्पष्ट होता है।

ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन योगवासिष्ठ में किया गया है। ज्ञान की प्राप्ति में अभ्यास और वैराग्य के महत्व को, ज्ञान की इन सात भूमिकाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य आत्मा का ज्ञान है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ही योगवासिष्ठ में ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन किया गया है। जो इस प्रकार है—

- 1 **शुभेच्छा**— दृश्य जगत् की नश्वरता का ज्ञान होने के उपरांत विषयों से वैराग्य उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् सत्य को सत्शास्त्र तथा सत्पुरुषों से जानने की इच्छा का जन्म होता है, इसी को शुभेच्छा कहते हैं।
2. **विचारणा**— सत्पुरुषों के संग और सत्शास्त्रों का अध्ययन करने के उपरांत अभ्यास और वैराग्य से चित्त के सदाचार की प्रवृत्ति को ही विचारणा कहते हैं।
3. **तनुमानसा**— शुभेच्छा और विचारणा नामक ज्ञान की भूमिकाओं का अभ्यास करने से मन सांसारिक विषयों के प्रति अशक्त हो जाता है, परिणामस्वरूप मन की स्थूलता कम हो जाती है, इसी को तनुमानसा कहते हैं।
- 4 **सत्त्वापत्ति**— ज्ञान की पूर्वोक्त तीनों भूमिकाओं का निरंतर अभ्यास करने से विषयों से विरक्ति हो जाती है, परिणामस्वरूप चित्त की शुद्ध आत्मा में उत्पन्न होने वाले स्थिरता को सत्त्वापत्ति कहते हैं।
5. **असंसक्ति**— पूर्व में वर्णित ज्ञान की चार अवस्थाओं का निरंतर अभ्यास होने के पश्चात् चित्त का संसार के विषयों से असंसक्ति होने पर सत्त्व के प्रकाश में चित्त के स्थिर होने को ही असंसक्ति कहते हैं।
6. **पदार्थाभावना**— ज्ञान की इस भूमिका का उदय, पूर्वोक्त पांचों भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त की आत्मा में दृढ़ स्थिति हो जाने से, बाहर के पदार्थों का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसे ही ज्ञान की पदार्थाभावनी भूमिका कहते हैं।

7. **तुर्यगा**— ज्ञान के पूर्वोक्त छः भूमिकाओं का अभ्यास होने के पश्चात आत्मभाव में स्वभाविक निष्ठा उत्पन्न हो जाती है। उस स्थिति को चित्त के अंतःकरण की तुर्यगा भूमिका कहते हैं, इसमें भेदरूप संसार की सत्ता मिटकर आत्मभाव में चित्त की अविचल भाव से स्थिति हो जाती है, इसी को ज्ञान की तुर्यगा अवस्था कहते हैं। यह जीवनमुक्ति की अवस्था भी कहलाती है। विदेह मुक्ति इस अवस्था से परे का विषय है।¹⁴

योग के अधिगम में ज्ञान की इन भूमिकाओं का विशेष महत्व है। अधिगम का उद्देश्य है, ज्ञान प्राप्त करना, ऐसी बातें सीखना जो कि जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हों। ज्ञान प्राप्त करने के लिये सीखने वाले में भी लक्ष्य के स्तर के अनुकूल बुद्धि होनी चाहिए। इस प्रकार बुद्धि का अधिगम से घनिष्ठ संबंध है। भारतीय मनोविज्ञान में बुद्धि और ज्ञान संबंधी जो संकल्पनायें हैं वे अधिगम के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती हैं।

ज्ञान की इन भूमिकाओं के वर्णन में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास से संबंधित और इनके मध्य में हम तारतम्य पाते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ अधिगम में ज्ञान की इन भूमिकाओं का संबंध बुद्धि, प्रज्ञा तथा ऋतंभरा से है। बुद्धि के विषय में भारतीय दर्शन की धारणा है कि बुद्धि प्रकृति के विकास का प्रथम चरण महत तत्त्व है। इसमें बुद्धि, अहंकार और मानस तीनों निहित हैं। महत सार्वभौम है। इसी को मनोविकास रूप बुद्धि कहते हैं, किन्तु बुद्धि को आध्यात्मिक चेतना अथवा ज्ञान नहीं, चैतन्य आत्मा का गुण माना गया है। अहंकार, मन और इंद्रियां बुद्धि के लिये कार्य करती हैं। बुद्धि का मुख्य कार्य निश्चय और निर्धारण करना है। इसका उदय सत्त्व गुण की प्रधानता से होता है। इसके मौलिक गुण हैं— धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। जब इसमें विकृति उत्पन्न होती है तो इसके गुण उलटकर अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और दैन्य हो जाते हैं। स्मृति और संस्कार बुद्धि में स्थित होते हैं। अतः धार्मिक साधनाओं में बुद्धि की पवित्रता पर बहुत बल दिया गया है।

अधिगम हमेशा उद्देश्य पूर्ण होता है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिस प्रकार के ज्ञान और व्यवहार की आवश्यकता होती है, उसे हम सीखना चाहते हैं। सीखने की प्रक्रिया मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से संपन्न होती है। अधिगमकर्ता की बुद्धि जब तक सीखे जाने वाले लक्ष्य के अनुकूल नहीं होती है तब तक अधिगम का उद्देश्य पूरा नहीं होता है। महर्षि पतंजलि योगसूत्र में सात प्रकार की प्रज्ञा की भूमिकाओं का वर्णन किया गया है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा (4/27, योगसूत्र)

जो इस प्रकार हैं—

1. त्रिगुणात्मक दृश्य जगत में जो कुछ जानना था उसको जान लिया। इस दृश्य जगत में तीन प्रकार के दुख — परिणाम दुख, ताप दुख और संस्कार दुख से जीव ग्रस्त है तथा सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों का विरोध भी दुख रूप ही है, इसलिए यह दृश्य जगत हेय है। इसके सिवा यहां जानने योग्य अब कुछ शेष नहीं रहा।
2. इस दृश्य जगत के दुख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है, जिसको दूर करना साधक का कर्तव्य होता है। योग के अधिगम से उसे दूर कर दिया। अब दूर करने योग्य कुछ शेष नहीं रहा।
3. निरोध समाधि के द्वारा जिसका साक्षात्कार करना था, उसे कर लिया अर्थात् हान का साक्षात्कार कर लिया। अब कुछ साक्षात् करने योग्य शेष नहीं रहा।
4. अविप्लव विवेकख्याति हानोपाय है। इसकी प्राप्ति होने के पश्चात् योग के साधक को योग के अधिगम से करने योग्य कोई भी कार्य शेष नहीं रह जाता।
5. दृश्य प्रकृति द्वारा द्रष्टा पुरुष को भोग और अपवर्ग दिलाने का प्रयोजन सिद्ध हो जाने के पश्चात् अब चित्त का कोई कार्य शेष नहीं रहा।
6. भोग और अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध होने के पश्चात् चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है।
7. दृश्य के गुणों का अपने कारण में लीन होने के पश्चात् द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।¹⁵

इस प्रकार विवेकख्याति प्राप्त होने के पश्चात् योग के साधक को प्रज्ञा के इन सात भूमिकाओं का साक्षात्कार हो जाता है। योग के अधिगम से निर्विचार समाधि में विशारद होने के पश्चात् अध्यात्म प्रसाद की प्राप्ति होती है, जिसके उपरांत प्रज्ञा ऋतंभरा हो जाती है। सत्य को धारण करने की योग्यता इस निर्मल बुद्धि में ही उत्पन्न होती है। निर्मल बुद्धि प्राप्त होने से आत्म साक्षात्कार होता है। अध्यात्म प्रसाद की प्राप्ति होने पर जिस प्रकार के प्रज्ञा का उदय होता है उसे ऋतंभरा कहते हैं। इससे संबंधित योगसूत्र — ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा (1/48, योगसूत्र)

स्वामी ओमानंद तीर्थ ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि निर्विचार समाधि में विशारद होने पर अध्यात्म प्रसाद की प्राप्ति होती है, इसके उपरान्त योगी में जिस प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसे ऋतंभरा प्रज्ञा कहते हैं। ऋत् का अर्थ सत्य होता है और भरा से तात्पर्य धारण करने वाला अर्थात् ऋतंभरा प्रज्ञा से आशय सत्य को धारण करने वाली बुद्धि से है। इस बुद्धि में अविद्या से उत्पन्न होने वाले विपर्यय ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। योग विद्या का अधिगम ऋतंभरा प्रज्ञा से ही संभव है। ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्तम योग की प्राप्ति होती है। इसका वर्णन करते हुए श्री व्यास जी ने लिखा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

वेदविहित श्रवण से, अनुमान अर्थात् मनन से और ध्यान अर्थात् निदिध्यासन से योगी इन तीन प्रकार से उत्पन्न प्रज्ञा द्वारा उत्तम योग का अधिगम करता है। सत्य और ऋत् के मध्य अंतर को इस प्रकार समझना चाहिए कि आगम और अनुमान के माध्यम से जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है उसे सत्य कहते हैं और उस सत्य का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् जो यथार्थ ज्ञान उपलब्ध होता है, उसे ऋत् कहते हैं। ऋत् से आशय साक्षात् अनुभूत सत्य से है।¹⁶

ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सभी संस्कारों को रोकने वाला होता है।

तज्जः संस्कारोन्यसंस्कार प्रतिबंधी (1/50, योगसूत्र)

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानंद जी ने कहा है कि समाधि से उत्पन्न होने वाला संस्कार दूसरे प्रकार के अन्य संस्कारों का प्रतिबंधी होता है अर्थात् अन्य दूसरे संस्कारों को उत्पन्न नहीं होने देता। एकाग्रता ही एकमात्र उपाय है जिससे ज्ञानातीत भूमि पर पहुंचा जा सकता है। चित्त की एकाग्रता में पूर्व के संस्कार बाधक की भूमिका निभाते हैं। चित्त के पूर्व संस्कारों की बाधाओं से मुक्ति पाने के लिए समाधिजात संस्कार परम आवश्यक है।

इसका अधिगम कराने के लिए स्वामी जी ने व्यवहारिक रूप से व्याख्या करते हुए कहा है कि तुम सभी लोगों ने विचार किया होगा, जब तुम मन को एकाग्र करने की चेष्टा करते हो तब तुम्हारे मन में नाना प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगते हैं। जैसे ही ईश्वर चिंतन का प्रयास करते हो उसी समय यह सारे संस्कार जागृत हो उठते हैं। दूसरे समय में ये उतने प्रबल नहीं होते, जितना मन को एकाग्र करते समय होते हैं। जैसे ही मन को

एकाग्र करने का प्रयास करते हो, ये संस्कार तुम्हारे मन को पूरी तरह आच्छादित कर लेते हैं।

एकाग्रता का अभ्यास करते समय यह सारे संस्कार इतने प्रबल क्यों होते हैं? तुम जानते हो, इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि जब तुम इन्हें दबाने की चेष्टा करते हो तब यह संस्कार अपने सारे बल से प्रतिक्रिया करते हैं। अन्य समय में यह जागृत नहीं होते हैं। “मन की एकाग्रता में बाधा उत्पन्न करने के लिए इन संस्कारों में विभिन्न प्रकार की शक्तियां व्याप्त हैं। ये संस्कार चित्त में किसी स्थान पर यह चुपचाप पड़े रहते हैं और जैसे ही हम एकाग्रता का अभ्यास करते हैं ये सारे संस्कार बाध की भांति झपट कर आक्रमण कर देते हैं, इनको रोकने में जिस समाधि की बात अभी की गई है उससे उत्पन्न होने वाले संस्कार पूरी तरह समर्थ हैं। उनका अभ्यास करना ही सबसे उत्तम उपाय है। इस समाधि के अभ्यास से जो संस्कार उत्पन्न होगा वह उतना शक्तिमान होगा कि अन्य संस्कारों के कार्य को पूरी तरह से रोककर उन्हें अपने वश में कर सकेगा।”¹⁷

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अधिगम का संबंध जन्म-जन्मांतर के उन संस्कारों से है जो मन में किसी न किसी रूप में पड़े रहते हैं और साधक जब योग का अभ्यास करते हुए समाधि की स्थिति में पहुंचने के योग्य होता है, तब चित्त के इन अवांछनीय संस्कारों से मुक्त होकर अपने यथार्थ आत्मस्वरूप को उपलब्ध हो जाता है। अधिगम का सर्वोच्च लक्ष्य भारतीय मनोविज्ञान में आत्मा की उपलब्धि या ज्ञान है। योग के अधिगमकर्ता में इस लक्ष्य को प्राप्त करने की पिपासा और इसकी प्राप्ति के लिए निरंतर अभ्यास करने की क्षमता होनी चाहिए।

3.10 भारतीय मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि

अत्यंत प्राचीनकाल से भारत में योगियों एवं दार्शनिकों की परंपरा में मानव मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाता रहा है। भारतीय मनोविज्ञान का उद्गम पाश्चात्य मनोविज्ञान से कहीं अधिक प्राचीन है। मनोविज्ञान का विकास जिस देश में होता है उसकी संस्कृति की झलक उसमें साफ तौर पर दिखाई देती है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य के विकास में आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व दिया गया है, जिसके परिणामस्वरूप अध्यात्म के क्षेत्र में भारत में अनेक प्रकार के मनोवैज्ञानिक अनुसंधान हुए हैं।

“सन् 1938 के भारतीय विज्ञान कांग्रेस अधिवेशन में डॉ. जे.सी. बोस ने कहा था कि प्राचीन भारतीय विद्वानों में अंतर दर्शन के द्वारा मनन करने की विशेष योग्यता थी। इस योग्यता को बढ़ाने से अंतर्दर्शन की आवश्यकता वाली समस्याओं को आसानी से सुलझाया जा सकेगा। संतों और योगियों के आंतरिक अनुभूति से प्राप्त, रहस्यवादी अनुभव को मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का विषय बनाना चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन के लिए भारत वर्ष उचित स्थान होगा।”¹⁸

भारत में मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र के एक शाखा के रूप में विकसित हुआ। भारतीय ऋषि आध्यात्मिक साधना में होने वाले विभिन्न अनुभवों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक समस्याओं का समाधान करते रहें हैं। भारतीय दर्शन में समाधि की अवस्था को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है, जो मनोवैज्ञानिक चिंतन का आधार है। आध्यात्मिक साधना में भारतीय साधकों ने मन की चंचलता को सबसे अधिक बाधक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इसके आधार पर भारतीय मनोविज्ञान को मन का विज्ञान कहा जा सकता है। भारतीय ज्ञान परंपरा के साधकों का परम लक्ष्य आत्म अनुसंधान कर आत्म साक्षात्कार प्राप्त करना रहा है। पश्चिमी मनोविज्ञान में मानसिक स्तर को ही सर्वोच्च माना गया है और भारत में आत्मा को मन से अलग माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे आत्मा होती है।

इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान को आत्म-साक्षात्कार का मनोविज्ञान भी कहा जा सकता है। भारत में ज्ञान और कर्म के योग को विशेष महत्व दिया गया है। ज्ञान के अभाव में कर्म और कर्म के अभाव में ज्ञान का महत्व नहीं होता है। योगवासिष्ठ में ज्ञान और कर्म को पक्षी के दो पंखों की भांति मोक्ष का साधन बताया गया है। भारतीय मनोविज्ञान सैद्धांतिक विवेचन से अधिक व्यवहारिक पक्ष को विस्तार देता है। अभ्यास और अनुभूति के द्वारा होने वाले व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थाई परिवर्तन को अधिगम कहा जाता है। किसी भी शिक्षण का साध्य अधिगम होता है, और अधिगम नए व्यवहार की प्राप्ति है। मनुष्य के जीवन में आत्म-साक्षात्कार के परिणामस्वरूप व्यवहार में जो परिवर्तन होता है वही मानव को एक विकसित और विवेकशील प्राणी के रूप में परिभाषित करता है। अद्वैत ज्ञान के बोध से आत्मिक आधार पर विकसित मनुष्य, विश्व-शांति और विश्व-बंधुत्व की भावना से जगत के जीवों के प्रति मित्र भाव रख सकता है। ऐसा विवेकशील मनुष्य ही लोक कल्याणकारी प्राणी हो सकता है।

3.11 भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान में अंतर

पाश्चात्य मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन करता है, इसलिए मनोविज्ञान को मानव व्यवहार का विज्ञान कहा जाता है। **भारतीय मनोविज्ञान** में मानस विज्ञान के अध्ययन के साथ ही साथ आत्म विज्ञान के अध्ययन को विशेष महत्व दिया जाता है, इसलिए भारत में विद्या को अध्यात्म विद्या कहा गया है। विद्या वह है जो मुक्ति दिलाए और मन को बंधन का कारण माना गया है। भारतीय मनोविज्ञान इंद्रियों के नियंत्रण पर विशेष बल देता है। इंद्रियों के निरोध से मन का निरोध होता है, यद्यपि मन भी एक इंद्रिय ही है और मन के निरोध से आत्म साक्षात्कार होता है। आत्म-साक्षात्कार मानव जीवन का परम लक्ष्य है, इसलिए भारतीय मनोविज्ञान का उद्देश्य मन के अध्ययन के साथ ही साथ आत्म-विज्ञान का अनुसंधान करना है। डॉ. हरी अन्ना के शब्दों में **भारतीय मनोविज्ञान वास्तव में आत्म विज्ञान है।**¹⁹

मन की प्रकृति को लेकर भारतीय और पाश्चात्य मनोविज्ञान में अंतर पाया जाता है। भारत में मन को क्रियाशील माना गया है। मन के क्रियाशील होने के नाते ही मन का बाह्य इंद्रियों एवं आत्मा से संयोग होता है। संयोग से पहले मन में सभी प्रकार के भाव एवं गुणों का अभाव रहता है। **पाश्चात्य मनोविज्ञान** के अंतर्गत शरीर की क्रियाशीलता से मन को क्रियाशील माना गया है, इसलिए मन की स्वतंत्र सत्ता को पश्चिमी मनोविज्ञान में स्वीकृति नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से **भारतीय मनोविज्ञान** की ऐसी मान्यता है कि मनुष्य की समस्त कामनाओं के नष्ट होने के पश्चात् मन निर्विकार और निर्मल होकर शुद्ध हो जाता है। शुद्ध मन सत्त्व स्वरूप होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में मन की इस प्रकार की अवधारणा प्राप्त नहीं होती है, वहां मन को मानसिक प्रक्रियाओं के ज्ञान का साधन माना गया है और भारत में मन को आत्म ज्ञान का साधन माना गया है।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन में आध्यात्मिक तत्वों की विवेचना नहीं की जाती है। **भारतीय मनोवैज्ञानिक** मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण के पश्चात् आत्म-प्रकाश, आत्मानंद शाश्वत, शांति, आदित्य का भी अन्वेषण करते रहते हैं, क्योंकि उनका परम उद्देश्य आनंद की प्राप्ति करना है। इस प्रकार **पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक नास्तिक तथा भारतीय मनोवैज्ञानिक आस्तिक दर्शन के प्रणेता है।**

भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान में अध्ययन के विषय और अध्ययन प्रणाली को लेकर जो अंतर दिखाई देता है उसके बावजूद भी अध्ययन विषय और अध्ययन के उद्देश्य में काफी समानता पाई जाती जाती है।

डॉ. लक्ष्मी शुक्ला के शब्दों में “व्यक्ति का मन और व्यवहार भारतीय और पाश्चात्य मनोविज्ञान का विषय है। अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना, स्वयं को जानना, अज्ञानता के अंधकार से मुक्त होकर, प्रकाश की ओर बढ़ना दोनों का उद्देश्य है।”²⁰

भारतीय मनोविज्ञान में मन को एक यंत्र के रूप स्वीकार किया गया है और मन को नियंत्रित करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का वर्णन किया गया है। यथा, अभ्यास, वैराग्य, भक्ति, साधन-चतुष्टय, अष्टांग योग आदि। पश्चात् मनोविज्ञान में मन के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तविक मान कर निरीक्षण एवं परीक्षण किया जाता है वहां मन को कंप्यूटर के सदृश्य यंत्र के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय मनोविज्ञान में मन के अध्ययन के लिए इस तरह की कोई वैज्ञानिक विधि को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि यहां के मनोविज्ञान में आत्मदर्शन की विधि को स्वीकार किया गया है।

भारतीय मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण में मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण उसके अंतःकरण में निहित श्रद्धा से होती है। जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होगी उसी के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण होगा। यदि व्यक्ति की श्रद्धा विषयों में आसक्त होने की होगी तो उसका व्यक्तित्व विषय वासनाओं से युक्त होगा। उसके व्यक्तित्व में राजनीतिक और तामसिक गुणों की प्रधानता होगी और यदि उसकी श्रद्धा सात्विक होगी तो उसका व्यक्तित्व सात्विक गुणों से ओत-प्रोत होगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मानव व्यक्तित्व श्रद्धा से युक्त होता है।

अधिगम व्यवहार का मनोविज्ञान है। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत सीखता रहता है। मानव व्यवहार का सीधा संबंध मन से है, क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया मन से प्रभावित होती है। मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए उसके चेतन और अवचेतन मन का अध्ययन अति आवश्यक है। अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक विधियों के द्वारा इसका अध्ययन किया जा सकता है। “भारतीय मनोविज्ञान की विधियां मनुष्य के मन और व्यवहार के अध्ययन की विधियों के साथ ही साथ आध्यात्मिक विधियों को विशेष महत्व देता है, क्योंकि आध्यात्मिक आधार पर ही एक आदर्श मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण किया

जा सकता है। भारतीय मनोविज्ञान में अंतर-दर्शन और निरीक्षण की विधि का दर्शन होता है परंतु इसमें वैज्ञानिक उपकरणों पर आधारित प्रयोग विधि का अभाव भी दर्शित होता है।²¹

इस प्रकार भारतीय मनोवैज्ञानिक विधियों में तार्किक विश्लेषण की पारंपरिक विधि, प्रत्यक्ष विधि, यौगिक या व्यवहारिक विधि और अंतःदर्शनात्मक या आत्मदर्शन की विधि का दर्शन होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. अजीमुर्रहमान, (1978), सामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली- 110007। पृष्ठ 1-11 तक।
2. अजीमुर्रहमान, (1978), सामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली- 110007। पृष्ठ 238।
3. अजीमुर्रहमान, (1978), सामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली- 110007। पृष्ठ 239।
4. मिश्र, बृजकुमार, (2010) मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन, पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली-110001।
5. डॉ. ब्रह्मप्रकाश, (2009), बाल मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 22/4735 प्रकाश दीप बिल्डिंग, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली। पृष्ठ- 217।
6. मुरजानी, डॉ. जानकी एवं जैन, डॉ. मीना, (2007), सामान्य मनोविज्ञान, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स जयपुर- 302003। पृष्ठ-123
7. डॉ. ब्रह्मप्रकाश, (2009), बाल मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 22/4735 प्रकाश दीप बिल्डिंग, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली। पृष्ठ- 197 से 204 तक।
8. मुरजानी, डॉ. जानकी एवं जैन, डॉ. मीना, (2007), सामान्य मनोविज्ञान, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स जयपुर- 302003। पृष्ठ- 282।
9. वही पेज 284
10. वहीं पेज 296
11. मुरजानी, डॉ. जानकी एवं जैन, डॉ. मीना, (2007), सामान्य मनोविज्ञान, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स जयपुर- 302003। पृष्ठ- 303 से 304।
12. तोमर लज्जाराम, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 56 से 58।
13. तीर्थ स्वामी ओमानंद, पातंजलयोग प्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर पृ. संख्या 181 से 182।
14. आत्रेय डॉ. भीखनलाल, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धांत, पृ. सं. 453 से 454।
15. तीर्थ स्वामी ओमानंद, पातंजलयोग प्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर पृ. संख्या 148।
16. वहीं पृ. 278।
17. स्वामी विवेकानंद, राजयोग, पृ. सं. 178 से 179।
18. .G. Bose in Sharma, R.N. (Ed.). Indian Psychology, P.4
19. डॉ. हरियन्ना, एम, (1983), भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली, पृ.सं. 64
20. डॉ. शुक्ला, लक्ष्मी, (1971), भारतीय मनोविज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल पृष्ठ - 10-11

21. सिन्हा, यदुनाथ (1958), इण्डियन साइकोलाजी, वोल्यूम –1, सिन्हा पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता ।

अध्याय—4

महर्षि पतंजलि योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक

4.1 महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र का परिचय

योगदर्शन भारतीय ज्ञान परंपरा के षड्दर्शनों में से एक है, जहां अन्य पांच दर्शन तत्वों की मीमांसा करने तथा एक दूसरे का खंडन—मंडन करने में तल्लीन दिखाई देते हैं, वहीं योग दर्शन शरीर, मन, इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर संस्कारों से मुक्ति तथा चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् समाधि प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। ऐसी मान्यता है कि ईसा से सौ दो सौ साल पहले महर्षि पतंजलि द्वारा योग दर्शन की रचना की गई। योग की अनेक शाखाओं का वर्णन प्राचीन समय से ही प्राप्त होता है। **श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सन्यासयोग** आदि का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। इन सबके बावजूद भी अष्टांग योग का प्रणेता महर्षि पतंजलि को ही माना जाता है। इसी को योग का आधार बनाकर योग की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है।

योग दर्शन के दूसरे सूत्र में महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है कि “चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं”¹।

योग की यह परिभाषा ही संपूर्ण योगदर्शन का आधार स्तंभ है। मन का संसार में भटकाव तब तक बना रहता है जब तक चित्त की वृत्तियां एकाग्र नहीं होती हैं। मन स्वभाव से ही चंचल है। जगत के चारों दिशाओं में भटकते रहना मन का स्वभाव है। आत्म—साक्षात्कार में चंचल मन बाधक एवं निश्चल मन साधक के रूप में काम करता है।

योग की साधना से साधक स्थूल भाव से सूक्ष्म भाव की यात्रा करता है। योग बाह्य जगत से अंतर्जगत की यात्रा है। योग का मुख्य उद्देश्य आत्मतत्त्व का प्रत्यक्षीकरण है। मनुष्य की इंद्रियां जब स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होती हैं तब आत्मतत्त्व को ग्रहण करने के योग्य होती हैं।

सामान्यतया चित्त की वृत्तियां भौतिक जगत के विषय पदार्थों को ग्रहण करने में सक्षम होती हैं, परंतु “अष्टांगयोग अर्थात्— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की साधना से चित्त की वृत्तियों का निरोध होने के पश्चात् आत्म तत्व का साक्षात्कार होता है”²।

इन यौगिक क्रियाओं के अभ्यास से जीवन के परम लक्ष्य, मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार की यौगिक शाखाओं यथा—हठयोग, मंत्रयोग, जपयोग, लययोग, ज्ञानयोग आदि का जन्म हुआ। वर्तमान में इन योग की शाखाओं की संख्या लगभग सौ से ऊपर हो गई है।

योग की साधना से मनुष्य अपने जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। योग मानव जीवन को सफल एवं सार्थक बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आत्मिक विकास में योग की महत्वपूर्ण भूमिका है। यौगिक अभ्यास के माध्यम से व्यक्ति अपना चतुर्दिक विकास कर सकता है। संकल्प और धारणा शक्ति के माध्यम से मनुष्य अपने जीवन में किसी भी लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अष्टांगयोग में वर्णित योगांगों का नियमित अभ्यास करके मनुष्य अपने जीवन में वांछित सफलता को प्राप्त कर सकता है।

वर्तमान समय की जीवन शैली में व्याप्त बाधाओं को दूर करने के साथ ही साथ जीवन को व्यवस्थित, संतुलित एवं अनुशासित करने में योगदर्शन के सूत्र सहायक हैं, इनकी साधना करके मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

पातंजल योगदर्शन के प्रमुख पाद

योगसूत्र के रचनाकार महर्षि पतंजलि ने अध्ययन की दृष्टि से योगदर्शन को चार भागों में विभक्त किया है। इस विभाजन को ही पाद की संज्ञा दी गई है। क्रमानुसार योगसूत्र के निम्नलिखित चार पाद हैं— प्रथम—समाधिपाद, द्वितीय—साधनपाद, तृतीय—विभूतिपाद और चतुर्थ—कैवल्यपाद। योगसूत्र इन चारों पादों को मिलाकर एक सौ पंचानवे सूत्रों में वर्णित है।

समाधिपाद—योगसूत्र के इस पाद में **इक्यावन सूत्रों** का वर्णन मिलता है, जिसमें योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए योग से प्राप्त होने वाले परिणामों का विस्तार से वर्णन किया गया है। योगसूत्र का प्रारंभ एक अनुशासनात्मक प्रक्रिया के रूप में किया गया है। जीवन में आध्यात्मिक अनुशासन के माध्यम से ही द्रष्टा का, दृश्य जगत से वियोग होने के पश्चात् जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि ने चित्त—वृत्तियों के निरोध को ही योग की संज्ञा दी है। “चित्त की वृत्तियों के कारण ही द्रष्टा इस जड़— दृश्य जगत से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और अपने

वास्तविक चैतन्य स्वरूप को भूलकर, जो वृत्ति द्रष्टा के सामने होती है, उसे ही अपना रूप मान लेता है”³।

द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही योग का परम लक्ष्य है। इस पाद में चित्त-वृत्तियों तथा उनके निरोध के उपायों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् समप्रज्ञात और असमप्रज्ञात समाधि का वर्णन किया गया है। योग की साधना में होने वाले विघ्न-विक्षेपों के साथ ही साथ ईश्वर और उसके गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। “योग की साधना में चित्त की निर्मलता का विशेष योग होता है। इसकी निर्मलता के लिए सुख-दुख, पुण्य-पाप के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावना का विस्तार से वर्णन किया गया है।”⁴

सबसे अंत में योग के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले सबीज और निर्बीज समाधि का वर्णन करते हुए समाधि पाद को विराम दिया गया है।

साधनपाद—योगसूत्र के द्वितीय पाद साधनपाद में सूत्रों की संख्या 55 है। इस पाद में मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए साधना के मार्ग का वर्णन किया गया है, जिन साधकों में पूर्व-जन्म के संस्कार के कारण यौगिक साधना करने के गुण हैं, उनके साधना के मार्ग का वर्णन समाधि पाद में किया गया है। सामान्य परिस्थितियों में रहने वाले ऐसे लोग जो विविध प्रकार की राग-द्वेष आदि वासनाओं से ग्रस्त हैं, उनके योग की सिद्धि के लिए साधना का मार्ग साधनपाद में विस्तार से वर्णित है। “योगसूत्र के द्वितीय पाद के प्रथम — सूत्र में क्रियायोग का वर्णन किया गया है, जिसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग की संज्ञा दी गई है।”⁵

क्रियायोग के वर्णन के पश्चात् इससे दूर होने वाले पंच क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का विस्तार से वर्णन किया गया है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग को ही दुख का कारण माना गया है। साथ ही साथ दुख के नाश का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। साधनपाद में ही “अष्टांगयोग— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया गया है।”⁶

योग के इन आठ अंगों में से प्रथम अंग यम से पाँचवें अंग प्रत्याहार तक के योगांगों का वर्णन इस पाद में विस्तार से किया गया है। जीवन में योग के अंगों की साधना करने से अशुद्धियों का नाश होने के पश्चात् विवेकख्याति की प्राप्ति होती है। प्रत्याहार की साधना से योगी, इंद्रियों का उससे संबंधित विषयों के प्रति प्रवाह को रोककर, इंद्रियों पर

विजय प्राप्त करता है। इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् आत्मसाक्षात्कार होता है। योग के इन साधनों का विस्तार से वर्णन इस पाद में किया गया है।

विभूतिपाद— मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए योगसूत्र के साधनपाद में वर्णित अष्टांगयोग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का वर्णन किया गया। शेष तीन योगांगों—**धारणा, ध्यान और समाधि का विस्तार से वर्णन विभूतिपाद में किया गया है।** इस पाद में **पचपन सूत्रों** का वर्णन है। “धारणा, ध्यान और समाधि का एक हो जाना संयम कहलाता है।”⁷

संयम से तात्पर्य मन की एकाग्रता से भी लिया जा सकता है। योगांगों की साधना करने के पश्चात् साधक जब संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है तब उसे प्रज्ञा के आलोक की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा के आलोक में मन, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारों से मुक्त होकर एकाग्रता की अवस्था को प्राप्त होता है।

अष्टांगयोग की साधना से साधक के लिए संसार में किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं रह जाता है। बड़ी से बड़ी विभूतियां भी उसके लिए सामान्य प्रतीत होती हैं, क्योंकि ऐसे साधक का लक्ष्य सिद्धियों की प्राप्ति न होकर जीवन के परम लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस पाद में वर्णित विभिन्न प्रकार की विभूतियों को प्राप्त करने का लक्ष्य इस जगत के रहस्यों के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही साथ जगत की अनित्यता का बोध कराना है। संसार की नश्वरता का ज्ञान होने के पश्चात् योग के साधक को संसार के किसी भी विषय में कोई आकर्षण रह नहीं जाता, परिणामस्वरूप एकमात्र कैवल्य की प्राप्ति ही योगी के जीवन का लक्ष्य रह जाता है। योगसूत्र के तृतीय पाद में संयम के फल का वर्णन करने के साथ ही साथ कैवल्य पाद में वर्णित विषय कैवल्य की प्राप्ति के लिए बुद्धि और पुरुष की शुद्धि को कारण बताकर विभूति पाद का समापन किया गया है।”⁸

कैवल्यपाद—योगसूत्र के चतुर्थ पाद में **चौतीस सूत्रों** का वर्णन मिलता है। विभूतिपाद में जिन सिद्धियों का वर्णन किया गया है “ये सिद्धियां जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि से प्राप्त होती हैं।”⁹

इन सिद्धियों से योगी के चित्त में कर्म के संस्कार किसी न किसी रूप में संचित रहते हैं, परिणामस्वरूप जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है। जन्म-मरण से निवृत्त हुए बिना कैवल्य की प्राप्ति संभव नहीं है। समाधि से प्राप्त सिद्धियों द्वारा साधक अपने कर्म के संस्कारों को दग्ध कर कैवल्य की अवस्था को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन एक सौ पंचानबे सूत्रों एवं चार पादों में वर्णित है, जिसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के जीवन को सुख-दुख, लाभ-हानि, जीवन-मृत्यु, हर्ष-शोक आदि बंधनों से मुक्त कर परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कराना है। योगदर्शन का लक्ष्य द्रष्टा का दृश्य जगत से निवृत्ति के पश्चात् अपने स्वरूप में स्थित होना है। सूत्रकार ने चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य को एक सशक्त साधन के रूप में माना है, क्योंकि अनासक्त हुए बिना कोई साधना सफल नहीं होती है, इसलिए महर्षि पतंजलि ने वैराग्य के अभ्यास पर विशेष जोर दिया है। योग के आठ अंगों का अभ्यास करने से साधक के चित्त की शुद्धि होती है और चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, परिणामस्वरूप द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होता है, यही योग का परम उद्देश्य है।

4.2 महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा

सामान्य अर्थों में अधिगम से अभिप्राय सीखने से है। हम पूरे जीवन में किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ हर समय सीखते रहते हैं। व्यक्तित्व का विकास सीखने की प्रक्रिया के द्वारा होता है। वर्तमान में हम जो कुछ भी हैं वह हमने किसी न किसी प्रकार से सीखा ही है।

इस संसार में मनुष्य का जन्म धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के लिए हुआ है। इन पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए हम जीवन भर प्रयास करते रहते हैं। पुरुषार्थों की सिद्धि के पश्चात् ही हमें अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होता है।

पातंजल योगसूत्र के प्रथमपाद— समाधिपाद के उनतीसवें सूत्र में “ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च” में अधिगम शब्द आया है। यहां अधिगम का अर्थ अन्तरात्मा अर्थात् द्रष्टा के स्वरूप का ज्ञान है। अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान अष्टांग योग का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति योगांगों का अनुष्ठान करने से ही होती है। योगसूत्र के द्वितीय पाद के अट्ठाइसवें सूत्र में कहा गया है कि “योगांगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धियों का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति पर्यंत हो जाता है।”¹⁰

सामान्यतया हमें संसार का ज्ञान, ज्ञान के करणों से प्राप्त होता है। ये दो प्रकार के होते हैं —

1. बाह्य-करण
2. अंतःकरण

“बाह्य—करण के अंतर्गत पांच ज्ञानेंद्रियां और अंतःकरण के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार शामिल हैं। इसे अंतःकरण—चतुष्टय कहते हैं। ज्ञान के इन दो साधनों के माध्यम से हम जीवन भर सीखते रहते हैं।”¹¹

यह संसार नाम—रूपात्मक है। हमारे मस्तिष्क में संसार का ज्ञान चित्तवृत्ति के रूप में अंकित होता है। शब्दों के द्वारा चित्त में उन शब्दों का एक रूप प्रकट होता है, तत्पश्चात् उसका ज्ञान हमें होता है। मस्तिष्क शब्द नहीं, बल्कि चित्त की भाषा अर्थात् दृश्य को पढ़ता है। जब तक किसी शब्द का रूप मस्तिष्क में नहीं बनता, तब तक उसका हमें ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

हर शब्द का एक रूप और हर रूप का एक शब्द ही हमारे ज्ञान का आधार है। सीखने की इस प्रक्रिया में हम श्रुत—बुद्धि और अनुमान—बुद्धि का प्रयोग करते रहते हैं। श्रुत—बुद्धि का अधिगम सुनकर, पढ़कर और अनुमान—बुद्धि का अधिगम प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर होता है।

संसार का ज्ञान श्रुत—प्रज्ञा और अनुमान—प्रज्ञा द्वारा हो सकता है, परंतु आत्म—स्वरूप का ज्ञान ऋतंभरा—प्रज्ञा से प्राप्त होता है। ऋतंभरा—प्रज्ञा की प्राप्ति के संबंध में योगसूत्र के प्रथमपाद—समाधिपाद के सैतालीसवें सूत्र में कहा गया है कि “योग की साधना के पश्चात् जब निर्विचार समाधि अत्यंत निर्मल होती है तब अध्यात्म प्रसाद की प्राप्ति होती है। इस अध्यात्म प्रसाद की प्राप्ति के पश्चात् ही प्रज्ञा ऋतंभरा होती है।”¹²

इस ऋतंभरा प्रज्ञा से वस्तु के यथार्थ और पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होता है। योगसूत्र में आत्मस्वरूप के ज्ञान को अधिगम कहा गया है। अधिगम, द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना है और यह तब होता है जब चित्त की सारी वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं। पातंजल योगसूत्र में योग, चित्त—वृत्तियों का निरोध है।

इस योग का अधिगम तब होता है, जब प्रज्ञा ऋतंभरा होती है। सामान्य परिस्थितियों में जो अधिगम हमें होता है वह सीखने के साधनों अर्थात्— बाह्य—करण और अंतःकरण चतुष्टय के द्वारा ही होता है। इन करणों से प्राप्त ज्ञान चित्त—वृत्तात्मक होता है। योग में अधिगम की अवधारणा ऋतंभरा प्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान से है। इस ज्ञान से मुक्ति मिलती है। योग विद्या है और विद्या उसे कहते हैं जो मुक्ति दिलाए— “सा विद्या या विमुक्तये”। विद्या वह है जो मुक्ति प्रदान करें। योग विद्या से द्रष्टाका दृश्य से वियोग हो जाता है। इसे ही योग कहते हैं।

संसार की सृष्टि अविद्याजनित ज्ञान के कारण होती है। “अविद्या से जन्म लेने वाला ज्ञान क्लेश प्रदान करता है। सारे क्लेशों का मूल अविद्या है।”¹³

अविद्या से मुक्ति विद्या प्रदान करती है। योग वह विद्या है जो मुक्ति दिलाती है। योग का अधिगम जीव को क्लेशों से मुक्त कर सकता है।

प्रत्यक—चेतना का अधिगम ही योग का अधिगम है। योग के अधिगम के बिना विद्या और अविद्या भी अंधकार को दूर नहीं कर सकते यजुर्वेद में कहा गया है कि जो अनात्म ज्ञान (शास्त्रीय विद्या या अविद्या) की उपासना करते हैं, वे गहन अंधकार अर्थात् सांसारिक उपभोग के साधनों में आसक्त होते हुए, अंततः नारकीय जीवन को व्यतीत करते हैं और वे जो केवल आत्म ज्ञान (विद्या अर्थात् ब्रह्म तत्त्व) की उपासना में अनुरक्त रहते हैं। वे धर्म, अर्थ और कामवासना के अवशेष रहने से गहनतम अंधकार को प्राप्त होते हैं। (यजुर्वेद 40/12)“¹⁴

अविद्याजनित ज्ञान से जो अधिगम होता है उससे इस लोक में अभ्युदय और विद्या जनित ज्ञान से जो अधिगम होता है उससे परलोक में निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है और मोक्ष की प्राप्ति योग विद्या से ही संभव है।

परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि यौगिक अधिगम के पश्चात् ही संभव है। मुण्डकोपनिषद् में इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए विद्या को परा और अपरा नाम से दो भागों में विभक्त किया गया है।”¹⁵

ऐहिक अभ्युदय दिलाने वाली **विद्या अपरा** और भवसागर से मुक्त कराकर परम तत्त्व का ज्ञान कराने वाले विद्या को **पराविद्या** कहा गया है। योग विद्या का अधिगम पराविद्या के माध्यम से ही संभव है। यह तभी हो सकता है जब ऋतंभरा प्रज्ञा की प्राप्ति हो जाए। “ऋतंभरा प्रज्ञा से यथार्थ और पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होता है। यह ज्ञान **बाह्य—करण** और **अंतःकरण** के माध्यम से प्राप्त नहीं हो सकता। स्वरूप का अधिगम, जब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है तभी संभव है।”¹⁶

शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान अस्मिताजन्य होता है। अस्मिता का जन्म अविद्या के कारण होता है और द्रष्टा और दृश्य संयोग से अविद्या का जन्म होता है। “संसार की सृष्टि का कारण द्रष्टा और दृश्य संयोग है। यह संयोग ही दुःख का कारण है।”¹⁷

संसार का हर जीव दुःख के कारण ही सुख खोजता रहता है। सुख की खोज के लिए ही हम सतत् अधिगम की प्रक्रिया में शामिल रहते हैं। सुख की खोज जीवों के दुःखी

होने का प्रमाण है, क्योंकि खोज उसकी होती है जो होता तो है मगर कहीं खो गया है। खोई हुई चीज को हम खोजते रहते हैं। प्रकृति से पुरुष का योग हो जाने के पश्चात् पुरुष अपने स्वरूप को भूलकर प्रकृति के स्वभाव को ही अपना रूप समझने लगता है। यही योगसूत्र का “वृत्तिसारूप्यमितरत्र है।”¹⁸

द्रष्टा और दृश्य का संयोग चित्त वृत्तियों का निर्माण करता है और ये वृत्तियां ही हमारे सांसारिक अधिगम का आधार हैं। वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन्हीं पंच वृत्तियों के साथ जीव, जगत में जीवन व्यतीत करता है। जगत का सारा ज्ञान चित्त—वृत्तात्मक है। यह ज्ञान दृक और दर्शन शक्ति की एकता के पश्चात् जन्म लेने वाले अस्मिता के कारण होता है।”¹⁹

जिन योगियों को प्रत्यक्षचेतना का अधिगम होता है, उनके लिये पुरुष के ज्ञान के पश्चात् प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है और इस अभाव के पश्चात् पर—वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है।

जिनकी प्रज्ञा ऋतंभरा होती है उन्हें इस संसार में सर्वत्र परिणाम, ताप और संस्कार दुःख तथा तीन गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण यत्र—तत्र सर्वत्र दुःख ही दिखाई देता है।”²⁰

ऋतंभरा प्रज्ञा के अधिगम के पश्चात् योगी को यह दृश्य जगत किसी न किसी रूप में दुःख रूप ही दिखाई देता है। दुःख रूप संसार का दर्शन उन्हें होता है, जिन्हें अपने आत्म—स्वरूप का अधिगम हो गया है। आत्मस्वरूप का अधिगम ऋतंभरा प्रज्ञा की प्राप्ति के पश्चात् ही होता है।

योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा द्रष्टा का दृश्य जगत की वृत्तियों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में उपस्थित होना है। जब दृश्य जगत की वृत्तियों से द्रष्टा का वियोग होता है और द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है तब योग का अधिगम होता है।

योग के इस अधिगम में ईश्वर प्रणिधान एक साधन है। क्योंकि उसमें सर्वज्ञता का ज्ञान नित्य है। “यह ईश्वर विशेष पुरुष है, जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सर्वथा मुक्त है। यह पूर्वजों का भी गुरु है, क्योंकि इसका किसी समय में अवच्छेद नहीं हुआ है। इस ईश्वर के स्वरूप का चिंतन और नाम जप करने से अंतरायों का अभाव और आत्मस्वरूप का भी ज्ञान होता है।”²¹

यह सारा जगत प्रकृति और पुरुष के मेल से बना है। प्रकृति काल के अधीन है और पुरुष प्रकृति से मुक्त तथा कालातीत है। ईश्वर के स्वरूप का चिंतन करने से द्रष्टा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है। द्रष्टा के स्वरूप का साक्षात्कार ही योग का अधिगम है। योग के अधिगम में चित्त के नौ विच्छेप—

“व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व अंतराय उपस्थित होते हैं और चित्त के विच्छेपों के ही साथ सहभुव भी आते हैं, जो इस प्रकार हैं— दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास। यह पांच विघ्न भी आते हैं।”²²

योग के अधिगम में यह विघ्न, बाधक की भूमिका निभाते हैं। इन विघ्नों के साथ योग के परम लक्ष्य आत्मस्वरूप का ज्ञान संभव नहीं है। योगसूत्र में वर्णित इन विघ्नों को दूर करने के लिए एकतत्व का अभ्यास करना चाहिए।”²³

ईश्वर के स्वरूप का चिंतन और उसके नाम ओम् (ॐ) का जप करने से इन अंतरायों का अभाव हो जाता है। इन विघ्नों की उपस्थिति, आत्मस्वरूप का बोध होने में बाधक की भूमिका निभाते हैं। जिस प्रकार प्रकाश की उपस्थिति मात्र से अंधकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक चेतना के अधिगम से अंतरायों का अभाव हो जाता है। अंधकार, वास्तव में प्रकाश का अभाव ही है। उसी प्रकार चित्त के विच्छेप प्रत्येकचेतना के अधिगम का अभाव हैं, योग के अधिगम से स्वरूप का साक्षात्कार होने मात्र से चित्त के विघ्न दूर हो जाते हैं।

ऋतंभरा प्रज्ञा, सत्य का ज्ञान कराने वाली प्रज्ञा है, आत्म तत्व का अधिगम है। सत्य का बोध है। वास्तविक सत्य का बोध इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान से नहीं वरन् ऋतंभरा प्रज्ञा संभव है। सत्य के साक्षात्कार से अधिगमकर्ता को मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

4.3 महर्षि पतंजलि योगसूत्र में अधिगम का विवेचन

4.3.1 ईश्वर—प्रणिधान और चेतना का अधिगम

योग के अधिगम का लक्ष्य विवेकख्याति से द्रष्टा और दृश्य के संयोग का कारण अविद्या और अविद्या से जन्म लेने वाले अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का नाश कर निर्बीज समाधि की सिद्धि है। “ईश्वर—प्राणिधान से असंप्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो सकती है।”²⁴

ईश्वर—प्राणिधान से तात्पर्य ईश्वर की शरणागति अर्थात् भक्ति से है। ईश्वर के गुणों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन से भगवान में अनन्य प्रेम हो जाता है। इस प्रेम के घटित हो जाने के बाद भक्त अपने समस्त कर्मों को प्रभु को समर्पित कर देता है, और उनकी इच्छा मानकर ही संसार के सारे कर्म को निष्काम भाव से द्वंद्व—रहित होकर करता रहता है। निष्काम कर्म करने को ही कर्म की कुशलता कहते हैं। योग वास्तव में कर्म की कुशलता है। ईश्वर की शरणागति से कुशल कर्म करने की साधक में योग्यता विकसित होती है, जिसके परिणामस्वरूप समाधि की सिद्धि होती है।

समाधि की सिद्धि में ईश्वर की शरणागति का महत्व इसलिए है क्योंकि “ईश्वर अन्य पुरुष की तरह नहीं, बल्कि पुरुष—विशेष है, क्योंकि ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से किसी भी प्रकार से संबंधित नहीं है।”²⁵

इस जगत में प्रकृति और पुरुष का संबंध अनादि सिद्ध है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति और गुणातीत पुरुष का संयोग अविद्या के कारण हुआ है। अविद्या से जन्म लेने वाला अहंकार और अहंकार से शरीर तथा इंद्रियों का जन्म होता है। जन्म लेने वाले जीवों में राग, द्वेष और अभिनिवेश संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। इस जगत में जीव, जीवन भर अहंकार के कारण चित्त में संकलित वृत्तियों के संस्कारों से सीखता रहता है। योग के अधिगम से विवेकख्याति प्राप्त होने के पश्चात् द्रष्टा और दृश्य के संयोग से निर्मित एकात्मता का नाश होता है, परिणामस्वरूप अविद्या से जन्म लेने वाला अहंकार समाप्त हो जाता है। अस्मिता के मिटते ही राग, द्वेष और अभिनिवेश के संस्कार चित्त से विदा हो जाते हैं। योग विद्या से जब अविद्या का नाश हो जाता है तब साधक के द्वारा जो कर्म होता है वह कर्म सामान्य लोगों के द्वारा किया जाने वाला कर्म नहीं रहता है।

सामान्यतया इस जगत में सामान्यजन तीन प्रकार के कर्म करते हैं— पुण्य कर्म, पाप कर्म और पाप—पुण्य मिश्रित कर्म, परंतु जिन्हें “योग के अधिगम से विवेकख्याति की प्राप्ति हो चुकी है ऐसे योगी इस संसार में पुण्य—पाप से रहित अशुक्ल और अकृष्ण कर्म करते हैं।”²⁶

पुण्य—पाप से रहित कर्म करने की कुशलता को ही योग कहते हैं। अहंकार से युक्त कर्म राग—द्वेषात्मक होते हैं। जिस कर्म से सुख की अनुभूति होती है उस कर्म के प्रति राग और जिस कर्म से दुख की अनुभूति होती है, उस कर्म के प्रति द्वेष का होना सहज

स्वाभाविक है। सुख—दुख से प्रेरित कर्म अहंकार युक्त होता है। अहंकार के कारण ही व्यक्ति को जीवन में सुख—दुख की अनुभूति होती है। अहंकार जब पुष्ट होता है तब सुख की अनुभूति और जब अहंकार को ठेस लगता है तो दुख की अनुभूति होती है।

वास्तव में देखा जाए तो सुख—दुख का कारण द्रष्टा और दृश्य की एकात्मता से उत्पन्न अहंकार ही है। मृत्यु का भय भी अहंकार के कारण ही होता है। मृत्यु के भय की व्याप्ति को अभिनिवेश कहते हैं। यह भय विवेकवानों में भी देखा जाता है। जन्म और मृत्यु की यात्रा अविद्या के कारण जन्म—जन्मांतर से चली आ रही है।

योग के अधिगम से विवेकख्याति प्राप्त होने के पश्चात अविद्या का नाश होता है और द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। ईश्वर में समर्पण से समाधि की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि ईश्वर वह पुरुष विशेष है, जिसे क्लेश, कर्म, विपाक और आशय का संबंध कभी नहीं हुआ है, इसलिए ईश्वर अन्य पुरुषों से सर्वथा अलग और उत्तम है। “अन्य पुरुषों का अनादिकाल से इन चारों से संबंध अविद्या के कारण बना रहता है। अविद्या से जन्म लेने वाले अहंकार से युक्त होकर किए जाने वाले कर्म में कर्मफल का भोग निश्चित है, क्योंकि इन कर्मों से कर्मफल का निर्माण होता रहता है। विपाक वास्तव में कर्मफल का ही नाम है।”²⁷

कर्मफल से प्रेरित होकर किया जाने वाला कर्म, सकामकर्म कहलाता है। **सकामकर्म के संस्कारों से चित्त आवृत रहता है।** इन्हीं कर्म संस्कारों के समुदाय को कर्माशय की संज्ञा दी गई है।

जन्म लेने वाले समस्त जीवों का जीवन इन चारों से संबंधित रहता है। जन्म—मृत्यु का चक्र, इन्हीं चारों की वजह से निरंतर चलता रहता है। योग के अधिगम से जीव इनसे मुक्त हो जाता है। ईश्वर का संबंध न कभी इनसे रहा है, न है और न ही होगा, इसलिए ईश्वर तीनों काल में इन चारों से सर्वथा मुक्त है। यही ईश्वर की विशेषता है, जिसके कारण जीव ईश्वर की शरणागति से समाधि की सिद्धि कर सकता है। “इस जगत् में ईश्वर का ज्ञान सबसे बड़ा ज्ञान है, इसलिए ईश्वर के ज्ञान को निरतिषय कहा गया है। **ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज है।**”²⁸

इस जगत् में ईश्वर के ज्ञान से बढ़कर और कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए ईश्वर का आश्रय लेकर समाधि की सिद्धि आसानी से की जा सकती है। ईश्वर को अकाल पुरुष

अर्थात् जो काल से बाधित न हो, की भी संज्ञा दी गई है। ईश्वर सब के पूर्वजों का गुरु और अकाल पुरुष विशेष है। उस ईश्वर का नाम प्रणव है।

ओंकार, सतनाम, अकाल-पुरुष ईश्वर के ही नाम हैं। ईश्वर के चिंतन, मनन और जाप करने से योग के विघ्नों का अभाव और द्रष्टा के स्वरूप का अधिगम होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अपने स्वरूप के अधिगम के लिए ईश्वर की शरणागति, भक्ति एवं गुरु के रूप में पुरुष विशेष का चिंतन, मनन करने से लक्ष्य की सिद्धि सहजता से प्राप्त होती है।

इस दृश्य जगत के बंधन से मुक्ति में गुरु भक्ति से आशय ऐसे विशेष पुरुष की शरणागति से है, जिसका किसी भी काल में क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से संबंध नहीं रहा हो। जिस पुरुष का अविद्या से जन्म लेने वाले क्लेश से संबंध नहीं रहा हो वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होता है। उसका इस दृश्य जगत से न कभी संबंध था, न है और न ही होगा, क्योंकि इस जगत में द्रष्टा और दृश्य का संयोग अविद्या के कारण होता है और पुरुष विशेष ईश्वर अविद्या से सर्वथा मुक्त है। इस मुक्ति के कारण ही ईश्वर को सर्वज्ञ और सबका गुरु कहते हैं।

गुरु वास्तव में ईश्वर ही है। सामान्य पुरुषों को प्रकृति से मुक्ति के लिए ऐसे पुरुष विशेष-गुरु की शरणागति की आवश्यकता है, इसलिए “ईश्वर-प्रणिधान से योग के मार्ग में आने वाली बाधाओं का अभाव तथा अपने स्वरूप का अधिगम हो जाता है। ईश्वर की शरणागति से अंतराय का अभाव और जीव को अपने स्वरूप का अधिगम होता है।”²⁹

4.3.2 चित्त और चित्त की वृत्तियां

प्रकृति और पुरुष के योग के पश्चात् जिस धर्म का उदय होता है वे समस्त धर्म व्यक्त और सूक्ष्म स्थिति में गुण स्वरूप ही होते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त प्रकृति में गुणों का कभी अभाव नहीं होता। प्रकृति के परिणामी होने के कारण गुणों में परिवर्तन होता रहता है।

इस संसार की सभी वस्तुएं गुण स्वरूप ही हैं। वस्तुओं का जब इंद्रियों से सामीप्य होता है, तब जिस वस्तु की परछाई चित्त में पड़ती है, चित्त उसी वस्तु को जान सकता है, अन्य वस्तु को नहीं। जिस समय कोई वस्तु चित्त-वृत्ति का विषय बनता है, उस समय चित्त को उस वस्तु का ज्ञान होता है। परंतु जब वह वस्तु चित्तवृत्ति का विषय नहीं रह जाता उस समय वह अज्ञात हो जाता है। चित्त का स्वामी-पुरुष अपरिणामी होने के कारण चित्त

के वृत्तियों को सदा जानता रहता है। पुरुष, वृत्तियों का ज्ञाता है। वह चित्त की वृत्तियों को सदा ही देखता रहता है। देखने के इस गुण के कारण ही उसे द्रष्टा कहते हैं।

चित्त स्वयं प्रकाशक नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है। चित्त दृश्य है, इसलिए जड़ है। चेतन पुरुष के प्रतिबिंब पड़ने से चित्त में चेतना आती है। जब चित्त में बाह्य वस्तु और चेतन पुरुष दोनों का प्रतिबिंब पड़ता है, उस समय पुरुष चित्त की वृत्तियों के रूप में तद्रूप हुआ सा प्रतीत होता है। यह ज्ञान आभासी ज्ञान है। जैसे इंद्रियां और शब्द आदि विषय दृश्य होने के कारण स्वयं प्रकाशित नहीं हैं, उसी प्रकार चित्त भी दृश्य होने के कारण स्वयं प्रकाशित नहीं है। चित्त के परिणामशील होने के कारण उसे एक समय में दो का ज्ञान नहीं हो सकता।

चित्त अपने स्वरूप और दृश्य पदार्थ के स्वरूप को एक साथ ही नहीं जान सकता है। चित्त का कार्य केवल पदार्थों के स्वरूप को अपने स्वामी द्रष्टा अर्थात् पुरुष के सामने रख देना है। फिर उसे जानने का काम तो पुरुष का है। यद्यपि पुरुष क्रिया से रहित और असंग है तो भी तदाकार हो जाने पर उसे अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है। विभिन्न प्रकार के दृश्य पदार्थों के प्रतिबिंब से तदाकार हुआ पुरुष चित्तवृत्तियों सहित बुद्धि के ज्ञान से युक्त हो जाता है।

वास्तव में पुरुष न तो ज्ञाता ही है और न भोक्ता ही है। वह तो सर्वदा, निर्विकार, असंग और स्व-प्रकाश चेतन सत्ता मात्र है। बुद्धि का अनुकरण करने वाला होने के कारण इस चेतन सत्ता को ज्ञाता कहा जाता है। “द्रष्टा और दृश्य से रंगा चित्त सब अर्थों वाला हो जाता है।”³⁰

सब अर्थ से तात्पर्य दृश्य पदार्थ के रूप वाला, द्रष्टा-पुरुष के रूप वाला और अपने रूप वाला। इस प्रकार सर्वरूप वाला हो जाता है। चित्त या बुद्धि तत्त्व प्रकृति के तीनों गुणों का पहला सात्विक परिणाम है। यह क्रियाशील, परिणामी और जड़ है। परंतु सात्विक होने के कारण स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल है। यह चित्त का अपना स्वरूप है। इसके सामने जैसा बाह्य पदार्थ आता है, उसी के तदाकार होकर उस पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। द्रष्टा पुरुष के साथ संबंध होने के कारण, उससे तदाकार हुआ चेतन के रूप में प्रतीत होता है। असंख्य वासनाओं से रंगा होने के कारण चित्त स्वयं प्रकाश और द्रष्टा नहीं है। यह बाह्य पदार्थों और इंद्रियों से मिलजुल कर काम करने वाला है। अतः चित्त दूसरों के लिए ही है।

द्रष्टा और दृश्य से युक्त चित्त, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति को ही अपना स्वरूप समझने लगता है। चित्त के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए चित्त की नौ अवस्थाओं का ज्ञान होना आवश्यक है।

“चित्त की ये नौ अवस्थाएं इस प्रकार हैं— जागृतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था, प्रलयावस्था, समाधि प्रारंभावस्था, संप्रज्ञात समाधि अर्थात् एकाग्रता अवस्था, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के बीच की अवस्था अर्थात् विवेकख्याति अवस्था, स्वरूप अवस्थिति अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि अवस्था और प्रतिप्रसव अर्थात् चित्त के गुणों का अपने कारण में लीन होने की अवस्था।”³¹ —

4.3.2.1—चित्त की जागृतावस्था— इस अवस्था में चित्त बहिर्मुखी होता है और प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति रूपी वृत्तियों को अपना स्वरूप समझता है। सत्त्व—चित्त में तमोगुण, सतोगुण के यथार्थ स्वरूप को प्रकट होने से रोकता है और रजोगुण की प्रधानता के कारण, चित्त बहिर्मुख होकर स्थूल शरीर और इंद्रियों के द्वारा कार्य करता है। इस अवस्था में पुरुष को पांचों वृत्तियों के अनुरूप ही अपने स्वरूप की प्रतीति होती है।

4.3.2.2—चित्त की स्वप्नावस्था— इस अवस्था में सत्त्व—गुण चित्त में तमोगुण, रजोगुण पर इतना प्रभावी होता है कि स्थूल शरीर और इंद्रियों का बाह्य विषयों से योग नहीं हो पाता है, परंतु रजोगुण सूक्ष्म रूप से क्रियाशील होने के कारण चित्त को स्मृति रूपी वृत्ति के संस्कारों के साथ बनाए रखता है। स्वप्नावस्था में इंद्रियों के अंतर्मुखी होने से और सूक्ष्म शरीर में मन के सक्रिय होने से स्वप्न का निर्माण होता है। इस अवस्था में चित्त के उत्थान संस्कार तथा उत्थान का परिणाम का उदय होता है। इस अवस्था में पुरुष को वृत्तियों के अनुसार ही अपने स्वरूप का आभास होता है।

4.3.2.3—चित्त की सुषुप्तावस्था— इस अवस्था में चित्त का सतोगुण दबा रहता है और तमोगुण द्वारा रजोगुण की सूक्ष्म क्रियाओं को रोकने के पश्चात् सूक्ष्म शरीर में मन के सक्रिय होने से उत्पन्न होने वाली स्वप्नावस्था को भी रोक दिया जाता है और तमोगुण पूरी तरीके से चित्त पर आच्छादित हो जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति को किसी भी प्रकार का ज्ञान शेष नहीं रह जाता। इसे गाढ़ी नींद की अवस्था भी कहते हैं। निद्रा की अवस्था में सूक्ष्म शरीर में किसी भी प्रकार का कार्य बंद हो जाता है और कारण शरीर में निद्रा की अवस्था बनी रहती है। इस अवस्था में पुरुष को वृत्ति के स्वरूप को ही अपना स्वरूप समझने की प्रतीति होती है।

4.3.2.4—चित्त की प्रलयावस्था— चित्त की यह अवस्था सुषुप्तावस्था की भांति ही होती है। निद्रा की अवस्था और प्रलय की अवस्था में भेद मात्र इतना है कि निद्रा की अवस्था व्यष्टिचित्त की सुषुप्ति और चित्त की प्रलय की अवस्था समष्टिचित्त की सुषुप्ति है। प्रलय की अवस्था में अविद्या से युक्त सारे जीव सुषुप्ति की अवस्था में रहते हैं।

4.3.2.5—चित्त की समाधि प्रारंभावस्था— इस अवस्था में तमोगुण गौण रूप से विद्यमान रहता है और रजोगुण द्वारा चित्त को चलायमान करने की शक्ति कमजोर हो जाती है, परिणामस्वरूप सतोगुण प्रधान चित्त वस्तु के यथार्थ रूप का दर्शन कराने में समर्थ हो जाता है। इस अवस्था में चित्त की सर्वार्थता की शक्ति दब जाती है और चित्त में एकाग्रवृत्ति का उदय होता है। इस अवस्था में भी पुरुष वृत्त के अनुरूप ही प्रतीत होता है।

4.3.2.6—चित्त की संप्रज्ञात समाधि अर्थात् एकाग्रतावस्था— इस अवस्था में सतोगुण, रजोगुण को दबाकर अपने स्वरूप के अनुसार चित्त को प्रकाशित करता है, परिणामस्वरूप वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने में चित्त सक्षम होता है और तमोगुण गौण रूप से दबा रहता है। इस अवस्था में समाधि परिणाम घटित होता है। स्थूल शरीर के कार्य बंद होकर सूक्ष्म शरीर में एकाग्रवृत्ति का उदय होता है। स्वप्नावस्था में जहां तमोगुण की प्रधानता रहती है वहीं इस अवस्था में सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। पुरुष को एकाग्रवृत्ति के अनुरूप अपने स्वरूप की प्रतीति होती है।

4.3.2.7—चित्त की संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के बीच की अवस्था अर्थात् विवेकख्याति अवस्था— इस अवस्था में चित्त से रजोगुण और तमोगुण के आवरण पूर्णरूपेण हट जाते हैं और सतोगुण के प्रकाश से चित्त प्रकाशित रहता है। तमोगुण की उपस्थिति नाम मात्र की होती है। रजोगुण की सूक्ष्म उपस्थिति के कारण पुरुष चित्त से अलग दिखाई देता है। सुषुप्ति की अवस्था में जहां तमोगुण की प्रधानता रहती है, वहीं इस अवस्था में सतोगुण प्रधान रहता है। सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर में अभाव की प्रतीति होती है और विवेक—ख्याति की अवस्था में पुरुष चित्त से अलग दिखाई देता है।

4.3.2.8—चित्त की स्वरूप अवस्थिति अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि अवस्था— इस अवस्था में सत्त्व चित्त में दृश्य जगत के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से निर्मित प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति रूपी वृत्ति परिणाम प्राप्त होना बंद हो जाता है। प्रकृति के तीनों गुणों का नितांत अभाव हो जाने के कारण पुरुष को चित्त से अलग अनुभव कराने वाली वृत्ति का भी निरोध हो जाता है, परिणामस्वरूप चित्त अपने वास्तविक सतस्वरूप पुरुष में अवस्थित होता

है और द्रष्टा की अपनी स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। इस अवस्था में चित्त में केवल निरोध परिणाम ही शेष रहता है।

4.3.2.9—चित्त की प्रतिप्रसव अवस्था—इस अवस्था में चित्त निरोध परिणाम के संस्कारों से भी निवृत्त हो जाता है। चित्त का निर्माण करने वाले सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करके अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेने के पश्चात अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। वास्तव में यह अवस्था द्रष्टा और दृश्य के कैवल्य की अवस्था है। पुरुषार्थ से शून्य होने के पश्चात गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना और द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही कैवल्य है।³²

4.3.3 चित्त का निर्माण

पातंजल योग सूत्र के कैवल्य पाद के “चौथे सूत्र के अनुसार बनाए हुए चित्त केवल अस्मिता से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार स्मिता चित्त का उपादान कारण और अस्मिता बनाए हुए चित्त का निमित्त कारण है।”³³ विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों में अनेक चित्त को लगाने वाला एक चित्त होता है। अविद्या से जन्म लेने वाली अस्मिता के कारण बनाए हुए अनेक चित्तों को भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में नियुक्त करने वाला सभी चित्तों का संचालक केवल एक चित्त होता है। शरीर, इंद्रिय और चित्त का विलक्षण परिणाम जन्म, औषधि, मंत्र, तप, मंत्र, और समाधि के कारण होता है।

“इस प्रकार जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि से शरीर इंद्रियों और चित्त में जो अलौकिक शक्तियों का विकास होता है, उसे सिद्धि कहते हैं। पांच प्रकार के कारणों से यह सिद्धियां प्राप्त होती हैं।”³⁴

4.3.3.1 जन्म से प्राप्त होने वाली सिद्धियां

मृत्यु के उपरांत जब प्राणी एक योनि से दूसरी दूसरी योनि में जन्म लेकर अपने प्रारब्ध अनुसार शरीर इंद्रिय और चित्त और चित्त के परिवर्तन को प्राप्त कर उनमें अपूर्व शक्तियों को धारण करता है तो इसे **जन्मजा सिद्धि** कहते हैं। महर्षि वेदव्यास, सुखदेव, कपिल आदि महर्षिओं का उदाहरण इसी के अंतर्गत आता है।

4.3.3.2 औषधि से प्राप्त होने वाली सिद्धियां

मनुष्य के शरीर में जब अपूर्व शक्तियों का प्रादुर्भाव किसी औषधि के सेवन के परिणामस्वरूप होता है तो इसे **औषधिजा सिद्धि** कहते हैं।

4.3.3.3 मंत्र से प्राप्त होने वाली सिद्धियां

किसी मंत्र के विधिपूर्वक अनुष्ठान करने से शरीर इंद्रियां और चित्त में अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होने से जिस प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है उसे **मंत्रजा सिद्धि** कहते हैं। “योगसूत्र के साधनपाद के 44वें सूत्र में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।”³⁵

4.3.3.4 तप से प्राप्त होने वाले सिद्धियां

शास्त्र विहित तप करने से शरीर इंद्रियों और चित्त के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं और उसके पश्चात् अपूर्व शक्तियों का उदय होता है। इस प्रकार की सिद्धि को **तपजा सिद्धि** कहते हैं। “साधन पाद के 43वें सूत्र में तप के प्रभाव से अशुद्धियों के नाश होने के पश्चात् शरीर और इंद्रियों के सिद्धि का वर्णन किया गया है।”³⁶

4.3.3.5 समाधि से प्राप्त होने वाली सिद्धियां

जब शरीर इंद्रियों और चित्त में अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव धारणा, ध्यान और समाधि के निरंतर अभ्यास से होता है तब इस प्रकार की सिद्धि को **समाधिजा सिद्धि** कहते हैं। योगसूत्र के तीसरे पाद विभूतिपाद में सूत्रकार ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।

4.3.4 समाधि प्रज्ञा के अधिगम का प्रभाव

समाधि प्रज्ञा का प्राकट्य चित्त की एकाग्र भूमि में होता है। चित्त की पांच भूमियां होती हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं— **मुढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध चित्त**। योग का अधिगम चित्त के एकाग्र एवं निरुद्ध भूमि में होता है। चित्त की एकाग्रता के लिए योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र के तीसरे पाद विभूतिपाद में धारणा, ध्यान और समाधि के संयोग से होने वाले संयम का वर्णन किया है। “किसी एक ध्येय विषय में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का होना संयम कहलाता है। संयम की सिद्धि से प्रज्ञा लोक अर्थात् बुद्धि को प्रकाशित करने वाली **ऋतंभरा प्रज्ञा** प्रकट होती है। योगी जन इसी प्रज्ञा से योग का अधिगम करते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से जो शरीर इंद्रियों और चित्त में अपूर्व शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है इसे **समाधिजा सिद्धि** कहते हैं।”³⁷

योगसूत्र के चौथे पाद कैवल्यपाद में पांच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है। जो क्रमशः इस प्रकार हैं— जन्म से होने वाली, औषधि से होने वाली, मंत्र से होने वाली, तप से

होने वाली और समाधि से होने वाली सिद्धियां। इन सिद्धियों की प्राप्ति के पश्चात् शरीर, इंद्रियों और चित्त में जो एक दूसरे प्रकार का बदलाव आता है उसे जात्यान्तर परिणाम कहते हैं। “जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि से प्राप्त सिद्धियां निमित्त कारण हैं। इन कारणों को हटा देने से रुकावटों का भेदन किया जाता है। जिस प्रकार एक किसान एक खेत से दूसरे खेत में जल ले जाने के लिए उसके रुकावटों को दूर करता है और जल अपने आप खेत में चला जाता है, उसी प्रकार जन्म आदि निमित्तों द्वारा जब रुकावट दूर होती है तब शरीर, इंद्रिय और चित्त इन सबके परिवर्तन के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वह अपने आप पूरी हो जाती है। रुकावटों के दूर होते ही कमी को पूरा कर देना प्रकृति का स्वभाव है। यह प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए मिली हुई है।”³⁸

प्रकृति जब चित्तवृत्तियों से युक्त होकर कार्य करती है, तब पुरुष के भोग के लिए कार्य करती है और जब चित्तवृत्तियों से मुक्त होने के पश्चात् ऋतंभरा प्रज्ञा के साथ काम करती है, तब मोक्ष के लिए कार्य करती है। यही प्रकृति और पुरुष की संयोग का परिणाम है।

4.3.5 ध्यान से उत्पन्न चित्त का परिणाम

“योगी के ध्यानजनित चित्त का परिणाम कर्म संस्कारों से रहित होता है।”³⁹ अन्य दूसरे जन्म, औषधि, मंत्र और तप से उत्पन्न चित्त में कर्मों के संस्कार बने रहते हैं। कर्मों के संस्कार से युक्त चित्त, योग के अधिगम का परम लक्ष्य—कैवल्य की प्राप्ति का कारण नहीं बन पाता है।

4.3.6 योग का अधिगम और आवश्यकता

सामान्य अर्थों में अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। सुख की आकांक्षा एवं दुःख से मुक्ति के लिए व्यक्ति जीवन भर सीखता रहता है। भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य त्रिविध दुखों से मुक्ति दिलाना है। दुखों की इस आत्यंतिक निवृत्ति को मोक्ष, अपवर्ग, कैवल्य, मुक्ति, निर्वाण, निःश्रेयस, परमपद आदि रूपों में व्यक्त किया गया है। योग दर्शन का भी परम लक्ष्य दुख की आत्यंतिक निवृत्ति है। “दुख से मुक्ति के लिए चित्तवृत्तियों की निवृत्ति को योग कहा गया है। योग के अधिगम से कैवल्य की अनुभूति होती है। यह अनुभूति तब होती है जब चित्त, वृत्तियों से मुक्त हो और द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो।”⁴⁰

योग विद्या के ज्ञान से दृश्य जगत का वास्तविक ज्ञान होता है। दृश्य जगत पदार्थों का जगत है। पदार्थों के शुद्ध ज्ञान को स्मृतियों में तत्त्व ज्ञान, सम्यक् ज्ञान, विज्ञान, परम ज्ञान, तत्त्व साक्षात्कार, विवेक—ख्याति आदि नामों से संबोधित किया गया है। इस शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करना योग के अधिगम का उद्देश्य है। यह ज्ञान दो रूपों में प्राप्त किया जा सकता है — प्रथम **बुद्धि की सात्विक वृत्ति** के द्वारा प्राप्त ज्ञान और दूसरा **वृत्तिहीन स्थिति में आत्मा की अपरोक्षानुभूति** द्वारा प्राप्त ज्ञान।

बुद्धि की सात्विक वृत्ति द्वारा प्राप्त तत्त्व ज्ञान को सांख्ययोग में विवेक ख्याति नाम से परिभाषित किया गया है और बुद्धि की वृत्तिहीन अवस्था में आत्मा अपरोक्षानुभूति के तत्त्व दर्शन को योग सूत्र में असंप्रज्ञात योग के नाम से परिभाषित किया गया है।

अद्वैत वेदांत दर्शन में इस अपरोक्षानुभूति रूप ज्ञान को मोक्ष की संज्ञा से विभूषित किया गया है। श्री गौड़पाद स्वामी ने अपरोक्षानुभूति को अस्पर्श योग की संज्ञा प्रदान की है।

4.3.7 अधिगम कौन करता है?

अधिगम, जिसका सामान्य अर्थ सीखने से है। इस सीखने की प्रक्रिया में सीखता कौन है? यह प्रश्न भारतीय मनोविज्ञान का महत्वपूर्ण प्रश्न है। मैं कौन हूँ? की जिज्ञासा व्यक्ति को उस शाश्वत सत्य की खोज की तरफ उन्मुख करती है, जिसकी खोज के लिए मनुष्य का जन्म हुआ है। जन्म—जन्मांतर और युग—युगांतर से इस प्रश्न की खोज में मनुष्य लगा हुआ है। कभी भौतिक संसाधनों की आपूर्ति और उसकी प्राप्ति में, मैं को खोजता है, परंतु प्राप्ति के पश्चात् भी संतुष्टि नहीं मिलने पर आत्मा की खोज कर आत्म संतुष्ट होना चाहता है। चाहतों के इस संसार का जन्म कैसे होता है ? यह जानने के लिए यौगिक अधिगम की प्रक्रिया को समझना होगा।

द्रष्टा और दृश्य के संयोग के पश्चात् जो प्रथम तत्त्व बनता है, उसे महत् तत्त्व कहते हैं। इसे ही बुद्धि भी कहते हैं। द्रष्टा और दृश्य के योग के पश्चात् अस्मिता का जन्म होता है। इस अस्मिता से मन और इंद्रियों का जन्म होता है। अधिगम इस अस्मिता से युक्त इंद्रियां करती हैं। शायद इसीलिए हम जो जानते हैं या नहीं जानते हैं, उसके संबंध में कहते हैं कि मैं जानता हूँ या मैं नहीं जानता हूँ। अधिगमकर्ता यह “मैं” है। इसके बिना संसार में कुछ भी न सिखाया जा सकता है और न ही सीखा जा सकता है। सीखने और सिखाने वाला अहंकार है। इसलिए अंतःकरण चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन

चारों में अहंकार सबसे अंत में आता है, क्योंकि उसी के द्वारा अधिगम किया जाता है। इस अहंकार का जन्म अविद्या से होता है। “योग सूत्र में अविद्या से जन्म लेने वाली अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी पंच क्लेशों का वर्णन किया गया है।”⁴¹

मनुष्य के जीवन में अविद्या से जन्म लेने वाले क्लेश अधिगम के लिए उत्प्रेरक के रूप में कार्य करते हैं। मनुष्य इन्हीं क्लेशों से प्रेरित होकर किसी न किसी रूप में अधिगम करता है।

अनुभूति और अभ्यास से होने वाले अपेक्षाकृत स्थाई व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहते हैं। अब प्रश्न उठता है यह अधिगम कौन करता है?

महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन के चतुर्थ पाद के **तेइसवें सूत्र** में सूत्रकार ने वर्णन किया है कि “द्रष्टा और दृश्य के रंग में रंगा चित्त सभी अर्थ वाला हो जाता है। चित्त में द्रष्टा और दृश्य दोनों के प्रतिबिंब जब पड़ते हैं, तब चित्त दोनों के आकार वाला हो जाता है। साथ ही साथ चित्त का अपना निजी स्वरूप भी बना रहता है। संसार के किसी भी पदार्थ का ज्ञान आत्मा को चित्त के माध्यम से ही होता है।”⁴²

इस जगत में जीव को किसी भी प्रकार के ज्ञान कारण चित्त ही है क्योंकि चित्त ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता तीनों रूपों में गुजरते हुए अपने स्वरूप को भी बनाए रखता है। संसार के बाह्य पदार्थ ग्राह्य रूप में चित्त के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं और इनका ग्रहीता आत्मा है क्योंकि आत्मा के बिना चित्त जड़ है। चित्त में **ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता** तीनों का ज्ञान होता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि के सामने लाल और पीले पुष्प रख देने से लाल और पीले रंग का प्रतिबिंब के साथ ही साथ स्फटिक मणि के अपने रंग का भी ज्ञान होता है, उसी प्रकार चित्त में संसार के बाह्य विषयों के प्रतिबिंब और आत्मा के प्रतिबिंब के साथ ही साथ अपने स्वरूप का आभास ग्राह्य ग्रहीता और ग्रहण के रूप में प्रतिभासित होता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि यह चित्त ही सभी रूपों वाला हो जाता है।

“वास्तव में यह चित्त, जड़ विषयों और चैतन्य आत्मा इन दोनों से भिन्न होने पर भी भ्रम के कारण इन दोनों के रूप में आभासित होने लगता है। इस आभास के कारण ही कुछ दार्शनिक इस चित्त को ही चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार करने लगते हैं, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। यह भ्रम योग की साधना के पश्चात् द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थित होने से मिटता है।”⁴³

चित्त का निर्माण प्रकृति के तीन गुणों सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण से हुआ है परंतु इसमें सत्व गुण की प्रधानता रहती है। यह चित्त संसार के भौतिक विषय—वस्तुओं, प्राणी—पदार्थों और शरीर इंद्रियों के साथ मिलजुलकर काम करता है। चित्त अपने लिए नहीं, वरन् अपने स्वामी द्रष्टा — पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए विभिन्न प्रकार की वासनाओं से युक्त रहता है। संसार के बाह्य विषयों के प्रतिबिंब चित्त में पड़ते हैं जिसके कारण चित्त असंख्य वासनाओं से भरा रहता है। वह स्वयं भोक्ता नहीं है क्योंकि वह द्रष्टा नहीं है। “द्रष्टा के संयोग से ही चित्त सब अर्थों वाला हो जाता है। असंख्य वासनाओं से युक्त चित्त मिलजुलकर द्रष्टा के भोग और अपवर्ग के लिए कार्य करता है।”⁴⁴

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि चित्त के कार्यों का उपभोग द्रष्टा के द्वारा किया जाता है। जिस प्रकार किसी गृह का स्वामी गृह के सारे पदार्थों का उपभोग करने के बाद भी उससे अलग होता है, उसी प्रकार द्रष्टा इस दृश्य जगत के सुख—दुख, लाभ—हानि, मान—अभिमान, जय—पराजय, जन्म और मृत्यु आदि भोगों का भोग करते हुए भी इन सभी शरीर, इंद्रिय, चित्त, विषय आदि से सर्वथा अलग है।

“शरीर और संसार में आत्म भाव—भावना तब तक रहती है, जब तक विवेक ज्ञान के द्वारा आत्म साक्षात्कार नहीं हो जाता है। जब योगी को आत्म साक्षात्कार हो जाता है तब वह विशेषदर्शी हो जाता है। इस अवस्था में चित्त और आत्मा के भेद को समाधि से जन्म लेने वाले विवेक ज्ञान के द्वारा योगी वास्तव में जान लेता है, इसके परिणामस्वरूप योगी को संसार और शरीर के प्रति आत्म भाव—भावना का सर्वथा अभाव हो जाता है।”⁴⁵

योग के अधिगम से पूर्व मैं—मेरा, तू—तेरा की भावना बनी रहती है परंतु जब द्रष्टा को अपने स्वरूप का बोध होता है तब उसे आत्मा का शरीर, इंद्रिय और चित्त से सर्वथा पृथक् होने का ज्ञान होता है। समाधि से जन्म लेने वाले विवेक—ज्ञान से चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर देने वाले विशेषदर्शी योगी की आत्म—भाव संबंधी भावना सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।

अविद्या के कारण चित्त सामान्यतया विषयाभिमुख रहता है किंतु जब योग विद्या के अधिगम से विवेक ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब साधक का चित्त इस संसार के विषयों के प्रति प्रवाहित न होकर कैवल्य की ओर अभिमुख हो जाता है। जब चित्त की वृत्तियां संसार की ओर प्रवाहित न होकर कैवल्य की ओर अभिमुख हो जाती हैं ऐसे में चित्त

अपने कारण में विलीन होने लगता है। चित्त के विलीन होने की स्थिति को ही द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति कहते हैं। द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही कैवल्य है।

4.3.8 योग का अधिगम

योग के अधिगम का परम लक्ष्य सत्य का दर्शन है, जिसकी प्राप्ति चित्त वृत्तियों से प्राप्त ज्ञान के माध्यम से नहीं, वरन् चित्त वृत्तियों के निरोध से होती है। यह दृश्य जगत असद् और मरण-धर्मा है। इससे द्रष्टाका संयोग हो जाने पर अविद्या के कारण द्रष्टा, दृश्य जगत के धर्म को धारण कर लेता है। अपना स्वरूप भूलकर दृश्य के स्वभाव को अपना मान लेना अविद्या है, जिसके परिणामस्वरूप अज्ञान के अंधकार का उदय होता है। अज्ञानता अंधकार का प्रतीक है, जो ज्ञान के प्रकाश द्वारा दूर होती है।

द्रष्टा जब अपना सत् स्वरूप त्यागकर असद् उपभोग को अपना स्वाभाविक धर्म समझने लगता है तब अविद्या का जन्म होता है। इस अविद्या से मुक्ति चेतना के वास्तविक अधिगम से होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में “असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतमगमय” कहा गया है। (1/3/28 बृहदारण्यकोपनिषद्)⁴⁶

इस प्रकार मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्मा का अधिगम है, जिससे मोक्षरूपी परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। जिसकी प्राप्ति के लिए योग सूत्र में योग के अधिगम की तकनीकी के रूप में अष्टांग-योग, क्रिया-योग और अभ्यास एवं वैराग्य रूपी साधनों का वर्णन किया गया है। साधक अपनी योग्यता अनुसार इन साधनों का चयन करके चित्त की बाधाओं को दूर कर प्रत्यक्षचेतना का अधिगम कर सकता है।

“ईश्वर विशेष पुरुष है। वह सर्वज्ञ है। परिवर्तनशील प्रकृति से किसी भी काल में उसका संयोग नहीं होता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से जन्म लेने वाले क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से ईश्वर का कोई संबंध नहीं है। ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा स्वरूपाधिगम होता है। यही योग के अधिगम का साध्य है।”⁴⁷

4.3.9 योग के साधक एवं बाधक तत्त्व

4.3.9.1 योग अधिगम के साधक तत्त्व

सीखने की प्रक्रिया में अधिगमकर्ता की इच्छा का बड़ा महत्व है। मन हमेशा इच्छाओं के साथ जीता है। अनंत विचारों की श्रृंखला मन में अनवरत चलती रहती है। विचारों से मुक्त मन अमन हो जाता है। मन की यह अमनी अवस्था, निर्विचार समाधि है। “निर्विचार

समाधि के अत्यंत निर्मल होने के पश्चात् अध्यात्म प्रसाद की प्राप्ति होती है। इस समय योगी की बुद्धि अत्यंत निर्मल हो जाती है। इसे **ऋतंभरा बुद्धि** कहते हैं।⁴⁸

ऋतंभरा बुद्धि से ही सत्य के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। इस बुद्धि में संशय और भ्रम का कोई स्थान नहीं होता। यह बुद्धि अहंकार से युक्त बुद्धि से अलग होती है। अहंकार से युक्त बुद्धि के माध्यम से सांसारिक विषयों का ज्ञान होता है। ऋतंभरा प्रज्ञा से आत्मविद्या का ज्ञान होता है। अहंकार से श्रवण बुद्धि और अनुमान बुद्धि का सृजन होता है। यौगिक अधिगम के लिए ऋतंभरा बुद्धि की आवश्यकता होती है। द्रष्टा को अपने स्वरूप का बोध चित्त की समस्त वृत्तियों की निरोध के पश्चात् ही होता है। चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। अभ्यास और वैराग्य योग के अधिगम में साधक तत्व की भूमिका निभाते हैं।

“योग के साधकों का योग (असम्प्रज्ञात समाधि) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रम से सिद्ध होता है।”⁴⁹

अधिगम के लिए श्रद्धा का होना परम आवश्यक है। किसी भी साधना में अविचल भाव से लगे रहने का कारण श्रद्धा ही बनता है। श्रद्धा के बिना ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए योग के अधिगम प्रक्रिया में **श्रद्धा** को पहला स्थान दिया गया। इसके पश्चात् साधक का **वीर्य** अर्थात् मन इंद्रिय और शरीर का सामर्थ्य परम आवश्यक है। इस सामर्थ्य से ही साधक का योग की साधना में उत्साह बढ़ता है। श्रद्धा और वीर्य के संयोग से साधक की स्मरण शक्ति बलवती होती है। इस **स्मृति** से योग साधना के संस्कार प्रकट होते हैं, जिससे मन विषयों से विरक्त होकर निर्विचार हो जाता है। इससे **समाधि** की सिद्धि होती है। अंतःकरण स्वच्छ हो जाने पर साधक की बुद्धि सत्य को धारण करने योग्य हो जाती है। इसे ही ऋतंभरा बुद्धि कहते हैं। इसी बुद्धि का नाम समाधि प्रज्ञा है। योग की साधना में अहंकार से मुक्त ऋतंभरा बुद्धि परम आवश्यक है।

4.3.9.2 योग अधिगम के बाधक तत्व

ज्ञान प्राप्ति के दो साधन हैं— बाह्यकरण और अंतःकरण। बाह्यकरण में पांच ज्ञानेन्द्रियां आती हैं। जिनसे उन इन्द्रियों से संबंधित विषयों का ज्ञान होता है। अंतःकरण के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आता है। इसलिये इसे अंतःकरण चतुष्टय भी कहते हैं। किसी भी प्रकार का देहात्म ज्ञान इन्हीं साधनों के माध्यम से होता है। ज्ञान चित्त में वृत्तियों का निर्माण करता है। जिन वृत्तियों के माध्यम से व्यक्ति सीखता है, वह वृत्तियां दो

प्रकार की होती हैं— क्लिष्ट वृत्ति और अक्लिष्ट वृत्ति। इसे बाधक और साधक वृत्तियां भी कहते हैं। जिन वृत्तियों से यौगिक अधिगम में बाधा उत्पन्न होती है, वे योग के बाधक तत्व हैं। योगसूत्र के “प्रथमपाद—समाधिपाद के 30वें सूत्र में योग के बाधक तत्वों को अंतराय के रूप में परिभाषित किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। यह 9 प्रकार के चित्त के विक्षेप हैं। इन्हीं को यौगिक अधिगम के अंतराय या विघ्न के रूप में देखा जाता है। इन अंतरायों के साथ ही साथ दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास— ये पाँच सहभुव (विघ्न) भी साथ—साथ आते हैं।”⁵⁰

मनुष्य में सीखने की प्रक्रिया इंद्रियों के माध्यम से पूरी होती है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग के पश्चात् महत्—तत्त्व यानी सात्विक चित्त का निर्माण होता है। इस जगत में सीखने और सिखाने का कार्य चित्त के माध्यम से ही संपन्न होता है। संसार की किसी भी विषय का ज्ञान इंद्रियों के माध्यम से ही संभव है। इंद्रियां सदैव विषयों के प्रति आसक्त रहती हैं। विषयों के प्रति सहज—स्वाभाविक आसक्ति का कारण अविद्या है। अविद्या मन के क्लेशों की जननी है। “अविद्या से अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी मानसिक क्लेशों का जन्म होता है।”⁵¹

यौगिक अधिगम के बिना पंच क्लेशों से मुक्ति नहीं मिलती। योग, द्रष्टा का स्वरूप में स्थित होना है। योग विद्या से जब अविद्या का नाश होता है तब द्रष्टा को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। स्वरूप के ज्ञान के बिना द्रष्टा चित्तवृत्तियों से युक्त होता है। योग का अधिगम चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् ही होता है। यौगिक अधिगम की प्रक्रिया में चित्त की वृत्तियां बाधक हैं। चित्त में असंख्य वृत्तियां होती हैं। इंद्रियों के माध्यम से जो भी ज्ञान होता है वह वृत्तियों के रूप में ही संकलित होता है।

“योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों को पाँच वर्गों में विभाजित किया है। हर प्रकार की वृत्ति के दो भेद होते हैं। क्लिष्टों (बाधक) वृत्ति और अक्लिष्ट (साधक) वृत्ति। यौगिक अधिगम में अविद्या से जन्म लेने वाले क्लेशों को क्लिष्ट वृत्तियों के रूप में जाना जाता है। ये वृत्तियां प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति पांच प्रकार की होती हैं।”⁵²

योगीजन योग के अधिगम में बाधक वृत्तियों को साधक वृत्तियों के माध्यम से हटाने का प्रयास करते हैं। क्योंकि अधिगम वृत्तियों के माध्यम से ही होता है। द्रष्टा और दृश्य के

योग से होने वाला अधिगम वृत्ति ही बनाता है। ये वृत्तियां यौगिक साधना में साधक और बाधक दोनों की भूमिका निभाती हैं। योग का अधिगम तब होता है जब साधक को योग की साधक वृत्तियों से भी मुक्ति मिल जाती है, क्योंकि योग चित्त वृत्तियों का निरोध है।

4.3.10 योगी की स्थिति

“चित्त और आत्मा के भेद को समाधिजनित विवेक ज्ञान से जब योगी प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उसकी आत्म भाव की भावना सर्वथा मिट जाती है।”⁵³

जब तक मनुष्य को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक यह आत्म भाव की भावना किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। अज्ञान की अवस्था में सामान्यतया मनुष्यों का चित्त विषयों की ओर अभिमुख होता है, परंतु जब विवेक ज्ञान का उदय होता है तब योगी का चित्त संसार के विषयों से सर्वथा विरक्त होकर, कैवल्य के अभिमुख हो जाता है। “चित्त के कैवल्य के अभिमुख होने से तात्पर्य अपने कारण में विलीन हो जाना है। चित्त के विलीन होते ही द्रष्टा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।”⁵⁴ यही कैवल्य है और योग के अधिगम का अंतिम परिणाम है।

4.3.10.1 विवेक के अधिगम से कर्मफल में दुःख का दर्शन

“प्रज्ञा बुद्धि के प्रकट होने के बाद विवेकीजन को संसार में तीन प्रकार के दुःख का अनुभव होता है— परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख।”⁵⁵

परिणामदुःख— सुख के लिए किए गए कर्मों के पश्चात् प्राप्त सुख में भी दुःख का अनुभव होता है। सुख—दुःख आने जाने वाले हैं, इसलिए सुख की प्राप्ति के पश्चात् उसके जाने पर दुःख होता है। इसलिए जिनकी दृष्टि वास्तविक सत्य को देखने की होती है वे कर्म के फल अर्थात् कर्म विपाक के परिणाम पर भी दुःख का ही अनुभव करते हैं। यह संसार भोग भूमि है, जहां कर्मों का भोग करने के लिए जीव का जन्म होता है। जीवन भर भोग की तृष्णा बनी रहती है। **महाराज भर्तृहरि** ने कहा है कि “भोगों को हमने नहीं बल्कि भोगों ने हमें ही भोगा है”। भोगों का भोग करते—करते इंद्रियां शिथिल पड़ जाती हैं, पर भोग भोगने की तृष्णा मन में बनी रहती है। यही इस जगत की माया है, जिसमें जीव सत्य के भ्रम में जीवन को व्यतीत कर देता है। विवेकवान लोगों को वास्तविक सत्य का अधिगम होता है इसलिए कर्म के फल में उन्हें दुःख ही दिखाई देता है। यही परिणाम दुःख है।

तापदुःख— इस संसार में विषय वस्तुओं में जो सुख प्रतीत होता है, वह विनाशशील है। अनुभव से प्राप्त अधिगम के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि संसार में कोई ऐसा सुख नहीं है

जिसका विनाश नहीं होता है। सुख के विनाश के भय की आशंका के कारण मन में ताप दुःख बना रहता है। सामान्यतया मनुष्य का यह स्वभाव है कि अपने से सुखी व्यक्ति को देखकर उसे दुःख होता है। दुःख का अनुभव सुख के सापेक्ष ही होता है। शायद इसलिए ही सुखी व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या का भाव मन में प्रकट होता है। यह भी एक प्रकार का ताप दुःख ही है। इस भोग भूमि में जीव में एक प्रकार की अपूर्णता हमेशा बनी रहती है, जिसको पूर्ण करने के लिये वह निरंतर प्रयास करता है। इसलिए किसी भी भोग में तृप्ति का बोध नहीं होता है। यही अपूर्णता का बोध है। इस अपूर्णता के कारण भूतकाल में दुःख बना रहता है। इसे भी ताप दुःख ही कहते हैं।

संस्कारदुःख— पूर्वकाल में भोगे गये सुख का जो अनुभव होता है, उसके संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं। ये संस्कार स्मृति के रूप में हमेशा बने रहते हैं। जब उस विषय वस्तु से इंद्रियों का वियोग होता है, तब चित्त में पड़े उन भोगों के संस्कार, दुःख का कारण बनते हैं। इसलिए प्राप्त वस्तुओं के खोने का दुःख होता है। योग-क्षेम की कामना इन संस्कारों के कारण ही जन्म लेती है, जो नहीं है उसे प्राप्त करने की चाह और जो है वह हमेशा बना रहे इसकी कामना चित्त के संस्कारों में अंकित है। इसे ही संस्कार दुःख कहते हैं। जिसको जीव भोगता रहता है। मन के निर्विचार अवस्था विशारद, विवेकी लोग इस संसार में यत्र-तत्र-सर्वत्र इन तीन प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं। यह अनुभव योग के अधिगम से प्राप्त होता है।

4.3.10.2 त्रिगुण-वृत्ति विरोध का अधिगम

“यह दृश्य जगत् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से मिलकर बना है। यह तीनों गुणों के स्वभाव से एक-दूसरे के विरोधी हैं। जिनको सत्य का वास्तविक ज्ञान होता है, उन्हें इस दृश्य जगत् में गुण-वृत्ति विरोध का दर्शन होता है। दृश्य जगत् का यही वास्तविक दर्शन है।”⁵⁶

इस जगत् में सुख की आकांक्षा सभी को है, पर व्यक्ति को किसी भी जागतिक सुख से शांति नहीं मिलती। इसका एक मात्र कारण गुण-वृत्ति विरोध ही है। जिस समय सुख का अनुभव होता है, उस समय सतोगुण की प्रधानता के साथ ही साथ दुःख और शोक के कारण रजोगुण और तमोगुण भी विद्यमान रहते हैं। इसलिए किसी भी विषय भोग में संतोष नहीं होता और बिना संतोष के सुख नहीं होता। इस संसार में सुख की कामना बनी रहती

है। योगीजन योग की दृष्टि से इस दृश्य जगत में दुःख का ही दर्शन करते हैं। परम सुख द्रष्टा का दृश्य से वियोग हो जाने के पश्चात् ही होता है। यही योग का अधिगम है।

अध्यात्म विद्या के अधिगम से प्राप्त दृष्टि से देखने पर इस जगत में मन के साथ जीने वाले प्राणियों को दुःख ही भोगना पड़ता है। मन, भूत और भविष्य का विचार करता रहता है। **वर्तमान निर्विचार की अवस्था है**, जिसमें मन एक पल के लिए भी नहीं ठहरता। मन में या तो भूत की स्मृतियां या भविष्य की कामनाएं रहती हैं। विचारों के जगत का निर्माण स्मृतियों और कामनाओं के संसार में होता है। स्मृतियों से संस्कार दुःख और कामनाओं से परिणाम और ताप दुःख का भोग बनता है। जन्म-जन्मांतर से भोगों की यह श्रृंखला चल रही है। इसके कारण ही जन्म और मृत्यु का चक्र भी चल रहा है। इस चक्र के पार जाने का उपाय जड़-चेतन की ग्रंथि का भेदन है।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग जब तक है तब तक सुख की खोज बनी रहती है। सुख की खोज का कारण वास्तव में दुःख ही है। दुःख से मुक्त होने के लिए जीव इस जगत में अनेकानेक प्रयास करता रहता है। “दुःख से वास्तविक मुक्ति विवेक-प्रज्ञा से होती है। विवेकवान्, जो आने वाला है उसमें भी और जो बीत जाने वाला है उसमें भी दुःख ही देखता है। यही वास्तविक सत्य का दर्शन है।”⁵⁷

यह दृश्य जगत पंचमहाभूतों और इंद्रियों के रूप में प्रकट होता है। यह इसका स्वरूप है। भोग और मुक्ति प्रदान करना, दृश्य जगत का प्रयोजन है। तीन गुणों से निर्मित इस दृश्य जगत का प्रकाश, क्रिया और स्थिति (जड़ता) स्वभाव है। सांख्य दर्शन में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। “प्रकृति से निर्मित दृश्य जगत का स्वभाव प्रकाश, क्रिया और स्थिति है।”⁵⁸ इस जगत में विवेक दृष्टि से सर्वत्र दुःख ही व्याप्त है।

4.3.10.3 विवेक-ज्ञान से वैराग्य

योग का अधिगम विवेक ज्ञान के पश्चात् होता है। “जिन योगियों को विवेक ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उनका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशित रहता है। विवेक ज्ञान की सदा प्रकाशित रहने से **धर्ममेघ समाधि** की प्राप्ति हो जाती है।”⁵⁹ विघ्नरहित विवेक ज्ञान के कारण धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है। इस समाधि से क्लेश और कर्म का सर्वथा नाश हो जाता है। उस समय अविद्या आदि कर्म संस्कारों के मल नष्ट हो जाते हैं। उस सर्व-तंत्र-स्वतंत्र योगी से कोई भी तत्व अज्ञात नहीं रह जाता है। ऐसे योगी

के लिए प्रकृति के गुणों का कोई कर्तव्य कर्म शेष नहीं रहता है। प्रकृति का काम पुरुष को भोग और अपवर्ग देना है। वह पूरा हो जाता है। जिस पुरुष के लिए प्रकृति का कोई कर्तव्य कर्म शेष नहीं रहा, उसके लिए गुण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। “प्रकृति का अपने गुणों के साथ कारण में विलीन हो जाना तथा द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना कैवल्य है। योग के अधिगम से कैवल्य की प्राप्ति होती है।”⁶⁰

4.3.10.4 विवेक—ज्ञान प्राप्त साधक की बुद्धि

योग की साधना में रत साधक को जब प्रकृति और पुरुष का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसे प्रकृति तथा उसके कार्य, बुद्धि, अहंकार, इंद्रियां और शरीर इन सबके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, परिणामस्वरूप दृश्य जगत से द्रष्टा सर्वथा भिन्न और असंग है, उसका दृश्य से कोई संबंध नहीं है, इसका वास्तविक ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार “द्रष्टा के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाने से द्रष्टा और दृश्य के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान अलग-अलग होता है, इसी ज्ञान को विवेकज्ञान कहते हैं।”⁶¹

“इस विवेकज्ञान के द्वारा ही जगत के समस्त दुखों से मुक्ति मिलती है। इस ज्ञान के द्वारा संसार के मूल कारण अविद्या से जन्म लेने वाले अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेशों और समस्त सांसारिक कर्मों का अभाव हो जाता है।”⁶²

“अविप्लव विवेकज्ञान के द्वारा जब अविद्या का नाश हो जाता है उसके पश्चात चित्त अपने आश्रय सहित अपने कारण में विलीन हो जाता है, परिणामस्वरूप प्रकृति का जो स्वाभाविक परिणाम क्रम है वह विवेकज्ञान प्राप्त पुरुषों के लिए बंद हो जाता है।”⁶³

ऐसे विवेकज्ञान प्राप्त साधक के चित्त में संसार के अन्य व्यक्तियों की भांति दूसरे सांसारिक ज्ञानों का उदय नहीं होता। “विवेकख्याति प्राप्त योगी के चित्त का आवरण और मल सर्वथा नष्ट हो जाता है। ऐसे पुरुष की सात प्रकार की अंतिम स्थिति वाली बुद्धि होती है।”⁶⁴

प्रथम चार प्रकार की बुद्धि को **कार्यविमुक्ति** प्रज्ञा तथा अंतिम तीन प्रकार की बुद्धि को **चित्तविमुक्ति** प्रज्ञा कहते हैं।

अ. कार्यविमुक्ति प्रज्ञा से आशय कर्तव्य शून्य अवस्था से है। इस अवस्था को प्राप्त पुरुष के लिए इस संसार में करने योग्य कुछ रह नहीं जाता है, वह पूरी तरीके से मुक्त होकर इस संसार में व्यवहार करता है। इस कर्तव्यशून्य अवस्था के चार भेद हैं। जो इस प्रकार है—

1. **ज्ञेयशून्य अवस्था**— “इस अवस्था में जानने योग्य कुछ शेष नहीं रहता है क्योंकि इस त्रिगुणात्मक दृश्य जगत में सब अनित्य और परिणाम देने वाले हैं।”⁶⁵ इसका ज्ञान पूर्णता से विवेक प्राप्त साधक को हो जाता है। यहां जो जानने योग्य था, उसे जान लिया। अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने के पश्चात साधक को इस संसार में जानने योग्य कुछ शेष नहीं रहता है। योग के अधिगम का अर्थ है द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना और जब द्रष्टा को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसे इस दृश्य जगत में जानने योग्य कुछ शेष नहीं रहता है। गुणमय दृश्य में विवेकीजन को परिणाम दुख, ताप दुख और संस्कार दुख का दर्शन होता है और साथ ही साथ प्रकृति के तीन गुणों में वृत्ति विरोध का भी दर्शन होता है।
इस प्रकार दृश्य दुख का कारण है। यह जान लेने के बाद इस जगत में जानना शेष नहीं रहता है। यही ज्ञेयशून्य अवस्था है।
2. **हेयशून्य अवस्था**— इस अवस्था में योगी को जिस द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव करना था, वह कर दिया क्योंकि “द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही दुख का कारण है। दुख के अतिरिक्त अब कुछ दूर करने योग्य नहीं है।”⁶⁶
विवेकज्ञान प्राप्ति के पश्चात योगी को इस दृश्य जगत में त्यागने योग्य और कुछ शेष नहीं रह जाता। यह अवस्था हेयशून्य अवस्था है।
3. **प्राप्यप्राप्त अवस्था**— मनुष्य जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हो जाने के पश्चात कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। विवेकज्ञान प्राप्त योगी द्वारा जिसका साक्षात्कार करना था उसे साक्षात् कर लिया गया। “द्रष्टा का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात कुछ साक्षात् करने के लिए शेष नहीं रहा।”⁶⁷
4. **चिकीर्षाशून्य अवस्था**— “निर्मल विवेकख्याति से जो कुछ संपादित करना था, वह सब कर लिया अर्थात् हान का उपाय सिद्ध कर लिया, अब कुछ करने योग्य शेष नहीं रहा।”⁶⁸

इस प्रकार इन चार प्रकार की प्रज्ञाओं को कार्यविमुक्ति प्रज्ञा की संज्ञा दी गई है क्योंकि ऐसी अवस्था को प्राप्त योगी के लिए इस दृश्य जगत में करने योग्य कोई भी कार्य शेष नहीं रह जाता है, परिणामस्वरूप वह सभी प्रकार के कार्यों से विमुक्त हो जाता है।

ब. चित्तविमुक्ति प्रज्ञा—पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि करने के पश्चात चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है, इसी को चित्तविमुक्ति प्रज्ञा कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है—

1. **चित्त की कृतार्थता**— विवेकज्ञान प्राप्त होने के पश्चात चित्त का जो पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग प्रदान करने का कार्य था, वह पूरा हो गया, अब उसका कोई कार्य शेष नहीं रहा, इसलिए अब उसकी कोई उपयोगिता शेष नहीं रही।
2. **गुणलीनता**— “अपना प्रयोजन पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि कर लेने के पश्चात चित्त अपने कारण रूप गुणों में लीन हो जाता है, क्योंकि अब उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है।”⁶⁹
3. **आत्मस्थिति**— जब चित्त अपने गुणों में लीन हो जाता है तब पुरुष सर्वथा गुणों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही द्रष्टा की अपने स्वरूप में अवस्थित होने की अवस्था है। योग के अधिगम के पश्चात इसी अवस्था की सिद्धि होती है।

इस प्रकार “प्रज्ञा की इन सात प्रांत —भूमियों को अनुभव करने वाला योगी जीवनमुक्त कहलाता है, और जब चित्त अपना कार्य पूरा कर लेने के पश्चात् अपने लीन हो जाता है तब योगी विदेहमुक्त कहलाता है। जीवनमुक्त और विदेहमुक्त दशा में योगी प्रकृति के तीनों गुणों से सर्वथा मुक्त होकर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित होता है, यही द्रष्टा की स्वरूप स्थिति है।”⁷⁰

4.3.11 योगी के कर्म

कर्म संस्कार से युक्त चित्त वाले सामान्य जन द्वारा किए जाने वाले कर्मों से हेतु, फल, आश्रय और आलंबन इन वासनाओं का किसी न किसी रूप में संग्रह होता रहता है। परंतु “योगी का कर्म पाप—पुण्य का फल देने वाला नहीं होता है। क्योंकि योगी का चित्त कर्म संस्कारों से शून्य होता है। योगी के कर्म को अशुक्ल और अकृष्ण कर्म कहते हैं।”⁷¹ सामान्य जन जो कर्म करते हैं, वे तीन प्रकार के होते हैं— पाप कर्म, पुण्य कर्म और पाप—पुण्य मिश्रित कर्म। योगी योग के अधिगम द्वारा इन तीनों कर्मों से अलग पाप—पुण्य से मुक्त कर्म करता है। यह योग के अधिगम का परिणाम है।

कर्म की गति बड़ी गहन है। “जाति, देश, काल का व्यवधान होने पर भी कर्म संस्कारों का व्यवधान नहीं होता। क्योंकि स्मृति और संस्कारों का एक ही स्वरूप होता है।”⁷²

इसीलिए कर्मफल का उत्पादक निमित्त कारण प्रकृति है। जिस कर्म का फल प्राप्त होने वाला है, उसके अनुसार चित्त के संस्कारों में वासना उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों एक ही हैं। **प्रकृति और पुरुष के योग का कारण वासना है।** वासना अनादि है, क्योंकि प्राणी में जन्म के पश्चात् हमेशा बने रहने की इच्छा, अनादिकाल से चली आ रही है। इसलिए अभिनिवेश रूपी क्लेश हर प्राणियों में विद्यमान रहता है। “जीवन जीने की इच्छा चित्त की स्मृति में अनादिकाल से बनी रहती है। संस्कारयुक्त चित्त में इन वासनाओं का संग्रह हेतु, फल, आश्रय और आलंबन के कारण होता है।”⁷³ योग के अधिगम से जब इन चारों का अभाव हो जाता है तो इसके साथ ही साथ वासनाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है।

4.3.12 वासनाओं का कारण

योगसूत्र के रचयिता महर्षि पतंजलि वासनाओं का कारण अविद्या से युक्त चित्त को मानते हैं। अविद्या मानसिक क्लेशों की जड़ है। अहंकार के कारण राग, द्वेष और मृत्यु का भय जीवों के जीवन में विद्यमान रहता है। इनके कारण ही पुनर्जन्म, आयु, भोग और मृत्यु की प्राप्ति होती है। **इन सबका आश्रय चित्त है।** शब्द आदि विषय इनके आलंबन हैं। समस्त वासनाएं इनके संबंध से ही संग्रहित होती हैं। योग के अधिगम से जब विवेक ज्ञान का प्राकट्य होता है तब अविद्या का नाश होता है। **अविद्या का नाश ही विद्या का उदय है।** योग विद्या से युक्त कर्मों का फल नहीं बनता। जब कर्मों में फल देने का सामर्थ्य नहीं होता है तब चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है। “चित्त के विलीन होने के साथ ही हेतु, फल, आश्रय और आलंबन इन चारों का अभाव हो जाता है। इसके पश्चात् वासना का अपने आप अभाव हो जाता है।”⁷⁴ तत्पश्चात् जन्म और मृत्यु के चक्र से योगी मुक्त हो जाता है। योगी का पुनर्जन्म नहीं होता है।

4.4 महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में अधिगम की यौगिक तकनीक

किसी भी शिक्षण का उद्देश्य अधिगम है। अधिगम की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। पांच ज्ञानेंद्रियों एवं अंतःकरण चतुष्टय के माध्यम से सीखने की प्रक्रिया चलती रहती है। यौगिक शिक्षा का उद्देश्य स्वरूप का अधिगम है, जिसके लिए मनुष्य का जन्म हुआ है।

मनुष्य जन्म की सार्थकता मानव का शरीर प्राप्त कर लेने मात्र से नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक अधिगम से सर्वभूतों के हित में रत रहने से है। इसके कारण ही मनुष्य जगत का सबसे विवेकशील प्राणी कहलाता है। मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए आध्यात्मिक अधिगम की आवश्यकता है। इस अधिगम के पश्चात् ही व्यष्टि चेतना समष्टि चेतना से जुड़ती है। चेतना के इस योग के पश्चात् ही सर्वभूतों में मनुष्य को एकात्मता का दर्शन होता है। इस एकात्म दृष्टि की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य जगत का सबसे विवेकशील प्राणी सिद्ध होता है। मानव जीवन की सार्थकता विवेक के अधिगम से ही संभव है। विवेक जागृत होने के परिणामस्वरूप द्रष्टा और दृश्य के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है।

योगसूत्र के रचयिता महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है कि “योग चित्त वृत्तियों का निरोध है। जब चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होती हैं तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है। यदि द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित नहीं है तो वह चित्त की वृत्तियों के अनुरूप ही अपने स्वरूप को समझने लगता है।”⁷⁵

योग के अधिगम से तात्पर्य वृत्तियों से मुक्त होकर द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति अर्थात् कैवल्य अवस्था की प्राप्ति से है। पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिए प्रकृति का पुरुष से संयोग होता है। अपना यह प्रयोजन सिद्ध कर लेने के पश्चात् परिणामी प्रकृति जो कार्य-कारण के रूप में विभक्त होकर अपना कार्य कर रही थी, वही तीन गुणों से युक्त प्रकृति प्रतिलोम-परिणाम को प्राप्त होकर अपने कारण में विलीन हो जाती है। “वास्तव में यही प्रकृति के गुणों का कैवल्य है। इसकी प्राप्ति पुरुष से अलग होने के पश्चात् ही होती है, क्योंकि अविद्या के कारण गुणों के साथ पुरुष का संबंध अनादि सिद्ध है। अविद्या के नाश के पश्चात् इस संबंध का अभाव हो जाने से पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही पुरुष का कैवल्य है।”⁷⁶

“अविद्या के अभाव से प्रकृति पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। इस अभाव को ही द्रष्टा की स्वरूप स्थिति या चेतन आत्मा का कैवल्य कहा जाता है।”⁷⁷

योग के अधिगम की यौगिक तकनीक के रूप में महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों को साधक एवं बाधक वृत्तियों अर्थात् अविद्या को पुष्ट करने वाली वृत्ति को बाधक वृत्ति और अविद्या का नाश करने वाली वृत्ति को साधक वृत्ति के रूप में परिभाषित किया है। पांच प्रकार की वृत्तियों से चित्त आवृत रहता है। योग के साधक को “अविद्याकृत-क्लेशों को समाप्त करने वाले, योग के साधक वृत्तियों का अभ्यास करना चाहिए, जिससे योग की

साधना का मार्ग प्रशस्त हो सके। वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।”⁷⁸

इस जगत में जन्म लेने वाला जीव शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही अधिगम करता है। पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों और मन के द्वारा इस जगत में अधिगम की प्रक्रिया जीवनपर्यंत सतत चलती रहती है। “ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में बाह्य करण और अंतःकरण के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। संसार के जीव ज्ञान के इन साधनों के द्वारा अधिगम करते हैं।”⁷⁹

योगसूत्र में परिभाषित पांच प्रकार की वृत्तियों के अंतर्गत ही ज्ञान के बाह्य करणों और अंतःकरणों से प्राप्त ज्ञान आता है। किसी भी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति का साधन शरीर और इंद्रियां हैं। शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान चित्त-वृत्तियों का निर्माण करता है और योग चित्त-वृत्तियों का निरोध है।

योग के अधिगम के लिए ऐसी साधक वृत्तियों का यौगिक तकनीक के रूप में प्रयोग किया जाता है, जिससे अविद्या का नाश हो, क्योंकि प्रकृति और पुरुष के संयोग का कारण अविद्या ही है और इस संयोग के वियोग के बिना, योग का अधिगम संभव नहीं है, क्योंकि योग का मुख्य उद्देश्य द्रष्टा का कैवल्य है। कैवल्य प्राप्ति तभी हो सकती है जब द्रष्टा का दृश्य से वियोग हो। दृश्य के संयोग के साथ द्रष्टा चित्त की वृत्तियों को ही अपना स्वरूप समझ लेता है। इसका मूल कारण अविद्या है और अविद्या समाधि की सिद्धि में बाधा है। पतंजलि योगसूत्र में निम्नानुसार यौगिक तकनीकों का समावेश किया गया है—

1. योगाभ्यास एवं वैराग्य
2. भावनाचतुष्टय
3. क्रियायोग
4. अष्टांग योग

4.4.1 योगाभ्यास एवं वैराग्य

महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन के समाधिपाद बारहवें सूत्र में वर्णन किया गया है कि “अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति का निरोध होता है।”⁸⁰ चंचलता चित्त का स्वभाव है। इसकी स्थिरता के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे योगसूत्र में अभ्यास की संज्ञा दी गई है। यह अभ्यास निरंतर दीर्घकाल तक करने से दृढ़ होता है। वैराग्य को परिभाषित करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि “देखे और

सुने गए विषयों के प्रति चित्त का सर्वथा तृष्णा रहित, वशीकार नामक जो अवस्था है, उसे वैराग्य कहते हैं।⁸¹ साधक को विवेक ज्ञान से पुरुष और प्रकृति का यथार्थ ज्ञान होने के पश्चात जब अपने वास्तविक स्वरूप पुरुष का ज्ञान हो जाने से प्रकृति के गुणों में सर्वथा राग से रहित अवस्था की प्राप्ति होती है, तो वैसी अवस्था को पर-वैराग्य कहा जाता है।

“द्रष्टा और दृश्य का संयोग अविद्या के कारण होता है और अविद्या से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों का जन्म होता है। विवेकजनित ज्ञान से जब इन दोनों की समान भाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य घटित होता है।”⁸²

“योग की साधना में रत साधक को निरोध रूप योग की प्राप्ति श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रम से सिद्ध होती है। योग के जिन साधकों की इन साधनों में जितनी तीव्र गति होती है उनकी समाधि की सिद्धि उतनी ही शीघ्रता से होती है। साधन की मात्रा हल्की, मध्य और उच्च होने के कारण समाधि की सिद्धि में काल का भेद हो सकता है।”⁸³

योग की सिद्धि के इन साधनों के अलावा सूत्रकार ने “ईश्वर-प्रणिधान से योग के अधिगम की विघ्नों का अभाव तथा द्रष्टा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है।”⁸⁴

“योग के अधिगम में आने वाले विघ्नों को दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए, ऐसा करने से चित्त में एकाग्रता उत्पन्न होती है और उससे योग के अधिगम में आने वाले विघ्नों का नाश होता है।”⁸⁵

4.4.2 भावनाचतुष्टय

सामान्यतः चित्त राग-द्वेष आदि विकारों से युक्त रहता है। विकारों के कारण मलिन चित्त चंचल रहता है। चित्त की चंचलता का कारण राग-द्वेषात्मक विचारों का प्रवाह है। चित्त से जब तक विचारों के मल दूर नहीं होते तब तक चित्त स्थिर नहीं होता। चित्त को निर्मल बनाने के लिए महर्षि पतंजलि ने यौगिक तकनीक के रूप में योगदर्शन के समाधिपाद के तैत्तिरीय सूत्र में वर्णन किया है कि “सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्मा से मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त को निर्मल बनाया जा सकता है।”⁸⁶

“शरीर की नाड़ियों की शुद्धि के लिए प्राणवायु को बारंबार बाहर निकालने और अपनी क्षमता अनुसार उसे बाहर रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है। योग का निरंतर अभ्यास करने से साधक को दिव्य विषयों का साक्षात्कार होता है, इन दिव्य विषयों

का साक्षात्कार करने वाली वृत्ति को **विषयवती प्रवृत्ति** कहते हैं। यह प्रवृत्ति मन की स्थिति को बांधने वाली होती है। इसके अतिरिक्त योग का अभ्यास करते रहने से उत्पन्न शोकरहित **ज्योतिषमति प्रवृत्ति** भी मन की स्थिति को बांधने वाली होती है।⁸⁷

सामान्यतः चित्त में राग-द्वेष के संस्कार बने रहते हैं, जिसके कारण चित्त चंचल रहता है। चित्त की चंचलता को दूर करने के लिए “राग-द्वेष से मुक्त, वीत-राग अवस्था में स्थित ऐसे **विरक्त पुरुष** का चिंतन करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है। योग के साधक को चित्त की स्थिरता के लिए स्वप्न और निद्रा का भी आलंबन लेना चाहिए, क्योंकि **स्वप्न और निद्रा** का आलंबन करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है। योगसूत्र में चित्त की स्थिरता के लिए वर्णित यौगिक तकनीक में से साधक को अपने रुचि के अनुसार ध्यान करने से स्वभाव से चंचल मन, स्थिर हो जाता है।⁸⁸

इस जगत में जन्म लेने वाला जीव, जीवन भर कुछ न कुछ सीखता रहता है। सामान्यतः जिस बुद्धि से व्यक्ति सीखता है, वह बुद्धि श्रवण और अनुमान से प्राप्त होती है, परंतु योग का अधिगम ऋतंभरा बुद्धि से होती है, क्योंकि योगी की बुद्धि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाली होती है। “योग की साधना से जब निर्विचार समाधि निर्मल होती है तब अध्यात्म प्रसाद की प्राप्ति होती है, परिणामस्वरूप बुद्धि ऋतंभरा होती है। इसी बुद्धि से प्रकृति और पुरुष का यथार्थ ज्ञान साधक को होता है। इस बुद्धि से उत्पन्न संस्कार अन्य राग-द्वेष युक्त संस्कारों का नाश करने वाला होता है। ऋतंभरा प्रज्ञा से योगी मुक्ति की अवस्था के करीब पहुंच जाता है और जब सब प्रकार के संस्कारों का निरोध हो जाता है तब निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है।⁸⁹

इस प्रकार योग के अधिगम के लिए महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन में वर्णित यौगिक तकनीक का अभ्यास करके साधक योग के परम लक्ष्य कैवल्य को प्राप्त कर सकता है।

4.4.3 क्रियायोग

इस जगत में दुःख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है और यह संयोग अविद्या के कारण बना रहता है। इस जगत में जन्म लेने वाला हर जीव दुःख से मुक्ति और सुख की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। दुःख की अत्यंतिक निवृत्ति अविद्या की समाप्ति के पश्चात ही संभव है। योग विद्या के अधिगम से अविद्या का नाश होता है और समाधि की सिद्धि होती है। महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन के दूसरे पाद— “साधनपाद में समाधि की सिद्धि और अविद्या से जन्म लेने वाले अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेशों को

क्षय करने के लिए यौगिक तकनीक के रूप में क्रिया-योग का वर्णन किया गया है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को क्रिया-योग कहते हैं।⁹⁰

साधक द्वारा यौगिक तकनीक के रूप में क्रियायोग की साधना से सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त अविद्या से जन्म लेने वाले अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी “क्लेशों का नाश तब होता है, जब द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव हो जाता है। निर्बीज समाधि की सिद्धि से चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है और क्लेश की स्थूल वृत्तियों का नाश ध्यान के द्वारा किया जा सकता है।”⁹¹

4.4.4 अष्टांगयोग

अष्टांगयोग का अनुष्ठान करने से जब चित्त की अशुद्धियों का नाश होता है और चित्त निर्मल हो जाता है, उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यंत हो जाता है। विवेकख्याति प्राप्त होने पर चित्त शुद्ध होकर अपने कारण में लीन हो जाता है और द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। योगी को अपने आत्मस्वरूप का दर्शन शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि से अलग प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

यौगिक तकनीक के रूप में “योग के आठ अंगों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का क्रमशः अनुष्ठान करके चित्त की अशुद्धियों का नाश हो जाने के पश्चात विवेकख्याति की प्राप्ति की जा सकती है।”⁹²

विवेक ज्ञान से प्रकृति और पुरुष की समान भाव से शुद्धि हो जाती है। अविद्या के कारण इन दोनों का संयोग होने से अशुद्धि होती है और “विवेक ज्ञान से बुद्धि और प्रकृति के शुद्ध होने के पश्चात कैवल्य की प्राप्ति होती है।”⁹³

योग के अधिगम से “विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है और यह विवेकज्ञान संसार सागर से पार ले जाने वाला सब प्रकार से सबको बिना क्रम के जानने वाला है।”⁹⁴

विवेकज्ञान की अंतिम अवस्था है। इसकी प्राप्ति हो जाने के बाद जानना कुछ शेष नहीं रह जाता, क्योंकि योग के अधिगम का लक्ष्य विवेकज्ञान से बुद्धि और पुरुष की शुद्धता से कैवल्य की प्राप्ति है।

महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन के साधनपाद में क्रियायोग एवं अष्टांगयोग को यौगिक तकनीक के रूप में वर्णित किया गया है। योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धियों की समाप्ति के पश्चात विवेकख्याति की प्राप्ति होने से कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। कैवल्य योग के अधिगम का अभीष्ट है। “योगदर्शन में वर्णित अष्टांग योग का प्रथम

अंग यम है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पांच यम कहलाते हैं। जब यम जाति, देशकाल और समय सीमा से परे होकर सार्वभौम हो जाता है तब महाव्रत बन जाता है।⁹⁵

योग के अधिगम के लिए महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में यौगिक तकनीक के रूप में अष्टांगयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है। योग के इन अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धियों का विनाश तथा बुद्धि और विवेक की प्राप्ति होती है। यथार्थ ज्ञान का प्रकाश अशुद्धियों के आवरण से ढका होने के कारण प्रकट नहीं हो पाता है परंतु अष्टांगयोग के रूप में वर्णित यौगिक तकनीक का अनुपालन करने पर अशुद्धियों का विनाश होने के पश्चात् बुद्धि ज्ञान के प्रकाश से चमक उठता है। योग के आठ अंग निम्नलिखित हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इन सभी अंगों का वर्णन किया है तथा साथ ही साथ इनका पालन करने से होने वाले लाभ का भी विवेचन किया है। योग की साधना में रत साधकों को अपने आत्मिक विकास के लिए योग के इन अंगों का एक साथ निष्पादन करना चाहिए। जिस प्रकार शरीर और शरीर के अंगों का विकास समग्रता के साथ होता है उसी प्रकार योग के इन अंगों का एक साथ अनुपालन करने से योग की सिद्धि होती है।

4.4.4.1 — यम

योग के प्रथम अंग यम का इस प्रकार वर्णन किया गया है— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यम के रूप में वर्णित यह पांच प्रकार की शक्तियां मनुष्य की समुदाय के लिए हर देशकाल और परिस्थिति में प्रासंगिक रही हैं। यद्यपि मानव समाज समय एवं परिस्थितियों के अनुसार कुछ विशेष प्रथाओं एवं नियमों द्वारा संचालित होता रहा है परंतु योग के अंग सार्वभौमिक श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

4.4.4.1.1 अहिंसा — अहिंसा के तात्पर्य हिंसा नहीं करने से है परंतु वर्तमान समय में देश, धर्म, जाति आदि के नाम पर मानव समाज बंटा हुआ है और संघर्ष में संलग्न है। मनुष्य, जो इस जगत का सबसे विवेकशील प्राणी है, उसके द्वारा मूर्खतापूर्ण कार्य का संपादन खंडित मानसिकता से जन्म लेने वाले विचारहीन हिंसा के परिणामस्वरूप हो रहा है। “हिंसा का जन्म कुंठित और निराशा से ग्रस्त मन के अंतर्गत होता है। इस मन के द्वारा कार्य रूप में हिंसा ही खड़ी होती है, जिसकी व्याप्ति वर्तमान समाज में किसी न किसी रूप में सर्वत्र दिखाई देती है। मानव समाज में व्याप्त हिंसा मानवता की जड़ को नष्ट कर देती है और

मनुष्य विवेकशील प्राणी होने के बजाय एक हिंसक प्राणी बन जाता है। हिंसा के भाव को त्यागना ही अहिंसा है।⁹⁶

योग के अधिगम से बुद्धि और विवेक के जाग्रत होने के पश्चात अहिंसा में स्थापित होने पर अहिंसक व्यक्ति की उपस्थिति में दूसरे प्राणी भी हिंसा का परित्याग कर देते हैं। हिंसा के परित्याग से ही विश्व-बंधुत्व और विश्व-शांति की संकल्पना को साकार किया जा सकता है। अहिंसक दृष्टिकोण में विश्व-ग्राम एवं वसुधैव कुटुंबकम् की भावना का विकास होता है और इस भाव के साथ ही एक ऐसे विकसित मनुष्य का जन्म होता है, जो लोक-कल्याणकारी भावना से ओत-प्रोत होकर, जगत और जगत के समस्त प्राणियों के हित में निरंतर लगा रहता है।

4.4.4.1.2 सत्य — दृश्य संसार तथा शरीर की परिवर्तनशीलता और द्रष्टा की अपरिवर्तनशीलता का ज्ञान ही सत्य है। परिवर्तन दृश्य जगत का धर्म है और अपरिवर्तन द्रष्टा का धर्म है। मन भूत और भविष्य के विचारों के साथ खड़ा रहता है। निर्विचार की अवस्था अमन की अवस्था है, जो वर्तमान क्षण में रहने से प्राप्त होती है। अपरिवर्तनशील द्रष्टा के स्वरूप का साक्षात्कार वर्तमान क्षण में होता है और द्रष्टा के अपने स्वरूप में स्थित होने को ही योग कहते हैं।

“सत्य का अर्थ केवल सत्य बोलना ही नहीं, बल्कि अपने शाश्वत, सत्य, सनातन, स्वरूप के प्रति पूर्ण निष्ठा रखना है। साधक जब सत्य में स्थापित होता है तो उसके द्वारा किए गए सारे कार्य सत्य से प्रतिष्ठित होते हैं। सत्य चेतना का गुण है और साधक जब चेतना में स्थित होता है तब निर्भयता को प्राप्त होकर सत्य के साथ जीता हुआ संसार में विचरण करता है, क्योंकि अंततः सत्य की ही जीत होती है— सत्यमेव-जयते। सत्य के प्रति समर्पित व्यक्ति को जीवन में सरलतापूर्वक सफलता की प्राप्ति होती है।⁹⁷

4.4.4.1.3 अस्तेय — “अस्तेय से आशय चोरी नहीं करने से है। यह तीसरा यम है।⁹⁸

अहिंसा और सत्य का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात साधक को इस संसार में किसी से कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह जाती है। किसी को देखकर उससे कुछ नहीं चाहने की इच्छा को अस्तेय कहा जा सकता है। “अपने से कुछ अच्छा या अधिक, दूसरे के पास दिखाई देने पर मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है और अस्तेय, ईर्ष्या भाव को नष्ट करता है। इस संसार में हम उसी चीज को पाना चाहते हैं जो हमारे पास नहीं है और दूसरों के पास दिखाई देता है।⁹⁹

प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की तुलना में ही अपने को सुखी या दुखी महसूस करता है। अपने से सुखी व्यक्ति को देखकर हम दुखी हो जाते हैं और अपने से दुखी व्यक्ति को देखकर हम सुख का अनुभव करते हैं। जब व्यक्ति को सत्य का दर्शन होता है तब वह सुख-दुख से ऊपर उठकर अचौर्य भाव में स्थित हो जाता है।

इच्छाओं के साथ जीने पर चोरी का भाव और दूसरे से किसी भी प्रकार की कोई भी वस्तु, प्राप्त नहीं करने की इच्छा के साथ अचौर्य भाव की प्राप्ति होती है। जब साधक को सत्य के प्रति निष्ठा होती है तब, अस्तेय के प्रभाव से सारी संपत्ति बिना प्रयास के ही प्राप्त हो जाती है। चोरी के भाव से व्यक्ति गरीब बन जाता है और अस्तेय भाव के साथ अमीर बन जाता है। अस्तेय का यह भाव व्यक्ति को वास्तविक धन संपदा से भरपूर कर देता है। उसे कुछ प्राप्त करने की इच्छा शेष नहीं रह जाती है और जिसकी इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं वह पूर्णकाम व्यक्ति ऐश्वर्य से युक्त होता है। अस्तेय ऐश्वर्यशाली बनाता है।

4.4.4.1.4 ब्रह्मचर्य — “सामान्यतया ब्रह्मचर्य से आशय अविवाहित रहने से माना जाता है परंतु वास्तव में देखा जाए तो ब्रह्म का अर्थ है अनंतता और चर्या का अर्थ है गमन अर्थात् अनंतता की ओर गमन करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।”¹⁰⁰

मनुष्य की चेतना का विस्तार अनंत है और यह चेतना निरंतर उसे, अनंतता की ओर प्रेरित करती रहती है। योग का उद्देश्य इसी चेतना में स्थित होना है। चेतना की अनुभूति जितनी सघन होती जाती है, शरीर और संसार के भार से निर्भर होकर, व्यक्ति को शरीर की उपस्थिति का एहसास उतना ही कम होता जाता है। ब्रह्मचर्य में ऐसी स्थिति की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य में स्थापित होने से जीवन में असीम शक्ति का संचार होता है, जिसमें अपने वास्तविक स्वरूप चैतन्य ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। शरीर से परे उस ब्रह्म-स्वरूप का बोध होने से, व्यक्ति ब्रह्म की ओर गमन करने लगता है, यही ब्रह्मचर्य है।

4.4.4.1.5 अपरिग्रह — अपरिग्रह से तात्पर्य संचय करने की प्रवृत्ति का मिट जाना है। शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से निरंतर अपने बारे में सोचने के परिणामस्वरूप व्यक्ति में संग्रह का भाव उत्पन्न होता है। शरीर और संसार की नश्वरता का ज्ञान होने के पश्चात् भी, मनुष्य एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो अपने संग्रही प्रवृत्ति के कारण निरंतर भयभीत रहता है। “भयभीत मन के कारण ही संचय करने की प्रवृत्ति का जन्म होता है। कामनाओं को पूरा करने में लगा हुआ मन अनंत “कामनाओं का शिकार होकर परिग्रही वृत्ति वाला हो जाता है। अपरिग्रह का अनुपालन करने से निष्काम भाव का आविर्भाव होता है,

परिणामस्वरूप सुख—दुख से मुक्त होकर कर्म करने का कौशल व्यक्ति में विकसित होता है। योग के अधिगम से निष्काम कर्म करने की कुशलता प्राप्त होती है।¹⁰¹

जीवन की अनंतता और निरंतरता का बोध ब्रह्म—स्वरूप के दर्शन के पश्चात् ही होता है। व्यक्ति को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने के बाद अपरिग्रह सिद्ध हो जाने पर अपने पिछले जन्मों का ज्ञान हो जाता है, परिणामस्वरूप वह अपने को शरीर से परे चैतन्य ब्रह्म के रूप में देखता है।

इस प्रकार योग के प्रथम अंग यम की व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि ने इन पांच महाव्रतों का पालन करने को कहा है। इस संसार की अभिव्यक्ति नाम और रूप के द्वारा होती है, इसलिए इंद्रियों और अंतःकरण से प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले विषयों को नाम और रूप के द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति, जीवन में सहज रूप से दिखाई देती है। इस संसार में जन्म लेने वाला व्यक्ति शब्द और दृश्य के बिना अपने स्वरूप को न तो जानता है और न ही किसी को पहचान पाता है, जबकि शब्द और दृश्य के इस संसार से तृष्णा रहित हुए बिना अपने स्वरूप का बोध हो पाना संभव नहीं है। चित्त की समस्त वृत्तियां शब्द और दृश्य के रूप में ही तो व्यक्त होती हैं और योग का अधिगम चित्तवृत्तियों के निरोध से होता है।

“शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले विषय—वस्तुओं के समस्त भोगों से चित्त, जब पूर्णरूपेण तृष्णा से रहित हो जाता है तब उसे वशीकार नामक अवस्था की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में लोक—परलोक में किसी भी तरह की इच्छा को पूरा करने की कामना का सर्वथा नाश हो जाता है। समस्त कामनाओं से मुक्त चित्त की इस अवस्था में वैराग्य उत्पन्न होता है।¹⁰²

“सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण से निर्मित इस दृश्य जगत में संपूर्ण कामनाओं से रहित होकर, अपने द्रष्टा स्वरूप का ज्ञान हो जाने के पश्चात् परम वैराग्य की प्राप्ति होती है और मन पूरी तरह से योग के प्रथम अंग यम का अनुपालन करने में संलग्न हो जाता है।¹⁰³

4.4.4.2 नियम

मनुष्य समुदाय में सुख, शांति और समृद्धि की प्राप्ति यम के पालन से ही संभव है। “शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शुद्ध करने के लिए महर्षि पतंजलि ने योग के

दूसरे अंग नियम का विस्तार से वर्णन किया है, जिसके अंतर्गत— शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आते हैं।¹⁰⁴

4.4.4.2.1 शौच — “शौच से तात्पर्य शरीर और मन की पवित्रता से है। स्वयं को बाहर और भीतर अर्थात् शरीर और मन से स्वच्छ रखना ही शौच कहलाता है।¹⁰⁵

“सुख-दुख, पुण्य-पाप के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के भाव से अंतःकरण को पवित्र बनाया जा सकता है।¹⁰⁶

बाहर और भीतर की सुचिता से मन तनाव से मुक्त हो जाता है और तनावमुक्त मन में ही प्रसन्नता और तृप्ति का भाव विकसित होता है। मनुष्य के जीवन में संसार और शरीर के प्रति जो आकर्षण है, वह शौच की साधना करने से कम होता है। शरीर की इंद्रियों, विशेष रूप से जननेंद्रिय के प्रति आकर्षण कम हो जाता है।

शरीर का वास्तविक रूप से ज्ञान होने के पश्चात् त्वचा के नीचे रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं तंत्रिकाओं का दर्शन होने पर, शरीर के प्रति यौन आकर्षण का सर्वथा अभाव हो जाता है। शरीर के प्रति अज्ञानता के कारण ही मनुष्य में अपराधी और हिंसक प्रवृत्तियों का विकास होता है। यौन समस्या से जुड़े अपराधों के घटित होने का एकमात्र कारण शरीर के प्रति शुद्ध जानकारी का अभाव है।

शौच के स्थापित होने पर मन सात्विक विचार करने लगता है, परिणामस्वरूप शांति का अनुभव होता है। शौच से बुद्धि, शुद्ध तथा मन की एकाग्रता में वृद्धि होती है। साथ ही साथ साधक अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मदर्शन को उपलब्ध होता है। बाहर के प्राणी-पदार्थों से मन का संपर्क हटा लेने के बाद, मन स्थिर और शांत हो जाता है। “बाह्य शुद्धि के पश्चात् साधक का अपने अंगों के प्रति वैराग्य और दूसरे के अंगों के प्रति किसी भी प्रकार के संसर्ग की इच्छा समाप्त हो जाती है।¹⁰⁷

दूसरे शब्दों में संसार के बाहरी पदार्थों का आकर्षण नहीं रह जाता है। इसके साथ ही साथ आंतरिक शुद्धि से मन में प्रसन्नता का भाव निरंतर बना रहता है। इंद्रियां अपने वश में रहती हैं और मन में आत्मसाक्षात्कार की योग्यता का विकास होता है। मन की यह स्थिति शौच के प्रभाव से उपलब्ध होती है।

4.4.4.2.2 संतोष — शौच की सिद्धि से जब सभी इंद्रियां, मन के वश में हो जाती हैं और बाहरी विषयों की चाह सर्वथा समाप्त हो जाती है तब “मन की इच्छा रहित अवस्था को संतोष कहते हैं, जिसके समान संसार में दूसरा कोई सुख नहीं है।¹⁰⁸

जिन लोगों को ऐसा लगता है कि सुख की प्राप्ति, इंद्रियों का उनसे संबंधित विषयों के प्रति चाह उत्पन्न होना और उस चाह के पूर्ण होने के पश्चात होती है यह मात्र भ्रम है क्योंकि चाह कभी पूरी होती ही नहीं है। जब मन पूर्ण रूप से चाह रहित हो जाता है तब अनंत सुख की प्राप्ति होती है। “इस अनंत सुख की सिद्धि संतोष से उपलब्ध होती है, न कि इच्छाओं को पूरा करने करने से।”¹⁰⁹

इच्छाओं को पूरा करने में लगे हुए लोगों की इच्छाएं और बलवती होती जाती हैं और अंततः मृत्यु, अधूरी इच्छाओं के साथ ही होती है, इसलिए इच्छाओं से रहित होने अर्थात् संतोष में सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

4.4.4.2.3 तप — अपने स्वधर्म अर्थात् कर्तव्य—कर्म के पालन में शारीरिक और मानसिक विचलन से मुक्त होकर आने वाले कष्टों को सहर्ष स्वीकार करना तप है। राग—द्वेष से मुक्त मन के द्वारा कर्तव्य—कर्म का निर्वाह करना ही तप है। व्रत, उपवास आदि इसी के अंतर्गत आते हैं। “तप के प्रभाव से जब अशुद्धियों का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है तब, शरीर और इंद्रियों की शुद्धि होती है। इसकी साधना से योगी का शरीर स्वच्छ, स्वस्थ और हल्का होकर स्व में स्थित हो जाता है।”¹¹⁰

स्व में स्थित होना ही स्वास्थ्य कहलाता है। बाहर के किसी भी विषय—वस्तु का प्रभाव जब शरीर और मन को विचलित नहीं करता है, तब तप की साधना होती है, जिससे शरीर और इंद्रियां शुद्ध होती हैं।

4.4.4.2.4 स्वाध्याय — अपने जीवन में कर्तव्य और अकर्तव्य के बोध का विकास करने वाले अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं। “स्वाध्याय की साधना से साधक का विवेक जागृत होता है, परिणामस्वरूप इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है। सद्शास्त्रों का अध्ययन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, मंत्र, जप आदि स्वाध्याय के अंतर्गत ही आते हैं।”¹¹¹ स्वाध्याय की साधना करने से अपने आत्मस्वरूप का दर्शन होता है।

4.4.4.2.5 ईश्वर—प्रणिधान — “ईश्वर वह विशेष पुरुष है, जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सर्वथा मुक्त है। ऐसे विशेष पुरुष की शरणागति से योग की साधना में आने वाली वाली बाधाओं का नाश होता है और समाधि की सिद्धि होती है।”¹¹²

अष्टांगयोग का परम लक्ष्य समाधि की सिद्धि है। “ईश्वरप्रणिधान से साधक समाधि को सिद्ध कर सकता है।”¹¹³

योग का अधिगम ईश्वर के साहचर्य से सहजता से सिद्ध होता है। मनुष्य देख करके, सुन करके, पढ़ करके, सोच-विचार करके सीखता है। योग के अधिगम का उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार करना है और आत्मसाक्षात्कार तब होता है जब चित्तवृत्तियों का निरोध हो और दृश्य जगत का द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो।

ईश्वर वह विशेष पुरुष है जो चित्त की वृत्तियों से सर्वथा मुक्त है। ईश्वर प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहित, गुणातीत है। ईश्वर के साहचर्य से योग के साधक को अपने स्वरूप का अधिगम सहजता से हो सकता है। ईश्वर के स्वरूप से अभिप्रेरित होकर व्यक्ति अपने स्वरूप का अधिगम कर सकता है, इसलिए ईश्वर की शरणागति से योग के मार्ग में आने वाली बाधाओं से मुक्ति के साथ ही साथ मनुष्य को अपने आत्मस्वरूप का अधिगम हो जाता है।

योग के प्रथम और द्वितीय अंग यम और नियम के पालन में **वितर्क** अर्थात् **विरोधी भाव** उत्पन्न होने पर योग के साधक को **प्रतिपक्षी भाव** का चिंतन करना चाहिए। प्रतिपक्षी भाव से तात्पर्य— “हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि भावों का विचार करने से है। हिंसा आदि भाव को ही वितर्क कहते हैं। वितर्क की प्रक्रिया तीन प्रकार से संपन्न होती है— **स्वयं करके, दूसरों से करवाकर और दूसरों द्वारा किए जाने का अनुमोदन करके**। इस वितर्क का कारण मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाला लोभ, क्रोध और मोह है। इन्हीं से प्रेरित होकर मन में वितर्क के विचार उत्पन्न होते हैं। यह वितर्क विचार व्यक्ति को दुख और अज्ञानता के रूप में अनंत फल देने वाले हैं। लोभ, क्रोध और मोह में कोई बड़ा-छोटा नहीं है। इस प्रकार के विचार का निरंतर चिंतन करते रहना ही, प्रतिपक्ष की भावना है।”¹¹⁴

4.4.4.3 — आसन

“आसन को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है कि स्थिरता से सुखपूर्वक बैठने को ही आसन कहते हैं और इस आसन की सिद्धि प्रयत्न की शिथिलता और अनंत परमात्मा में मन को स्थिर करने से होती है। आसन की सिद्धि से शरीर पर शीत, उष्ण आदि द्वंद्वों का आघात नहीं होता है।”¹¹⁵

हठयोग के ग्रंथों में अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन मिलता है। हठयोगियों के अनुसार **चौरासी लाख** योनियों के अनुसार **चौरासी लाख** आसन होते हैं। कुछ हठयोगियों का मानना है कि **चौरासी आसन** हैं। हठयोग के कुछ ग्रंथों में **बत्तीस आसन** और कुछ

ग्रंथों में **पन्द्रह आसन** का वर्णन मिलता है। “हठयोग के ग्रंथों में वर्णित आसन शरीर को स्वस्थ, हल्का और योग की साधना में सहायता करते हैं।

महर्षि पतंजलि प्रणीत योगसूत्र में वर्णित आसन हठयोग के आसन से अलग प्रकार का है, इसमें आसन की सिद्धि प्रयत्न की शिथिलता और अनंत में चित्त की एकरूपता से होती है। यहां अनंत से आशय आकाश आदि से है। “आसन से तात्पर्य लंबे समय तक स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बिना किसी कष्ट के बैठना है।”¹¹⁶

शरीर और मन की स्थिरता के परिणामस्वरूप शरीर का अध्यास छूटने के साथ ही साथ मन विषयों से रहित हो जाता है। आसन सिद्ध होने के पश्चात योग के साधक को शरीर और मन के विचलन से मुक्ति मिलती है और भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि का प्रभाव शरीर और मन पर नहीं पड़ता है।

4.4.4.4 — प्राणायाम

“आसन की सिद्धि हो जाने के पश्चात श्वास, प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम कहलाता है।”¹¹⁷

साधक जब यम, नियम का पालन करते हुए आसन को सिद्ध कर लेता है, तत्पश्चात पूरक और रेचक के माध्यम से बाहर से अंदर प्रविष्ट होने वाली प्राणवायु और अंदर से बाहर आने वाली प्राणवायु के रुक जाने की प्रक्रिया को प्राणायाम कहा जाता है। प्राणवायु की गति को रेचक, पूरक और कुंभक के द्वारा, बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर रोकने की प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं। यम और नियम की तरह आसन योग का स्वतंत्र अंग न होकर प्राणायाम को सिद्ध करने का साधन है, इसलिए आसन के सिद्ध होने पर श्वास की गति रुकने की बात की गई है।

“प्राणायाम बाह्यवृत्ति, अभ्यांतरवृत्ति और स्तंभवृत्ति के रूप में तीन प्रकार का होता है। देशकाल और संख्या की दृष्टि से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। चौथा प्राणायाम बाहर और भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने आप सिद्ध हो जाता है।”¹¹⁸

बाह्यवृत्ति प्राणायाम को ही रेचक कहते हैं, इसके अंतर्गत प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालकर सुखपूर्वक रोकना होता है। इस प्राणायाम का निरंतर अभ्यास करने से अधिक समय तक रुके रहने और सूक्ष्म होने की प्रक्रिया स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

अभ्यांतरवृत्ति प्राणायाम को पूरक प्राणायाम भी कहते हैं, इसके अंतर्गत शरीर के भीतर लिए आने वाले प्राणवायु को सुखपूर्वक रोकना होता है। साथ ही साथ यह भी देखना

होता है कि किस स्थान पर प्राणवायु रुकता है। निरंतर अभ्यास के द्वारा इसे दीर्घ और सूक्ष्म किया जा सकता है।

स्तंभवृत्ति प्राणायाम को कुंभक प्राणायाम भी कहते हैं, इसके अंतर्गत शरीर से बाहर जाने वाली प्राणवायु अर्थात् रेचक और शरीर के भीतर जाने वाली प्राणवायु अर्थात् पूरक को बिना प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से, जहां प्राणवायु हो वही उसकी गति को सुखपूर्वक स्तंभित कर देना होता है और यह देखना होता है कि किस स्थान पर और कितनी देर तक प्राणवायु रोका जा सकता है। निरंतर अभ्यास के द्वारा इस प्राणायाम को दीर्घ और सूक्ष्म किया जा सकता है।

“चौथे प्राणायाम की सिद्धि बाहर और भीतर के विषयों का त्याग कर देने से स्वयंमेव होती है। इसके अंतर्गत रेचक, पूरक और कुंभक के ज्ञान के बिना ही प्राणवायु को देशकाल और संख्या से मुक्त होकर रोकना होता है। यह प्राणायाम अन्य तीन प्रकार के प्राणायाम से सर्वथा भिन्न है। मन स्वभाव से चंचल है। जब एकाग्रता के अभ्यास से इसकी चंचलता शांत हो जाती है तब अपने आप प्राणों की गति रुकने से इस चौथे प्रकार के प्राणायाम की सिद्धि होती है, इसे बिना प्रयास के सिद्ध होने वाला **राजयोग प्राणायाम** भी कहते हैं।”¹¹⁹

“प्राणायाम के अभ्यास से चित्त पर कर्म-संस्कार और अविद्या आदि के कारण जो ज्ञान का आवरण है वह क्षीण होता है तथा मन को किसी एक देश में ठहराने की धारणा की योग्यता विकसित होती है।”¹²⁰

योग के अधिगम में प्राणायाम के अभ्यास का महत्वपूर्ण योगदान है, क्योंकि जब चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् ज्ञान के प्रकाश का आवरण क्षीण होता है और मन को बाहर या भीतर किसी भी एक देश में एकाग्र करने की योग्यता का विकास होता है तब आत्मप्रकाश का साक्षात्कार होता है। व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान चित्त की वृत्तियों के संस्कारों के नष्ट होने के पश्चात् ही होता है। आत्मस्वरूप के ज्ञान के साथ ही मनुष्य इस जगत का सबसे विवेकशील प्राणी बन पाता है। आत्मविवेक के आधार पर इस जगत और जगत के जीवों में एकात्मता का दर्शन होता है। प्राणायाम के अभ्यास से एकात्मता के ज्ञान का आवरण क्षीण होता है और मन में आत्म-धारणा की योग्यता का विकास होता है।

4.4.4.5 – प्रत्याहार

यम, नियम, आसन और प्राणायाम के अभ्यास से शरीर और इंद्रियों की शुद्धि हो जाने के पश्चात “इंद्रियों का अपने संबंधित विषयों के राग-द्वेष से रहित अर्थात् विषयों के साथ संबंध नहीं होने पर, इंद्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना ही प्रत्याहार है।”¹²¹

प्रत्याहार से तात्पर्य इंद्रियों का अपने विषयों से विमुख होना है, इसके अंतर्गत इंद्रियों की अपने संबंधित विषयों के प्रति बहिर्मुखी प्रवृत्ति उलट कर अंतर्मुखी हो जाती है, जिसके कारण इसे इंद्रियों का प्रत्याहार कहते हैं। योग की साधना में साधक जब इंद्रियों के विषयों का त्याग करके चित्त को आत्म तत्त्व की ओर लगाता है तब, चित्त की बाह्यवृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं और समस्त इंद्रियां निरुद्ध चित्त के अधीन होकर काम करती हैं, परंतु प्रत्याहार के अंतर्गत इंद्रियां चित्त के स्वरूप की नकल करती हैं, न कि चित्त के समान आत्मस्वरूप के अभिमुख होती हैं, क्योंकि इंद्रियां स्वभाव से बहिर्मुखी होती हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम की साधना से जब चित्त बाहर के विषयों से विरक्त होकर अपने स्वरूप में समाहित होने लगता है तब, इंद्रियां चित्त का अनुकरण करके अंतर्मुखी होने लगती हैं। इस प्रक्रिया को ही इंद्रियों का प्रत्याहार कहा जाता है।

शरीर और इंद्रियों के वशीभूत होकर सामान्य, लोग अपने यथार्थ स्वरूप की विस्मृति में जीवन व्यतीत कर देते हैं। योग के अधिगम का उद्देश्य अपने आत्मस्वरूप की स्मृति है। योग के अंगों का क्रमशः पालन करने से आत्म साक्षात्कार होता है। “अपने इंद्रियों को वश में करने का सबसे उत्कृष्ट साधन प्रत्याहार है।”¹²²

“इंद्रियों को वश में करने का प्रत्याहार एक सशक्त यौगिक तकनीक है। अष्टांग योग की साधना में प्रत्याहार सिद्ध होने के पश्चात इंद्रियां अपने वश में हो जाती हैं। इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रत्याहार की सिद्धि हो जाने पर अन्य साधन की जरूरत नहीं रह जाती है, क्योंकि प्रत्याहार से इंद्रियां परम वश में हो जाती हैं।”¹²³

योग की साधना में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक यौगिक तकनीक को योग के **बहिरंग साधन** के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। योगदर्शन के तीसरे पाद— “विभूतिपाद में अष्टांगयोग के **अंतरंग यौगिक तकनीक** का वर्णन किया गया है। धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांगों को अन्य पूर्व में वर्णित पांच योगांगों की अपेक्षा अंतरंग साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि के लिए

यद्यपि धारणा, ध्यान और समाधि अंतरंग साधन है, तथापि असंप्रज्ञात समाधि की सिद्धि के लिए ये बहिरंग साधन हैं।”¹²⁴

योग की साधना में रत साधक को “पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का ज्ञान हो जाने के साथ ही साथ इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि प्रकृति और पुरुष की एकता की जो प्रतीति हो रही है वही भोग है। अविद्या के कारण इनकी एकता की प्रतीति होती है, इसी प्रतीति को अस्मिता कहते हैं।”¹²⁵

“वास्तव में द्रष्टा पुरुष के स्वरूप की वृत्ति भोग रूप वृत्तियों से भिन्न होती है। द्रष्टा और दृश्य की अभेद वृत्ति यद्यपि चित्त का धर्म है परंतु यह पुरुष के लिए है, इसलिए परार्थ है। जिस वृत्ति का विषय पुरुष है उसे स्वार्थ कहते हैं। इस स्वार्थ वृत्ति में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। वास्तव में ज्ञान बुद्धि का धर्म है परंतु बुद्धि के धर्म से पुरुष का ज्ञान संभव नहीं है। बुद्धि में चेतन पुरुष का प्रतिबिंब पड़ता है, जिसको पुरुष वैसे ही देखता है जिस प्रकार दर्पण में हम अपने मुख को देखते हैं। साधक जब स्वार्थ वृत्ति से पुरुष को विषय बनाकर संयम करता है तब उसे पुरुष का ज्ञान होता है।”¹²⁶

“स्वार्थ वृत्ति में संयम करने से प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक छः प्रकार की सिद्धियां प्रकट होती हैं, जो पुरुष के ज्ञान अर्थात् समाधि की सिद्धि में विघ्न हैं और उत्थान में सिद्धियां हैं।”¹²⁷

4.4.4.6 — धारणा

“चित्त को किसी विशेष स्थान में बांधने को धारणा कहते हैं।”¹²⁸

इंद्रियों के द्वारा उनसे संबंधित विषयों को चित्तवृत्ति के रूप में चित्त ग्रहण करता है। योग की साधना में प्रत्याहार द्वारा जब इंद्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति उलट कर अंतर्मुखी हो जाती है तब भी, चित्त को जिस देश में बांधा जाता है उसे चित्तवृत्ति के रूप में ही ग्रहण करता है। चित्त विभिन्न इंद्रियों के माध्यम से विभिन्न विषयों की वृत्ति से आवृत रहता है। “जब अन्य विषयों से चित्त को हटाकर किसी एक विषय जिस पर ध्यान किया जाता हो, उस पर चित्त को वृत्ति मात्र से ठहराया जाता है तब उसे धारणा कहते हैं।”¹²⁹

धारणा मन को एकाग्र करने तथा किसी एक विषय पर सीमित करने की एक विधि है। सामान्यतया मन में असंख्य विचारों का प्रादुर्भाव होता रहता है। व्यक्ति जब किसी एक विषय पर चित्त को वृत्ति मात्र से एकाग्र करता है तब योग के इस अंग की सिद्धि होती है।

इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि के द्वारा जब चित्त स्थिर होता है तब धारणा की सिद्धि होती है।

4.4.4.7 – ध्यान

“जिस विषय में धारणा की गई है उसी में वृत्ति का एक सा बने रहने को, ध्यान कहते हैं।”¹³⁰

ध्यान से तात्पर्य यह है कि जिस विषय पर ध्यान किया जाता है उसी विषय पर बिना किसी अन्य वृत्ति के चित्त का सतत् एक सा बने रहने से है। जिस विषय पर धारणा की जाती है उसमें, बिना किसी बाधा के चेतना के सतत् प्रवाह से अविद्या से जन्म लेने वाले अहंकार का विसर्जन हो जाता है। ध्यान के अभ्यास से व्यष्टि चेतना अहंकार के मिट जाने से समष्टि चेतना में परिणित हो जाती है।

4.4.4.8 – समाधि

“ध्यान ही समाधि तब बन जाता है जब चित्त के स्वयं का स्वरूप, शून्य हो जाता है और ध्यान में केवल ध्यान किए जाने वाले विषय की प्रतीति ही शेष रह जाती है, तब ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।”¹³¹

“योग की साधना में जब ध्यान किये जाने वाले विषय के साथ मन एकरूप हो जाता है तब समाधि घटित होती है। मन का विषय के साथ एकरूपता हो जाने के कारण मन मिट जाता है और ध्यान ही शेष बचता है।”¹³²

समाधि में जिसका ध्यान किया जाता है, न तो वह विषय बध्चता है और न ही ध्यान करने वाला ही बचता है। मन के मिटते ही यह दोनों अर्थात् ध्यान का विषय और ध्यान करने वाला दोनों मिट जाते हैं, तब समाधि घटित होती है। योग का अधिगम योगसूत्र में वर्णित अष्टांगयोग की यौगिक तकनीक के अभ्यास से होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि के अभ्यास से योग के परम लक्ष्य समाधि की सिद्धि होती है।

योग के अधिगम में जब साधक द्वारा विभिन्न यौगिक तकनीकों का प्रयोग किया जाता है तब, बुद्धि के रजोगुण और तमोगुण के संस्कार न रहकर शुद्ध सतोगुण के ही संस्कार शेष रह जाते हैं, तब उस साधक में बुद्धि और पुरुष के भिन्नता का ज्ञान कराने वाला विवेक ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है। ऐसे विवेक ज्ञान प्राप्त योगी का सब भावों पर स्वामी भाव और सर्वज्ञ भाव हो जाता है।

“योग की साधना में रत योगी को जब विवेक ज्ञान से भी वैराग्य हो जाता है तब सारे दोषों के बीज का नाश हो जाता है। इस अवस्था में चित्त अपनी वृत्तियों के संस्कारों सहित अपने कारण में विलीन हो जाता है और द्रष्टा की अपने स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। द्रष्टा के स्वरूप की अवस्थिति को ही कैवल्य कहते हैं।”¹³³

विवेक ज्ञान प्राप्ति के लिए यौगिक तकनीक के रूप में विभूतिपाद के **बावनवें सूत्र** में वर्णन है कि “समय के सबसे छोटे हिस्से क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकजनित ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह विवेकजनित ज्ञान ही संसार सागर से पार कराने वाला तथा सब प्रकार से बिना क्रम के जानने वाला है। विवेक ज्ञान से बुद्धि और पुरुष की समान भाव से शुद्धि हो जाती है, परिणामस्वरूप योग के साधक को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।”¹³⁴ यही योग्य अधिगम का परम लक्ष्य है।

योग की साधना में रत योगी विवेक ज्ञान के द्वारा जब चित्त और आत्मा के भेद का साक्षात्कार कर लेता है तो “उसकी आत्म भाव—भावना अर्थात् आत्मा के विषय का चिंतन करने वाली भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है। उस समय योगी का चित्त नश्वर संसार के विषयों की ओर न जाकर, विवेक ज्ञान की ओर निरंतर प्रवाहित रहते हुए कैवल्य के अभिमुख हो जाता है। वास्तव में कैवल्य चित्त का अपने कारण में विलीन हो जाना और द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना है।”¹³⁵

विवेक ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् योगी सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञता का सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जब योगी, ऐसे सामर्थ्य से विरक्त हो जाता है दूसरे शब्दों में, “विवेक ज्ञान की महिमा से भी जब वैराग्य हो जाता है तब, निश्चल विवेक ज्ञान बना रहता है, परिणामस्वरूप योगी को **धर्म—मेघ समाधि** की प्राप्ति हो जाती है। इस समाधि से समस्त क्लेश और शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित कर्मों के संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।”¹³⁶

धर्म—मेघ समाधि प्राप्त हो जाने के पश्चात् प्रकृति के गुणों का ऐसे साधक के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। “प्रकृति का पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करने का जो काम था, वह पूरा हो जाता है, इसलिए गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है। प्रकृति के जिन गुणों का पुरुष के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, उन गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है अथवा द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।”¹³⁷

संदर्भ ग्रंथ सूची:—

1. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/2 पृ.सं. 11।
2. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/29 पृ.सं. 354।
3. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, पृ. सं. 15।
4. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/33 पृ.सं. 31।
5. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/1 पृ.सं. 275।
6. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore।
7. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद—211001, 3/4 पृ.सं. 111।
8. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/55 पृ.सं. 114।
9. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद—211001, 4/1 पृ.सं. 166।
10. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 62।
11. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद—211001, पृ.सं. 15।
12. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/47—48 पृ.सं. 39—40।
13. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, पृ.सं. 75।
14. मिश्र, डॉ० भास्कर (2001), शिक्षा—दर्शन नाग पब्लिशर्स, 11ए, यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली पृ.सं. 05
15. मिश्र, डॉ० भास्कर (2001), वैदिक शिक्षा पद्धति, महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद—विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन।
16. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 1/48 पृ.सं. 66।
17. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/47—48 2/17 पृ.सं. 55।
18. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद—211001, 1/4 पृ.सं. 19।
19. आरण्य, श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द, (2014), पातंजल योग दर्शन, व्यास भाष्य, मातीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1/6 पृ.सं. 18।

20. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 2/15 पृ.सं. 74।
21. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/24 पृ.सं. 26।
22. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 1/30-31 पृ.सं. 48-49।
23. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/32 पृ.सं. 31।
24. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 2/45 पृ.सं. 102।
25. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 1/24 पृ.सं. 40।
26. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 4/7 पृ.सं. 171-72।
27. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/13 पृ.सं. 51।
28. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 1/25 पृ.सं. 41।
29. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 1/29 पृ.सं. 42-43।
30. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 4/23 पृ.सं. 128।
31. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/1 पृ.सं. 134।
32. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा। पृ.सं. 110।
33. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 4/4 पृ.सं. 558।
34. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा। पृ.सं. 93।
35. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 4/1 पृ.सं. 116।
36. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 4/1 पृ.सं. 116।
37. ओशो (2017) बुलाते हैं फिर तुम्हे पतंजलि योगसूत्र भाग-4, फ्यूजन बुक्स नई दिल्ली-110020, पृ.सं. 17-18।
38. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 4/4 पृ.सं. 556-57।

39. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 4/6 पृ.सं. 95।
40. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, पृ.सं. 13-14।
41. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/3,4 पृ.सं. 252-53।
42. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 4/23 पृ.सं. 580।
43. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, पृ.सं. 104।
44. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 4/24 पृ.सं. 585।
45. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 4/25 पृ.सं. 105।
46. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2015), 108 उपनिषद् (सरल हिन्दी भावार्थ सहित) ज्ञानकाण्ड, निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, पृ.सं.
47. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 217।
48. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/47,48 पृ.सं. 39,40।
49. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 1/20 पृ.सं. 37।
50. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 1/30 पृ.सं. 27,28।
51. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/3 पृ.सं. 74।
52. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/5,6 पृ.सं. 12-13।
53. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 4/25 पृ.सं. 186।
54. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 3/55 पृ.सं. 195।
55. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/15 पृ.सं. 298-299।

56. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, पृ.सं. 75।
57. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, पृ.सं. 88।
58. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/18 पृ.सं. 306।
59. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 4/29,30 पृ.सं. 132-33।
60. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 4/34 पृ.सं. 593।
61. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 3/54 पृ.सं. 195।
62. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 4/30 पृ.सं. 108।
63. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 4/32 पृ.सं. 133-34।
64. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/27 पृ.सं. 352-53।
65. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/18,19 पृ.सं. 62।
66. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/16,17 पृ.सं. 88-89।
67. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/25 पृ.सं. 353।
68. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/26 पृ.सं. 60।
69. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, पृ. सं. 101।
70. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 353।
71. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 4/7 पृ.सं. 119।

72. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 4/9 पृ.सं. 207।
73. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद—211001, 4/10,11 पृ.सं. 174—75।
74. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 4/11 पृ.सं. 210।
75. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 1/2,3,4 पृ.सं. 13—15।
76. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद—211001, 4/34 पृ.सं. 195।
77. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/25 पृ.सं. 348।
78. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 1/6 पृ.सं. 16।
79. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद—211001, पृ.सं. 15।
80. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/12 पृ.सं. 18।
81. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 1/15 पृ.सं. 28।
82. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 3/55 पृ.सं. 554।
83. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 1/20,21,22 पृ.सं. 23—24।
84. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 1/29 पृ.सं. 216।
85. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 1/32 पृ.सं. 28।
86. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 1/33 पृ.सं. 223।
87. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र—योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 1/34,35,36 पृ.सं. 53—56।

88. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 1/37,38,39 पृ.सं. 52-53।
89. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/47-51 पृ.सं. 39-41।
90. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore 2/1,2 पृ.सं. 102-103।
91. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/10,11 पृ.सं. 291-92।
92. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2/28,29 पृ.सं. 53-54।
93. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 3/55 पृ.सं. 195।
94. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 3/54 पृ.सं. 163।
95. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2/30,31 पृ.सं. 55-56।
96. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore पृ.सं. 156।
97. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 370।
98. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, पृ.सं. 55।
99. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore पृ.सं. 161।
100. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore पृ.सं. 161।
101. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 372।
102. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/15 पृ.सं. 20।
103. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 1/16 पृ.सं. 20।
104. दौनेरिया डॉ० साधना (2014) पातंजल योगसार मधूलिका प्रकाशन, इलाहाबाद 2/32 पृ.सं.

105. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore पृ.सं. 166।
106. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 3/54 पृ.सं. 163।
107. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/40 पृ.सं. 70।
108. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 2/42 पृ.सं. 100।
109. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/42 पृ.सं. 115।
110. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 4/43 पृ.सं. 101।
111. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/42 पृ.सं. 115।
112. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/29 पृ.सं. 216।
113. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/45 पृ.सं. 117।
114. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 2/34 पृ.सं. 94।
115. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/46,47,48 पृ.सं. 72-73।
116. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 421।
117. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 2/49 पृ.सं. 104।
118. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/50,51 पृ.सं. 122-24।
119. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2/51 पृ.सं. 64।
120. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/52,53 पृ.सं. 76-77।

121. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/54 पृ.सं. 455।
122. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2/55 पृ.सं. 66।
123. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/55 पृ.सं. 127।
124. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/7,8 पृ.सं. 81।
125. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/6 पृ.सं. 48।
126. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 3/35 पृ.सं. 170।
127. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/36,37 पृ.सं. 100।
128. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 3/1 पृ.सं. 128।
129. ओशो (2017) बुलाते हैं फिर तुम्हे पतंजलि योगसूत्र भाग-4, फ्यूजन बुक्स नई दिल्ली-110020, पृ.सं. 6।
130. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 3/2 पृ.सं. 110।
131. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/3 पृ.सं. 80।
132. ओशो (2017) बुलाते हैं फिर तुम्हे पतंजलि योगसूत्र भाग-4, फ्यूजन बुक्स नई दिल्ली-110020, पृ.सं. 15।
133. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 3/49,50 पृ.सं. 159-60।
134. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 3/54,55 पृ.सं. 194-95।
135. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 4/25,26 पृ.सं. 187,88।
136. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 4/29,30 पृ.सं. 132-33।
137. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 4/32,34 पृ.सं. 229-30।

अध्याय—5

योगवासिष्ठ में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक

5.1 योगवासिष्ठ का परिचय

भारतीय ज्ञान परंपरा के ग्रंथों में योगवासिष्ठ अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को प्रकट करने वाला एक विशिष्ट एवं सर्वोपरि ग्रंथ है। यह वेदांत के अद्वैत की अवधारणा को स्पष्ट करने वाला एक अद्वितीय ग्रंथ है। इस ग्रंथ में वैदिक दर्शन एवं भारतीय मान्यताओं का सारांश अपनी परिपूर्णता में विद्यमान है, इसलिए इसकी तुलना किसी अन्य ग्रंथ से करना संभव नहीं है। इसके अध्ययन से मन को क्लेश पहुंचाने वाली धारणाओं का नाश होकर जीव को अपने सच्चिदानंद स्वरूप का ज्ञान होता है। ज्ञानियों में अग्रणी महर्षि वसिष्ठ जी को जो ज्ञान उनके पिता ब्रह्मा के द्वारा प्राप्त हुआ था वही ज्ञान महर्षि ने श्री रामचंद्र जी को दिया, जिसको प्राप्त करने के पश्चात श्री राम जीवन मुक्त होकर अपने कर्तव्य पथ पर निर्बाध रूप से एक योगी की भांति चल सके। इस मायावी संसार में माया—मोह से अपने को दूर रखकर अपने जीवन का निर्वाह किया। महर्षि वसिष्ठ और राम के संवाद को महर्षि वाल्मीकि ने लोककल्याण के लिए योगवासिष्ठ ग्रंथ के रूप में संकलित एवं संग्रहित किया है।

योगवासिष्ठ ग्रंथ मानव जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष की साधना के लिए विस्तारपूर्वक साधनों का संकलन है। मनुष्य संसार में रहते हुए कर्म बंधनों को काटकर मोक्ष की प्राप्ति कैसे कर सकता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में पूजा, पाठ, प्रार्थना, मंत्र, जप, तप, हठयोग आदि साधनों के अतिरिक्त यदि साधक इस ग्रंथ का अध्ययन, मनन और चिंतन करें तो निश्चित ही इसमें बताए गए विधियों को अपने जीवन में अंगीकार कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

योगवासिष्ठ ग्रंथ का भारतीय आध्यात्मिक जगत में महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन के लगभग सभी ग्रंथ इस ग्रंथ से किसी न किसी रूप में प्रभावित एवं अनुप्राणित हैं। इस ग्रंथ का अध्ययन करने से भारतीय दर्शन के समस्त ग्रंथों का सारांश अध्येता को प्राप्त हो जाता है। इसके पठन—पाठन से अन्य ग्रंथों को पढ़ने की आवश्यकता इसलिए नहीं रह

जाती है क्योंकि यह ग्रंथ अपने आप में परिपूर्ण है। इस संदर्भ में ग्रंथकार का स्वयं मत है कि “जो बात इस ग्रंथ में नहीं है, वह किसी अन्य ग्रंथ में नहीं मिलेगी और जो बात इस ग्रंथ में है वही बात अन्य ग्रंथों में भी मिलेगी।” इस ग्रंथ के सर्वप्रिय होने का कारण यह है कि इसमें संकीर्णता, असहिष्णुता और धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान नहीं है। इन मानसिक विकृतियों से मुक्त यह ग्रंथ प्रत्येक व्यक्ति के मान्यता एवं स्वतंत्रता का समभाव के साथ सम्मान करता है। सर्वधर्म समभाव का दृष्टिकोण इस ग्रंथ में पूर्ण रूप से समाहित है क्योंकि सभी धर्मों का अभीष्ट मोक्ष की प्राप्ति ही है।

इस ग्रंथ के अनुसार अज्ञानता के कारण ही ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, माया आदि भ्रांतियां जीवन में व्याप्त हैं। इस ग्रंथ में अन्य ग्रंथों का खंडन—मंडन नहीं, वरन सहिष्णुतापूर्वक उनकी मान्यताओं को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। इस ग्रंथ में युक्तियुक्त को स्वीकारने की बात की गई है, चाहे वह किसी बालक के द्वारा ही क्यों न कही गई हो, जो युक्तियुक्त बात नहीं करता वह ग्रंथ चाहे ऋषि के द्वारा ही क्यों न लिखी गई हो, उसे फेंक देना चाहिए। ऐसी बात निर्भीकतापूर्वक इस ग्रंथ में कहीं गई है। योगवासिष्ठ के अनुसार मनुष्य के जिस मार्ग पर चलने से उन्नति होती है, उस मार्ग पर चले बिना उसकी गति न सुख देती है न दुख। यह गति न उसके लिए हितकारी है और न ही शुभ फल देने वाली है।

जिस प्रकार विभिन्न देशों एवं दिशाओं से आने वाले राही एक ही नगर को जाते हैं, उसी प्रकार सभी दर्शन विभिन्न देशकाल में ज्ञात हुए मार्ग के द्वारा एक वेद को ही प्रकारांतर से प्राप्त करते हैं। एक बालक के द्वारा कही गई युक्तियुक्त बात को मान लेना उचित है परंतु युक्ति से इतर बात चाहे ब्रह्म ने ही क्यों न कही हो उसे तृण के समान त्याग देनी चाहिए।

5.1.1 ग्रंथ की सर्वप्रामाणिकता

भारत के अध्यात्मिक ज्ञान परंपरा में वेद, पुराण, उपनिषद, षड्दर्शन, महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों के सार सिद्धांतों का प्रामाणिक विश्लेषण करने वाला योगवासिष्ठअद्वैत का सर्वमान्य ग्रंथ है। इस ग्रंथ में अद्वैत वेदांत की धारणा का पूर्ण समायोजन किया गया है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता की सिद्धि इस बात से भी होती है कि कई उपनिषदों और श्रीमद्भगवद्गीता में भी ऐसे सूत्र पाए जाते हैं, जो योगवासिष्ठ ग्रंथ में उपलब्ध हैं। भारत

के संपूर्ण वेदांत दर्शन को प्रतिपादित करने वाले साहित्य में योगवासिष्ठ ग्रंथ श्रेष्ठतम है। यह ग्रंथ मानवीय चेतना के विकास के लिए परम कल्याणकारी है।

5.1.2 सरल एवं रोचक भाषा शैली का प्रयोग

योगवासिष्ठ ग्रंथ सरल एवं रोचक भाषाशैली में प्रस्तुत किया गया है। अध्यात्म एवं योग के कठिन सूत्रों को विभिन्न द्रष्टांतों के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि आम जनमानस उसे सरलता से समझकर जीवन में अंगीकार कर सके। किसी भी शिक्षण का उद्देश्य प्राप्त ज्ञान से जीवन के व्यवहार को परिवर्तित करना है। इस ग्रंथ में गूढ़ विषयों को इतने सरल एवं प्रभावोत्पादक तरीके से प्रस्तुत किया गया है, जिससे साधारण मनुष्य भी उसे सरलता से समझकर अपने जीवन में परिवर्तन ला सकता है।

योगवासिष्ठ अलंकारों से युक्त सरल एवं सुबोध ग्रंथ है, इसको सुंदर एवं रसपूर्ण काव्यशैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सूत्रों को विभिन्न द्रष्टांतों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।¹

5.1.3 योगवासिष्ठ एक विशाल आध्यात्मिक ग्रंथ

योगवासिष्ठ में बत्तीस हजार श्लोकों का वर्णन मिलता है। इसके आधार पर यह अध्यात्म का एक विशाल ग्रंथ है। निर्णय सागर मुंबई से प्रकाशित ग्रंथ को वर्तमान समय में प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया गया है, इसमें व्यवस्थित तरीके से ग्रंथ की विशालता का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है— वैराग्य प्रकरण में तैंतीस सर्ग और श्लोकों की संख्या पंद्रह सौ, मुमुक्षु—व्यवहार प्रकरण में बीस सर्ग और श्लोकों की संख्या एक हजार, उत्पत्ति प्रकरण में एक सौ सर्ग और श्लोकों की संख्या सात हजार, स्थिति प्रकरण में बासठ सर्ग और श्लोकों की संख्या तीन हजार, उपशम प्रकरण में तिरानवे सर्ग और श्लोकों की संख्या पाँच हजार, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध में एक सौ अट्ठाइस सर्ग और श्लोकों की संख्या चौदह हजार पाँच सौ और निर्माण प्रकरण उत्तरार्ध में दो सौ सोलह सर्ग।

इस प्रकार कुल मिलाकर बत्तीस हजार श्लोकों का यह एक विशाल आध्यात्मिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ में कई बार किसी गूढ़ विषय के अर्थ को प्रकट करने के लिए द्रष्टांतों की पुनरावृत्ति हुई है। यह एक दोष के रूप में देखा जा सकता है। इस ग्रंथ में पुनरक्ति दोष का दर्शन होता है। इस ग्रंथ में अध्यात्म के सभी पक्षों का समावेश मिलता है। साथ ही साथ गूढ़ रहस्य को बड़े ही वैज्ञानिक एवं सरल तरीके से दृष्टांतों के माध्यम से व्यक्त

किया गया है। शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, जन्म, मृत्यु, जीव, जगत, जगदीश, ब्रह्म, परब्रह्म, पुनर्जन्म आदि विषयों के तात्त्विक विवेचन के साथ ही साथ स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष, कर्म, कर्म का बंधन, मुक्त कर्म, तत्त्वदर्शी, दुख का कारण, दुख दूर करने का उपाय, योग की साधनाएं, चित, चित्त की शुद्धि, ज्ञान की सात भूमियां, कुंडलिनी शक्ति आदि आध्यात्मिक विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। योगवासिष्ठ में ज्ञान मार्ग को ही मोक्ष का साधन बताया गया है।²

“योगवासिष्ठ ग्रंथ का वर्णन करते हुए आनंदबोधेन्द्र सरस्वती कृत वासिष्ठ तात्पर्य प्रकाश व्याख्या सहित। नंबर 2407 – 24414 में कहा है कि वैराग्य प्रकरण (नंबर 302 अ), 33 सर्ग, प्रायः 1130 श्लोक, मुमुक्षु प्रकरण 20 सर्ग, प्रायः 1000 श्लोक, उत्पत्ति प्रकरण – 122 सर्ग, प्रायः 6000 श्लोक, स्थिति प्रकरण – 62 सर्ग, प्रायः 2400 श्लोक, उपशम प्रकरण – 93 सर्ग, प्रायः 4270 श्लोक, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध – 93 सर्ग, प्रायः 4270 श्लोक, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध – 216 सर्ग, प्रायः 8800 श्लोक। इस प्रकार कुल मिलाकर 26770 श्लोक है।”³

5.1.4 योगवासिष्ठ का रचनाकाल

योगवासिष्ठ की रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद है। डा. जे.एन. कर्कुहर के अनुसार योगवासिष्ठ की रचना तेरहवीं – चौदहवीं शती के मध्य हुई है। इसी प्रकार डा. शिव प्रसाद भट्टाचार्य के अनुसार 10–12वीं शताब्दियों के मध्य यह ग्रंथ लिखा गया होगा। जर्मन विद्वान डा. विन्टनिट्ज ने भारतीय साहित्य का इतिहास भाग-3 ग्रंथ में लिखा है कि “गौड अभिनन्दन द्वारा योगवासिष्ठ के एक सार ग्रंथ की रचना 9वीं शताब्दी के मध्य की थी। इससे यह सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ की रचना इससे हो चुकी थी। डा. भिखनलाल आत्रेय ने अपनी पुस्तक “योगवासिष्ठ और उसके सिद्धांत” में लिखा है कि योगवासिष्ठ की रचना आचार्य शंकर एवं भर्तृहरि से पूर्व छठीं शती में हुई है।”⁴

5.1.5 योगवासिष्ठ के संबंध में मनीषियों का दृष्टिकोण

डॉ. भीखन लाल आत्रेय की मान्यता के अनुसार “भगवान के भक्तों के लिए श्रीमद्भागवत और रामचरितमानस तथा कर्मयोगियों के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का जो महत्त्व है वैसा ही महत्त्व योगवासिष्ठ का ज्ञानियों के लिए है। इस ग्रंथ के अध्ययन से राजा से लेकर रंक तक अपने जीवन में आनंद और शांति का अनुभव करते हैं। सभी तरह के पाठकों के आनंद के लिए इस ग्रंथ में अध्ययन सामग्री प्रस्तुत है। भारतीय मनीषा की

सर्वोत्तम कृतियों में से महत्वपूर्ण यह ग्रंथ है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मभाव में स्थित रहकर संसार में व्यवहार करने के लिए इस ग्रंथ का श्रवण, मनन, निदिध्यासन सर्वोत्तम साधन है।”⁵

स्वामी रामतीर्थ जी के अनुसार “योगवासिष्ठ भारत की सर्वोत्तम पुस्तकों में से अद्भुत पुस्तक है। इस पुस्तक का अध्ययन करने वाले व्यक्ति में ब्रह्मभावना न हो और वह सब के साथ एकात्मता का अनुभव न करें ऐसा असंभव है।”

श्री भगवानदास के अनुसार “संस्कृत ग्रंथ योगवासिष्ठ में बत्तीस हजार श्लोक हैं। भारतीय वेदांत के ग्रंथों में यह ग्रंथ अपने दार्शनिक सिद्धांतों, साहित्यिक सौंदर्य और आत्मानुभव प्राप्त करने के साधनों में आदरणीय है। वेदांत प्रेमियों में यह प्रचलित उक्ति है कि यह ग्रंथ सिद्धावस्था में अध्ययन करने योग्य हैं और साधना की अवस्था में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और भगवद्गीता का अध्ययन करने की आवश्यकता है।”

सूर्यनारायण महर ने लघुवासिष्ठसार (उर्दू) की भूमिका में लिखा है कि “योगवासिष्ठ पढ़ने वाला व्यक्ति ज्ञानी जरूर हो जाता है।”

लाला बैजनाथ जी के अनुसार “अब तक वेदांत में ऐसा कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया जिसमें अद्वैत सिद्धांतों को इतने विस्तार से विभिन्न दृष्टांतों, आख्यानों और युक्तियों से प्रतिपादित किया गया हो। इस ग्रंथ के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से संसार के विषयों में कितना भी आसक्त मनुष्य क्यों न हो, वह वैराग्य संपन्न होकर आत्मपथ पर अग्रसर हो शांति को प्राप्त करता है।”⁶

5.1.6 ग्रंथ की रचना का समय

योगवासिष्ठ ग्रंथ के मतानुसार महर्षि वसिष्ठ ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं और भारतीय ज्ञान परंपरा के अनुसार ब्रह्माजी इस सृष्टि के सृजनहार हैं। उन्हें ज्ञान का आदिगुरु भी माना जाता है। यह ज्ञान वसिष्ठ जी को अपने पिता ब्रह्माजी से प्राप्त हुआ है। इस सृष्टि की रचना ब्रह्माजी ने की है। **संपूर्ण सृष्टि का निर्माण ब्रह्माजी की दो शक्तियों— ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति से हुई है।** इस कारण से ब्रह्माजी को ज्ञान का आदि कारण तथा सृष्टि का सृजनकर्ता माना गया है। ज्ञान की यह परंपरा शाश्वत एवं सनातनकाल से गुरु शिष्य परंपरा के अनुसार चलती आ रही है, जिस ज्ञान को वसिष्ठ जी ने अपने पिता ब्रह्माजी से प्राप्त किया था, उसी ज्ञान को महर्षि वसिष्ठ जी ने श्री राम जी को दिया। इस ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात श्रीरामजी ने धराधाम पर जीवन मुक्त होकर अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह

किया तथा जगत की माया—मोह से मुक्त होकर समाज कल्याण की भावना से लोगों को सनमार्ग पर चलने एवं सत्कर्म करने के लिए प्रेरित किया। महर्षि वाल्मीकि जी ने महर्षि वसिष्ठ जी और रामजी के संवाद के रूप में प्रचलित इस ज्ञान को संग्रहित किया है। महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा है कि “ब्रह्मा जी के आदेशानुसार मैंने इस ज्ञान की रचना महर्षि भरद्वाज को ज्ञान देने के लिए किया था।”⁷

इस प्रकार इस ग्रंथ के रचनाकार महर्षि वाल्मीकि जी को माना जाता है परंतु कुछ विद्वानों, इतिहासकारों का मानना है कि ग्रंथ की रचना वाल्मीकि जी के बाद हुई है। इस ग्रंथ में महाभारत युद्ध एवं भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा के अर्जुन को दिया गया गीता के उपदेश का भी वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ में बौद्ध मत के विज्ञानवाद के मध्यम मार्ग तथा शून्यवाद का भी वर्णन मिलता है। योगवासिष्ठ में इस्लाम धर्म एवं ईसाई धर्म का भी उल्लेख मिलता है। इन तथ्यों को देखते हुए कुछ इतिहासकारों का मानना है कि यह ग्रंथ 13वीं और 14वीं शताब्दी के बीच का है। कुछ विद्वानों का ऐसा भी मानना है कि इस ग्रंथ की रचना आदि शंकराचार्य के पूर्व हुई है। इस आधार पर इस ग्रंथ की रचना का समय पांचवी एवं छठी शताब्दी के आस-पास का है। मत-मतांतरों के कारण इस ग्रंथ के वास्तविक रचना के समय के संबंध में मतभेद दिखाई देता है। कुछ विद्वानों का ऐसा मानना है योगवासिष्ठ की रचना भर्तृहरि से पूर्व एवं महाकवि कालिदास के बाद का है। इस प्रकार ज्ञान के इस शाश्वत ग्रंथ की रचना का काल निश्चित करना आसान नहीं है। योगवासिष्ठ सत्य—सनातन ज्ञान का भंडार है। भारतीय दार्शनिक परंपरा के अनुसार इस प्रकार के सत्य—सनातन ज्ञान के ग्रंथों का निर्माण किसी व्यक्ति को नहीं वरन सनातन वैदिक सिद्धांतों को ही इस प्रकार के ज्ञान का आधार माना गया है। महर्षि वाल्मीकि ने भी कहा है कि “ब्रह्माजी से प्राप्त परंपरा से चला आ रहा यह ईश्वरीय ज्ञान मेरे द्वारा संग्रहित किया गया है।”⁸

किसी व्यक्ति द्वारा 32,000 श्लोकों से युक्त यह ग्रंथ किसी विशेष समय में रचा गया हो ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता है। महर्षि वसिष्ठ और श्रीराम जी के बीच का संवाद इतना विशाल नहीं रहा होगा। यह संवाद गुरु—शिष्य परंपरा के रूप में मौखिक रूप से चलता रहा होगा। कालांतर में कुछ आचार्यों ने संकलित कर इसे विस्तार देने का कार्य किया होगा। इसे प्रामाणिक एवं प्रभावी बनाने के लिए बाद में बहुत सारे प्रसंग भी जोड़े गए होंगे। इस कारण से ही ग्रंथ में पुनरुक्ति दोष का दर्शन होता है। श्रीरामजी के विषाद को

दूर करने के लिए महर्षि वसिष्ठ जी के द्वारा आत्मबोध कराने के लिए दिया गया उपदेश निश्चित ही संक्षिप्त रहा होगा। अरिष्टनेमि का उपदेश, शुकदेव का उपदेश, बौद्धदर्शन का उपदेश, गीता का उपदेश श्रीराम जी को दिया जाना सुसंगत प्रतीत नहीं होता है। इसे पूर्णरूपेण आध्यात्मिक ग्रंथ बनाने के दृष्टिकोण से बाद में शायद इन्हें अलग से जोड़ा गया होगा ऐसा प्रतीत होता है।

यह ग्रंथ कब लिखा गया यह महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि ज्ञान के जिज्ञासुओं का संबंध ज्ञान से होता है। इस ग्रंथ में भारतीय दर्शन का सारतत्त्व समाहित है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता और पुराणों में जिन आध्यात्मिक मान्यताओं का वर्णन है, उसमें भारतीय दर्शन का सार्थक तत्व मौजूद है। अध्यात्म की जिज्ञासा और साधना करने वाले साधकों को जो ज्ञान चाहिए, वह इस ग्रंथ में उपलब्ध है। इस ग्रंथ के निर्देशानुसार अपने गुणों और रुचि के मार्ग का अनुसरण कर कोई भी साधक, अपना आत्मकल्याण सरलता से कर सकता है। ज्ञान के पिपासुओं के लिए योगवासिष्ठ एक सच्चा पथ प्रदर्शक है। सत्य—सनातन ज्ञान देशकाल की सीमाओं से परे होता है। सत्य ज्ञान अनादि और अनंत होने के कारण काल, भेद की सीमा से परे होता है। योगवासिष्ठ ग्रंथ के रचनाकार महर्षि वाल्मीकि को ही मानना उचित प्रतीत होगा।

5.1.7 योगवासिष्ठ में शिक्षण एवं अधिगम की अनूठी विधि का प्रयोग

शिक्षण का उद्देश्य अधिगम कराना होता है। योगवासिष्ठ ग्रंथ में श्रीराम जी को जिस प्रकार महर्षि वसिष्ठ जी ने ज्ञान देकर आत्मबोध कराया, उसकी विधि अनूठी है। संसार की नश्वरता का बोध हो जाने के पश्चात्, यहां करने योग्य कुछ भी नहीं है, इस तरह की प्रवृत्ति श्रीराम जी में विकसित हुई। इस प्रवृत्ति से मुक्त होकर अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह निष्काम भाव से करने के लिए महर्षि वसिष्ठ जी ने श्रीराम को तत्त्वज्ञान का उपदेश किया, जिसके परिणामस्वरूप अज्ञान एवं भ्रांति से मुक्त होकर, आत्मानंद की अनुभूति के साथ ही साथ अपने कर्तव्य पथ पर फल आकांक्षा से मुक्त होकर, कर्म करने के लिए अग्रसर हो सके। “शिक्षण की जिस अनूठी विधि का प्रयोग महर्षि वसिष्ठ जी ने श्रीराम जी के लिए किया, उसी प्रकार राजा जनक को अष्टावक्र जी ने ज्ञान का उपदेश दिया, जिसके श्रवण मात्र से राजा जनक आत्माभाव में प्रतिष्ठित होकर जीवनमुक्त हो सके।”⁹

योगवासिष्ठ में जिस प्रकार की शिक्षण विधि अपनाई गई है, वह जीवन में सार्थक, उपयोगी एवं अपना स्थाई प्रभाव छोड़ने वाली है। इस ग्रंथ में दी गई शिक्षा एवं शिक्षण विधि के निम्नलिखित पक्ष देखने को मिलते हैं—

5.1.8 ज्ञान प्राप्त की उच्चतम आकांक्षा स्तर

संसार की नश्वरता का बोध हो जाने के पश्चात श्रीराम जी को यह संसार दुखरूप और अनित्य है, इस प्रकार विषयों में दोष का दर्शन होने लगा। श्रीराम जी ने गुरु वसिष्ठ से कहा कि जिस प्रकार जलाशयों में मृगतृष्णा का जन्म नहीं होता, उसी प्रकार मेरे चित्त में इस अनित्य और दुख रूपी संसार में विषय भोगों की आशा बिल्कुल ही उत्पन्न नहीं होती है। हे मुनीश्वर, इस संसार के विषय भोगों एवं अपेक्षाओं में अंततः चिंता ही व्याप्त है। इस चिंता से युक्त संसार की अपेक्षा तत्त्वज्ञान के बोध से युक्त महात्माओं एवं योगियों का एकांतवास मुझे प्रिय लगता है। क्षणभंगुर जगत में न मुझे जीवन की आशा है और न ही मृत्यु का भय है।

अहंकार के कारण ही मनुष्य इस जगत में किसी भी प्रकार की आकांक्षा करता है। अहंकार के वशीभूत होकर जीव विषयों की विषमता के विष में जन्म जन्मांतर से मृत्यु का शिकार हो रहा है। जन्म और मृत्यु की अविराम यात्रा का कारण अविद्या से जन्म लेने वाला अहंकार ही है। अहंकार का जन्म अविद्या के कारण होता है। अविद्या समस्त मानसिक क्लेशों का मूल है। सुख-दुख, शत्रु-मित्र, जन्म-मृत्यु, भाई-बंधु यह सभी किसी न किसी प्रकार से जीव के बंधन का कारण बनते हैं। यही इस जगत का सत्य है। इस संसार का सत्य जान लेने के पश्चात मेरा अहंकार समाप्त हो गया है। “हे मुनीश्वर, आप प्राचीन और अर्वाचीन ज्ञान को जानने वाले श्रेष्ठ ज्ञाता हैं। मुझे अद्वैत ज्ञान का उपदेश करें, जिससे मैं द्वैत से उत्पन्न होने वाले द्वंद्वों को जन्म देने वाले अज्ञान से मुक्त होकर यथार्थ ज्ञान से संपन्न हो जाऊं।”¹⁰

शिक्षा और शिक्षण का प्रभाव उस व्यक्ति पर ही पड़ता है, जिसमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की इस प्रकार की उच्चतम आकांक्षा का स्तर हो, जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा नहीं हो, उसमें इस प्रकार के उच्चतम ज्ञान का अधिगम नहीं होता, चाहे ज्ञानदाता स्वयं ब्रह्मा ही क्यों न हो। ज्ञान प्राप्ति की उच्चतम आकांक्षा होने पर ज्ञानदाता गुरु स्वयं ऐसे शिष्य को खोज लेता है, शिष्य को गुरु खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इस प्रकार के बहुत सारे उदाहरण भारतीय ज्ञान की परंपरा में देखने को मिलते हैं। जैसे—

जनक जी को अष्टावक्र जी, राम जी को वसिष्ठ जी, विवेकानंद को रामकृष्ण परमहंस जी मिले, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा का उच्च स्तर होने के पश्चात गुरु स्वयं शिष्य को ढूंढ लेता है।

शिक्षण के द्वारा अधिगम उच्च आकांक्षा स्तर प्राप्त होने के पश्चात ही होता है। ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा ही श्रीराम जी के जीवन मुक्ति का कारण बनी। इस प्रकार की जिज्ञासा पूर्व जन्म के संस्कारों के आधार पर जागृत होती है। शुकदेव, जनक, राम, भर्तृहरि, रामकृष्ण, विवेकानंद आदि महात्माओं की ज्ञान प्राप्ति का उच्च आकांक्षा स्तर ने ही उन्हें उच्च ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनाया। जब श्रीराम के अंदर ज्ञान प्राप्ति की उच्च जिज्ञासा जागृत हुई तब महर्षि वसिष्ठ ने उन्हें अपना शिष्य स्वीकार करते हुए ज्ञान का अधिगम कराया।

5.1.9 अधिगमकर्ता के योग्यता की परीक्षा

ज्ञान प्राप्ति के लिए उच्चतम आकांक्षा स्तर के साथ ही साथ अधिगमकर्ता के योग्यता की परीक्षा लेने के पश्चात ही ज्ञान का उपदेश करना चाहिए, जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता है, वही यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर, अपने जीवन को लोकोपयोगी बना सकता है। योग्यता के अभाव में दिया जाने वाला ज्ञान लाभकारी नहीं होता है।

अधिगम की प्रक्रिया में अधिगमकर्ता के पूर्व ज्ञान के आधार पर ही नवीन ज्ञान का उपदेश करना चाहिए अन्यथा ज्ञान भी सीखने की प्रक्रिया में बाधक की भूमिका निभा सकता है। अधिगमकर्ता के पूर्व ज्ञान की परीक्षा नहीं होने से उसकी योग्यता का उचित निर्धारण नहीं हो पाता है, परिणामस्वरूप उसकी ज्ञान में अरुचि हो जाती है। योगवासिष्ठ के अनुसार उस व्यक्ति को इस प्रकार के उच्चतम ज्ञान का उपदेश नहीं करना चाहिए, जिसकी बुद्धि पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हुई हो, क्योंकि ऐसे व्यक्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान भोग की दृष्टि से कामनाओं को जन्म देगा और अंततः उस व्यक्ति के जीवन को मोक्ष की ओर उन्मुख करने के बजाय नाश की ओर प्रवृत्त करेगा।

“गुरु के द्वारा शिष्य के मन को शुद्ध करने के लिए शम, दम आदि गुणों का ज्ञान कराने के पश्चात सब ब्रह्म ही है, इस परम ज्ञान का उपदेश करना चाहिए।”¹¹

सब कुछ ब्रह्म ही है, इसका उपदेश अज्ञानी को दिए जाने पर यह शाश्वत ज्ञान उसे नर्क की ओर प्रवृत्त कर सकता है। इसलिए गुरु द्वारा अद्वैत का ज्ञान, शिष्य की परीक्षा और योग्यता का निर्धारण कर लेने के बाद ही दिया जाता है। गुरु द्वारा ली गई

परीक्षा में सफल होने के पश्चात शिष्य, गुरु के निकट बैठकर अनादि, अनंत, शाश्वत ज्ञान को ग्रहण करता है। निकट बैठकर प्राप्त किये जाने वाले ज्ञान का वर्णन उपनिषदों में मिलता है।

उपनिषद का अर्थ भी निकट बैठकर प्राप्त किया जाने वाला ज्ञान है। शाश्वत ज्ञान प्राप्त करने की उच्च आकांक्षा होने के बाद भी यदि शिष्य में योग्यता नहीं है, तो गुरु शम, दम आदि विधियों का पालन कराकर चित्त को शुद्ध करने के पश्चात अद्वैत ज्ञान का उपदेश करता है। संसार की नश्वरता का सत्य जान लेने के पश्चात् श्रीराम जी को इस संसार में कर्म से विषाद की स्थिति में और चित्त की निर्मलता को देखकर, गुरु वसिष्ठ जी ने श्रीराम को शिष्य रूप में स्वीकार करते हुए आत्म ज्ञान का उपदेश दिया। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति की उच्च आकांक्षा स्तर को देखकर गुरु अष्टावक्र जी ने राजा जनक को और राजा जनक जी ने शुकदेव जी को सत्य-सनातन ज्ञान का उपदेश किया। ध्यान, पूजा, जप, तप, यज्ञ आदि चित्त की शुद्धि के साधन हैं, इनके माध्यम से अधिगमकर्ता में अद्वैत ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आती है।

भारतीय तत्व ज्ञान के जिज्ञासुओं एवं साधकों के लिए योगवासिष्ठ अधिगम का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में भगवान श्रीराम को ज्ञानमूर्ति महर्षि वसिष्ठ जी द्वारा तत्व ज्ञान का अधिगम कराया गया। सामान्य अर्थों में अधिगम से तात्पर्य सीखने की उस प्रक्रिया से है, जिसके दौरान व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थाई परिवर्तन होता है। इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान कई बार व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित नहीं कर पाता। व्यवहार और ज्ञान का अंतर्द्वन्द्व जीवन में अक्सर चलता रहता है। यह अंतर्द्वन्द्व जीवन में विषाद का कारण बनता है। विषादग्रस्त मानस उचित-अनुचित के द्वंद्व में उलझ जाता है। ऐसी उलझन की स्थिति में कर्तव्यपथ से पलायन करने का विचार, व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। ज्ञान की उपादेयता व्यवहार के रूपांतरण के लिए है। ज्ञानयुक्त व्यवहार सफल जीवन का मार्ग प्रशस्त करता है।

यह संसार भोगभूमि है। जहां व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार फल का भोग करता है। कर्म और फल का संबंध बड़ा अनूठा है। फल का निर्माण कर्म से होता है। कामना से युक्त कर्म का भोग सुनिश्चित है। जन्म और मृत्यु का चक्र, कामनायुक्त कर्म का परिणाम है। इससे मुक्ति उसे ही मिल सकती है, जो निष्काम कर्म करता है। निष्काम कर्म के लिए विवेक का होना परम आवश्यक है। विवेक इंद्रियजन्य ज्ञान से प्राप्त नहीं होता। विवेक का

संबंध बोध से है और बोध, तत्त्व ज्ञान से प्राप्त होता है। योगवासिष्ठ मूल रूप से अद्वैत सिद्धांतों पर आधारित ग्रंथ है। अद्वैत सिद्धांत के अनुसार एकमात्र चेतन तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता नहीं है। वास्तविक सत्य ब्रह्म है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, यह आभासी है, वास्तविक नहीं।

प्रकृति और पुरुष के योग से निर्मित संसार में अविद्या के कारण सत्य का आभास होता है। अहंकार से युक्त मानस सत्याभास का ज्ञान कर सकता है, परन्तु सत्य का नहीं। सत्य का साक्षात्कार अहंकार से मुक्ति के पश्चात् ही होता है और अहंकार से मुक्ति विद्या से संभव है। विद्या वह है जो मुक्ति प्रदान करे। मुक्ति ब्रह्मज्ञान से संभव है। इसलिए विद्या को ब्रह्म विद्या की संज्ञा से विभूषित किया गया है। योगवासिष्ठ की शिक्षण प्रक्रिया में ब्रह्मविद्या का अधिगम कराया गया है। यह ग्रंथ 32,000 श्लोकों में विरचित है। इसे महारामायण, वसिष्ठ रामायण आदि नामों से भी जाना जाता है। महर्षि वसिष्ठ ने इस ग्रंथ के विषय में स्वयं कहा है कि “संसार सर्प के विष से विकल तथा विषय विषूचिका से पीड़ित प्राणियों के लिए योगवासिष्ठ परम पवित्र अमोघ मंत्र है।”¹²

योगवासिष्ठ ग्रंथ वैराग्य-प्रकरण, मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण, उत्पत्ति-प्रकरण, स्थिति-प्रकरण, उपशम-प्रकरण, निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध तथा निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध। इन सात भागों में वर्णित है। इस ग्रंथ में विभिन्न आख्यानो के माध्यम से महर्षि वसिष्ठ द्वारा भगवान श्रीराम को तत्त्व ज्ञान का अधिगम कराया गया है। अधिगम प्रक्रिया में अधिगमकर्ता की मनःस्थिति के आधार पर ही अधिगम होता है।

सीखने और सिखाने की प्रक्रिया में हम वहीं सीखते हैं जो हम सीखना चाहते हैं। इस जगत में जीवन का यही अंतर्द्वन्द्व है कि हम जैसा चाहते हैं वैसा करते हैं और उस कर्म का जो परिणाम होता है उसको स्वीकार नहीं कर पाते हैं। इस अस्वीकार भाव के कारण ही हम विषाद ग्रस्त होते हैं। विषाद-ग्रस्त मानस से मुक्ति के लिए यौगिक अधिगम प्रक्रिया को स्वीकारना पड़ता है। योग स्वीकार भाव का विकास है। जीवन में विषाद का कारण अज्ञानता है। अविद्या से जन्म लेने वाले मानसिक क्लेशों से मुक्ति योग विद्या के माध्यम से ही संभव है। योगवासिष्ठ का प्रारंभ वैराग्य प्रकरण से होता है।

5.2 योगवासिष्ठ में अधिगम की अवधारणा

योगवासिष्ठ ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय अद्वैतात्म तत्त्व है। “अद्वैतात्मरूपी मोक्ष प्राप्ति की कामना जिस व्यक्ति को होती है, वह इस ग्रंथ के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अधिकारी है। निर्वाण और जीवनमुक्ति की अवस्था को प्राप्त करना इस ग्रंथ का प्रयोजन है। संपूर्ण जगत के कल्याण का साधन बन जाना जीवनमुक्ति अवस्था का प्रयोजन है।”¹³

इस दृश्य जगत प्रपंच का भ्रम, निर्गुण, निराकार, सच्चिदानंदस्वरूप, चैतन्य, ब्रह्म में उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार रूप—रंग से रहित शुद्ध आकाश में नीलिमा और पीत रंग का भ्रम होता है। ब्रह्म के सत्य स्वरूप का साक्षात्कार कर, अद्वैत आत्मज्ञान के साथ निष्काम कर्म से परमपद मोक्ष की प्राप्ति करना मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में कर्म से रहित ज्ञान को भार स्वरूप माना गया है। ज्ञान का फल निष्काम भाव से अपने कर्तव्य कर्म का पालन करना है।

योगवासिष्ठ महारामायण के “वैराग्य प्रकरण में सुतीक्ष्ण नामक ब्राह्मण के मन में संशय उत्पन्न हुआ कि, मोक्ष प्राप्ति का साधन ज्ञान है या कर्म या इन दोनों का समुच्चय ? इसका उत्तर देते हुए महर्षि अगस्त्य ने कहा कि हे ब्राह्मण, ज्ञान और निष्काम कर्म से परम पद मोक्ष की प्राप्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार पक्षीगण अपने दोनों पंखों से आकाश में उड़ान भरते हैं।”¹⁴

चित्त से संपूर्ण वासनाओं का परित्याग होने के पश्चात व्यक्ति को परम शांति का अनुभव होता है। ज्ञान के द्वारा जब वासना का नाश हो जाता है तब वासनायुक्त चित्त— जो कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वरूप में अभिव्यक्त होता है, का अभाव हो जाता है।

वासना दो प्रकार की होती है— शुद्ध वासना और मलिन वासना

जीव के जन्म और मृत्यु का कारण मलिन वासना होती है। अज्ञानता के कारण इस वासना का जन्म होता है और अहंकार वश जीव में कर्ता और भोक्ता का भाव जीवनभर बना रहता है, तथा जन्म—मृत्यु का चक्र चलता रहता है।

शुद्ध वासना जीव के मोक्ष का कारण बनती है तथा जन्म—मृत्यु के चक्र का नाश करने वाली होती है। यह मोक्ष प्रदान करने वाली है, इसलिए इसमें पुनर्जन्म रूपी अंकुर नहीं फूटते हैं। जिस प्रकार भुने हुए बीज में अंकुर नहीं फूटता है, उसी प्रकार शुद्ध वासना से जीव मात्र अपने शरीर को धारण करता है, परंतु उसमें पुनर्जन्म के अंकुर नहीं फूटते हैं।

यह शरीर और संसार क्षणभंगुर है। संसार की संपदा में सर्वदा इच्छा बनी रहती है। जन्म और मृत्यु की यात्रा में अनंत इच्छाओं का अंत नहीं होता, वरन विषयरूपी चोर विवेकरूपी रत्न का हरण कर लेते हैं। अहंकार और चित्त के दोषों के कारण जीव संसार में दुख भोगता है। जिसका एकमात्र कारण अविद्या है। अध्यात्म विद्या से अविद्या का नाश होता है और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान ही दृश्य जगत के दुख से बचने का एकमात्र साधन है। मनुष्य के मन का बहिर्मुखी स्वभाव अनादि अविद्या के कारण ही रहता है। मन को अंतर्मुखी करने की चेष्टा को ही योग कहते हैं। इस योग की साधना से एकाग्रता के द्वारा मन के बहिरंग प्रवृत्तियों को निरुद्ध करके द्रष्टा को अपने स्वरूप में स्थित किया जाता है।

भारत में साधना का मूल उद्देश्य नाम-रूपात्मक विविधता में एकता का दर्शन है। एकात्मता का दर्शन आत्म-साक्षात्कार से होता है। बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिंब तब दिखाई देता है, जब बुद्धि सतोगुण की प्रबलता से स्वच्छ होती है। रजोगुण और तमोगुण की प्रबलता से बुद्धि विषयाकार रूप में परिणित हो जाती है। विषयाकार बुद्धिवृत्ति में जब पुरुष का प्रतिबिंब पड़ता है, तब भ्रमवश पुरुष, बुद्धि के धर्म को ही अपना धर्म समझने लगता है। वास्तव में बुद्धि दूसरों के लिए है जो शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के साथ मिलकर पुरुष का उद्देश्य सिद्ध करती है।

बुद्धि संहत्यकारी है, क्योंकि पुरुष के साथ मिलकर पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करती है और पुरुष असंग रहते हुए स्वार्थ में प्रवृत्त होता है। यहां स्वार्थ से आशय स्वयं के अर्थ को जानने से है। स्वयं के साक्षात्कार में प्रवृत्त शुद्ध बुद्धि से स्वार्थ की सिद्धि हो सकती है। वास्तव में पुरुष ज्ञाता तथा चेतन है और त्रिगुणात्मक बुद्धि अचेतन तथा ज्ञेय है। पुरुष द्रष्टा और बुद्धि दृश्य है, बुद्धि पुरुष के अधीन है और पुरुष स्वतंत्र है। पुरुष के योग के कारण ही बुद्धि चेतन के समान प्रतीत होती है। यह दृश्य जगत पुरुष की बुद्धि में प्रतिबिंबित होता है।

वास्तव में पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिंब नहीं होता है, इसलिए पुरुष बुद्धिवृत्ति को साक्षात् ग्रहण न करके प्रतिबिंब के रूप में ग्रहण करता है। दृश्य जगत के सारे भोग पुरुष के लिए वास्तविक न होकर आभासी हैं। इस जगत के दृश्य पदार्थों में मनुष्य आनंद खोजता है पर आनंद की प्राप्ति अपने सच्चिदानंद स्वरूप में ही होती है। सत्य का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् पुरुष का चिदानंद रूप हो जाता है। श्रीराम जी को अपने

आत्मचैतन्य स्वरूप में स्थिति के कारण ही दृश्य जगत से वैराग्य हो गया। उन्हें इस तत्व का ज्ञान हो गया कि, जब तक दृश्य जगत की सत्ता है, तब तक जन्म-मृत्यु रूप शरीर और संसार का बंधन बना रहता है। **दृश्य जगत के अभाव को ही मोक्ष कहते हैं।**

आत्म स्वरूप में अवस्थित होने पर बंधन और मोक्ष की स्थिति से जीव मुक्त हो जाता है। योगवासिष्ठ के अधिगम से निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह संहिता आत्मविद्या के सार अर्थों से परिपूर्ण और मोक्ष के साधनों को प्रतिपादित करने वाली है। इसका परिशीलन करने से संसार के सारे दुख उसी प्रकार शांत हो जाते हैं, जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान हो जाने से उसमें उत्पन्न होने वाले सर्प के भ्रम की शांति हो जाती है। महर्षि वसिष्ठ जी कहते हैं कि “हे रघुनंदन द्रष्टा, दर्शन और दृश्य के बीच में साक्षीरूप से जिसका दर्शन होता है, उसी को एकाग्रचित्त होकर तुम अपनी आत्मा जानो। इस शरीर में स्थित होकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और चेतन का प्रमाता, आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा अजन्मा, सत्य, शाश्वत, सनातन, अनादि, अनंत, नित्य, निर्मल, अभेद्य, ज्ञानस्वरूप, समस्त कारणों का भी कारण, विश्वरूप और अंतर्दामी है।

यह दृश्य जगत न तो कभी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और न ही ब्रह्म में कभी लीन होता है। ब्रह्म तो सदा ही अपने आप में प्रतिष्ठित और पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण प्रकट होता है और वह पूर्ण में ही स्थित होता है। महाप्रलय होने पर समस्त कारणों का कारण, पूर्णब्रह्म ही शेष बचता है। परमात्मा में ही ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता के रूप में प्रतीत होने वाली त्रिपुटी, उत्पन्न, स्थित और लीन हो जाती है। यह दृश्य जगत भूत, वर्तमान और भविष्य में कभी अस्तित्व में उसी प्रकार नहीं होता है, जिस प्रकार बंध्या का पुत्र और आकाश में वन कभी नहीं होता है। “परम ब्रह्म परमात्मा में जगत नाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है, जैसे स्वर्ण से निर्मित विभिन्न आभूषणों में स्वर्ण के अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है। इस जगत में सर्व व्यापक ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी सत्ता ही नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सत्य है, और सत्य का कभी अभाव नहीं हो सकता है। जगत रूप में जो ब्रह्म की प्रतीति है, वह असत है और असत का कभी अस्तित्व नहीं हो सकता है। इसलिए यह जगत ब्रह्म से अलग कदापि नहीं है।”¹⁵

योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण में महर्षि वसिष्ठ से श्रीराम जी कहते हैं, अविद्या से जन्म लेने वाले अहंकार के कारण ही मनुष्य के जीवन में आपत्ति आती है। अहंकार अनेक प्रकार के मानसिक व्यथाओं का कारण है। अहंकार के कारण ही आपत्तिकाल में दुःख का अनुभव होता है और जब अहंकार नहीं होता है, तब निरंतर सुख का अनुभव होता है।

संपूर्ण आपत्तियों का घर, शांति, संतोष आदि उत्तम गुणों से रहित यह अनित्य अहंकार व्यक्ति के हृदय के भीतर निवास करता है। इससे मुक्त होने के पश्चात् ही संतोषरूपी उत्तम सुख की प्राप्ति हो सकती है। महर्षि वसिष्ठ से श्रीराम जी कहते हैं कि चित्त चंचल है, इसको वश में करना अत्यंत कठिन कार्य है। इस चित्त के होने से ही तीनों लोकों की सत्ता बनी रहती है। मन के कारण कारण सैकड़ों प्रकार के सुख-दुःख पैदा होते रहते हैं। अध्यात्म विषयक ज्ञान से उत्पन्न विवेक से जब मन दुर्बल हो जाता है तब यह सारे सुख-दुःख अपने आप मिट जाते हैं।

5.2.1 तृष्णा के कारण चित्त की चंचलता

श्रीराम जी महर्षि वसिष्ठजी से कहते हैं कि चित्त की चंचलता का कारण अंतःकरण में उठने वाली तृष्णा है। तृष्णा के जाल में फंसकर जीव मोह में बंध जाता है और अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ हुआ सा महसूस करता है। यह तृष्णा जड़ और चेतन के ग्रंथि से जुड़ी रहती है। तृष्णा के कारण ही धर्म-अधर्म के अनुसार जीव स्वर्ग और नर्क में आता-जाता रहता है। तृष्णा काली नागिन की तरह इंद्रियों से संबंधित विषय भोगरूपी विष उगलती रहती है। तृष्णा सर्वथा सूनी, निष्फल, व्यर्थ विस्तार को प्राप्त होने वाली अमंगलकारिणी और क्रूर है। जरा और मृत्यु इसके फल-फूल हैं। तृष्णा इस संसार रूपी नाटक की नटी है। विषय विचार का त्याग ही तृष्णा रूपी विषूचिका से मुक्ति दिला सकती है।

5.2.2 अज्ञान ही समस्त दुःखों का कारण है

योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण में श्री वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि जो लोग देह अभिमानी हैं, वे अविवेक के कारण दुःखी होते रहते हैं, क्योंकि दुःख का एकमात्र कारण अज्ञान है। अज्ञानी जीवात्माओं को अनेक प्रकार के शारीरिक दुःखों का सामना करना पड़ता है। अविवेक रूपी रोग से बंधा चित्त अनेक प्रकार की चेष्टाएं करता रहता है। वृत्तियों से युक्त मन संसार में विषयों में भ्रमण करता रहता है। वास्तव में शरीर जड़ है, परंतु मन चित्त के कारण ही नाना प्रकार की वासनाओं में भटकता रहता है। मन का यह भटकाव अज्ञानता के कारण होता है।

5.2.3 अज्ञान की सात भूमिकायें

“महर्षि वसिष्ठ जी ने अज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन योगवासिष्ठ में किया है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं— बीज-जाग्रत, जाग्रत, महा-जाग्रत, जाग्रत-स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न

—जाग्रत और सुषुप्ति।¹⁶ इस प्रकार अज्ञान के सात भेद हैं। यही आपस में एक—दूसरे से संयुक्त होकर अनेक नाम—रूप धारण करते हैं। इस संसार में भेद का दर्शन नाम—रूपात्मक अज्ञानता के कारण ही होता है।

5.2.4 ज्ञान की सात भूमिकाएं

आत्मज्ञान और आत्मबोध के लिए महर्षि वसिष्ठ ने योगवासिष्ठ में ज्ञान की सात भूमिकाओं का विस्तार से वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं— शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावना और तुर्यगा। इन सात भूमिकाओं का क्रमशः पालन करके व्यक्ति संसार के सभी प्रकार के दुखों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में सांसारिक दुखों से मुक्ति आत्मज्ञान से ही संभव है और आत्मज्ञान अर्थात् मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, शिव स्वरूप हूँ। शिवोऽहम् का बोध होना आत्मज्ञान है। आत्मज्ञानी मनुष्य को संसार का कोई भी प्रभाव प्रभावित नहीं कर पाता क्योंकि संसार की नश्वरता का ज्ञान उसे होता है।

5.2.4.1 शुभेच्छा— यह ज्ञान की प्रथम भूमिका के रूप में जानी जाती है। इस संसार की नश्वरता का ज्ञान जब होता है, तब व्यक्ति को जगत से वैराग्य हो जाता है। वैराग्य से पूर्ण व्यक्ति इस संसार में रहने वाले अज्ञानी लोगों की भांति मूर्छित होकर जीवन नहीं जी सकता है। महर्षि वसिष्ठ श्रीराम से कहते हैं कि “हे राम मैं इस जगत में मूढ़ की भांति स्थिर होकर क्यों रहूँ? शास्त्रों एवं सत पुरुषों द्वारा बताए गए तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार करूंगा और वैराग्यपूर्ण जीवन जिऊंगा। ज्ञानी लोग इसे ही शुभेच्छा कहते हैं।¹⁷ शुभेच्छा की साधना से व्यक्ति का सामाजिक विकास होता है। सामाजिक विकास की अधिगम प्रक्रिया में जब आत्म ज्ञान होता है तब अहम् ब्रह्मास्मि,¹⁸ अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, प्रज्ञानं ब्रह्म,¹⁹ अर्थात् वह प्रज्ञान ही ब्रह्म है, अयंमात्मा ब्रम्ह²⁰ अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है और तत्त्वमसि²¹ अर्थात् वह ब्रह्म तू है, का बोध होता है।

5.2.4.2 विचारणा— शास्त्रों के श्रवण, मनन, चिंतन और सतपुरुषों के संग से सत्संग होता है। परिणामस्वरूप विवेक—वैराग्य का उदय होता है। महर्षि वसिष्ठ श्रीराम से ज्ञान की दूसरी भूमिका विचारणा के संबंध में कहते हैं कि साधक जब सदशास्त्रों का श्रवण, मनन, चिंतन, अध्ययन तथा सतपुरुषों का संग करता है तब विवेक—वैराग्य उत्पन्न होता है। विवेक—वैराग्य से अभ्यासपूर्वक सदाचार में संलग्न रहने को ही विचारणा कहते हैं।²²

5.2.4.3 तनुमानसा— शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से साधक जब अपनी इंद्रियों को पूरी तरह से नियंत्रित कर लेता है तब ज्ञान की तीसरी भूमिका तनुमानसा का उदय होता है। “शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इंद्रियों का संसार के विषय भोगों में आसक्ति का मिट जाना और अनासक्त भाव से जगत में विचरण करने को ही तनुमानसा कहते हैं। तनुमानसा में मन बाहरी विषयों से अनासक्त होकर शुद्ध एवं अंतर्मुखी हो जाता है, इसलिए इसे तनुमानसा कहते हैं।”²³

5.2.4.4 सत्त्वापत्ति— ज्ञान की चौथी भूमिका सत्त्वापत्ति में शुभेच्छा— श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन के अभ्यास से चित्त सांसारिक विषयों से पूर्णतः विरक्त हो जाता है, परिणामस्वरूप आत्मा के शुद्ध सतस्वरूप का साक्षात्कार होता है, इसी को सत्त्वापत्ति कहते हैं।²⁴

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, “हे अर्जुन जो आत्मा में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करता है और आत्मा में ही ज्ञानवान है, ऐसा ज्ञानयोगी परब्रह्म के साथ एकात्मभाव को प्राप्त हुआ शांत, शाश्वत, अप्रमेय, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।”²⁵

मुण्डकोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि आत्मज्ञानी साधक अपने नामरूप से प्राप्त ज्ञान को त्यागकर परमात्मा में उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार संसार की समस्त छोटी-बड़ी नदियां सागर में विलीन हो जाती हैं।²⁶

5.2.4.5 असंसक्ति— योगवासिष्ठ ग्रंथ में महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि “शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, और सत्त्वापत्ति इन चारों भूमिकाओं के परिपक्व हो जाने पर चित्त बाहर—भीतर के समस्त संस्कारों से असंग हो जाता है, परिणामस्वरूप अंतःकरण के समाधि में स्थित हो जाने को ही असंसक्ति कहते हैं।”²⁷ जो साधक इस असंसक्ति भाव को प्राप्त कर लेता है, उसका इस संसार के किसी भी विषय से कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता है। ऐसे साधक की स्थिति इस संसार में सुषुप्तावस्था की भांति हो जाती है। जिस प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में जागृत और स्वप्नावस्था के किसी भी विषय का बोध नहीं होता, उसी प्रकार असंसक्ति सिद्ध साधक का इस संसार में किसी भी प्रकार का प्रयोजन नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञान की भूमिका में सिद्ध साधकों को ब्रह्मविद् कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ऐसे साधकों के लिए कहते हैं कि इस संसार के नाम—रूपात्मक ज्ञान को आत्मज्ञान की ज्ञानाग्नि में भस्म कर देने वाला साधक, जब ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है तब उसके द्वारा शास्त्र सम्मत कर्म बिना किसी संकल्प और

कामना के सहज भाव से होने लगता है, क्योंकि ज्ञान की अग्नि में उसके समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं।

5.2.4.6 पदार्थाभावनी— शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति और असंसक्ति ज्ञान की इन पांच भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर, ऐसे ज्ञानी साधक के अंतःकरण में जगत के पदार्थों का अभाव हो जाता है, उसे बाहर— भीतर के किसी पदार्थ का आभास स्वयं नहीं होता है। दूसरों के द्वारा प्रेरित करने पर ही ऐसी ज्ञानी पुरुष को संसार के किसी पदार्थ का ज्ञान होता है। ज्ञान की इस छोटी-छोटी भूमिका में अंतःकरण से संसार के पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसीलिए इसे पदार्थाभावनी कहते हैं। “ज्ञान की इस भूमिका में साधक की आत्मा निश्चल और निर्मल हो जाती है, परिणामस्वरूप अंतःकरण में संसार के पदार्थों का सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्ञान की पदार्थाभावनी दशा साधना के क्षेत्र में उत्कृष्ट अवस्था है।”²⁸

5.2.4.7 तुर्यगा— ज्ञान की छः भूमिकाओं में यह सबसे उत्कृष्ट सातवीं भूमिका है। इस अवस्था में साधक को अपने आत्मभाव की स्वाभाविक स्थिति प्राप्त रहती है। जीवनमुक्त साधकों को इस अवस्था की प्राप्ति होती है। “संसार के पदार्थों का अंतःकरण से अभाव हो जाने के पश्चात् साधक आत्मभाव में स्थित रहता है। साधक के आत्मभाव में स्वाभाविक रूप से स्थिर रहने को ही ज्ञान की सातवीं भूमिका तुर्यगा कहा गया है।”²⁹

5.2.5 ज्ञान और कर्म के अधिगम से मोक्ष की प्राप्ति

मोक्ष का साधन कर्म है अथवा ज्ञान? इस प्रकार की जिज्ञासा सुतीक्ष्ण नामक ब्रम्हण को हुआ। उन्होंने यह प्रश्न महर्षि अगस्त्य से पूछा। महर्षि अगस्त्य ने कहा जिस प्रकार पक्षी दो पंखों से आकाश में उड़ते हैं उसी प्रकार ज्ञान और निष्काम कर्म परम्पद मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं। महर्षि ने ज्ञान और कर्म दोनों के अधिगम को मोक्ष के लिये आवश्यक माना है। अधिगम से तात्पर्य पांच ज्ञानेंद्रियां तथा मन, बुद्धि और अहंकार से प्राप्त ज्ञान ही नहीं वरन् इस ज्ञान से प्राप्त अनुभव के द्वारा व्यवहार में परिवर्तन है। ज्ञान जब तक व्यवहार को परिवर्तित नहीं करता तब तक, उस ज्ञान का अधिगम नहीं हुआ, ऐसा माना जा सकता है।

योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण में वर्णित एक ऐतिहासिक प्रकरण— जिसमें अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य का वृतांत है— कारुण्य गुरु के यहां से वेद-वेदांग का अध्ययन करने के पश्चात् जब लौटकर आए तो उनके मन में संशय उत्पन्न हुआ। जिसके परिणामस्वरूप सारे

स्तोत्र कर्मों का त्यागकर, निंदनीय की भांति रहने लगे। उनकी यह दशा देखकर पिता अग्निवेश ने कहा कि तुम अपने कर्तव्य कर्मों का पालन क्यों नहीं करते? कर्म से निवृत्त होने का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि प्रवृत्ति रूपी धर्म का प्रतिपादन करने वाले स्तोत्रों के अतिरिक्त एक स्थिति ऐसी भी है, जिसमें न धन से, न कर्म से, न संतान की उपत्ति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। त्याग से अमृत स्वरूप मोक्ष सुख का अनुभव किया जा सकता है। मैं इसी द्वंद में पड़कर कर्म से उदासीन हो रहा हूँ। पुत्र की यह बात सुनकर पिता अग्निवेश ने कहा कि मैं तुम्हें एक ऐतिहासिक कथा सुनाता हूँ। उसको सुनने के बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो।

धर्मात्मा राजा अरिष्टनेमि अपने पुत्रों को राज्य देकर वीतराग होकर तपस्या के लिए वन में चले गए। ज्ञान और कर्म के संशय को दूर करने के लिए राजा अरिष्टनेमि ने देवदूतों से पूछा कि स्वर्ग में कौन-कौन से गुण और कौन-कौन से दोष हैं? देवदूतों ने कहा स्वर्ग में जीव उत्तम पुण्य से उत्तम स्वर्ग की प्राप्ति, मध्यम पुण्य से मध्यम स्वर्ग की प्राप्ति और निम्न श्रेणी के पुण्य से उसके अनुरूप स्वर्ग की प्राप्ति करता है। स्वर्ग में भी असहिष्णुता, स्पर्धा और अपने से अच्छी स्थिति में लोगों को देखकर संतोष का सुख जीव को तब तक प्राप्त होता है जब तक उसके पुण्यों का भोग समाप्त नहीं हो जाता। देवदूतों द्वारा स्वर्ग की ऐसी स्थिति का वर्णन सुनने के बाद अरिष्टनेमि ने कहा कि जहां ऐसा फल प्राप्त होता है ऐसे स्वर्ग में मुझे नहीं जाना। ऐसे विनयशील, वीतराग और स्वर्ग की इच्छा की भी न रखने वाले नरेश को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में लाया गया। राजा ने महर्षि वाल्मीकि से कहा कि भगवन, संसार बंधन के दुख से मुझे जो पीड़ा हो रही है, उससे किस प्रकार मेरा छुटकारा होगा... वह मार्ग मुझे बताएं। इस पर महर्षि वाल्मीकि ने कहा कि मैं तुमसे अखंड रामायण की कथा कहूंगा। यह महारामायण, महर्षि वसिष्ठ और श्रीराम के संवाद के रूप में वर्णित है।

राजा अरिष्टनेमि ने महर्षि वाल्मीकि से पूछा कि श्रीराम कौन हैं? उनका स्वरूप कैसा है? वह बद्ध थे या मुक्त? राजा की ऐसी जिज्ञासा के बाद महर्षि वाल्मीकि ने योगवासिष्ठ महारामायण का अधिगम कराया। महर्षि वाल्मीकि ने कहा कि निर्गुण निराकार ब्रह्म में अज्ञानतावश जगत की सत्ता का भ्रम होता है। इस दृश्य प्रपंच का जब तक अत्यंत अभाव नहीं होता, तब तक आत्मबोध नहीं होता है। आत्मज्ञान का अन्वेषण इस बोध के लिए ही करना चाहिए।

योगवासिष्ठ शास्त्र से जीवन में आत्मा का बोध होता है। दृश्य-प्रपञ्च वास्तव में है ही नहीं, ऐसा बोध होने पर परम निर्वाणरूपी शांति का शुद्ध अनुभव होने लगता है। “संपूर्ण वासनाओं का परित्याग ही मोक्ष है, जिसे अविद्या रूपी मल से रहित ज्ञानी प्राप्त कर सकता है। वासनाओं के क्षीण हो जाने पर चित्त का शीघ्र ही अभाव हो जाता है। वासना दो प्रकार की बताई गई हैं— एक शुद्ध वासना, दूसरा मलिन वासना। मलिन वासना जन्म और मृत्यु का कारण है। शुद्ध वासना से इन दोनों का नाश होता है। शुद्ध वासना से युक्त योगीजन जन्म रूपी अनर्थ के भाजन नहीं होते हैं।”³⁰ जानने योग्य परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले परम बुद्धिमान पुरुष जीवनमुक्त कहलाते हैं। श्रीराम ने अध्ययन के पश्चात् विद्यालय से निकलकर कुछ दिन राज्य भवन में व्यतीत किए। उनके मन में तीर्थों के दर्शन की अत्यंत उत्कंठा जगी और तीर्थ दर्शन के लिए अपने भाइयों के साथ निकल पड़े। तीर्थ यात्रा पूरी करने के बाद अपने घर में दिन पर दिन कृश होने लगे। उनके पिता दशरथ जी ने गुरुदेव वसिष्ठ से पूछा कि राम खिन्न क्यों रहते हैं? गुरु वसिष्ठ ने राजा से कहा कि इसके लिए आपके मन में दुःख नहीं होना चाहिए। श्रीराम की यह दशा न आपत्ति से और न ही आसक्ति से हुई है। वह विवेक और वैराग्य से संपन्न हैं। अतः उन्हें मोह नहीं वरन बोध प्राप्त हुआ है।

वसिष्ठ जी ने श्रीराम से कहा कि तुमने विषय रूपी शत्रुओं पर विजय पा ली है। यह विषय ही दुःख के उत्पादक हैं। हे राम, अज्ञानी मनुष्यों की भांति आत्मज्ञान शून्य पुरुष की तरह क्यों चिंता में डूबे जा रहे हो? तुम्हारे मन में जो अभिलाषा हो उसे शीघ्र बताओ। श्रीराम बोले तीर्थयात्रा करने के पश्चात् मेरा मन विवेक से पूर्ण हो गया है। मेरी बुद्धि विषय-भोगों से निराश हो गई है। इस संसार में सुख कहां है? यह लक्ष्मी धन-संपत्ति सुख देने के लिए नहीं, वरन दुःख देने के लिए ही बढ़ती है। इस अस्थिर आयु पर हमारा कोई भरोसा नहीं है। अविवेकी मनुष्यों के लिए शास्त्रों का अध्ययन भार रूप है। जिनका मन विषयों में आसक्त है ऐसे विषयासक्त पुरुष के लिए तत्त्व ज्ञान भार हैं। अशांत मनुष्य के लिए मन भार है तथा जो आत्मज्ञान से शून्य है उसके लिए शरीर भार है।

5.3 योगवासिष्ठ में अधिगम का विवेचन

योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण में श्रीराम कहते हैं कि अहंकार के कारण ही मनुष्य के जीवन में आपत्तियां आती हैं और इन आपत्तियों से मुक्त होने के लिए मनुष्य जीवन भर प्रयास करता रहता है। अहंकार ही अनेक प्रकार के मानसिक क्लेशों का कारण है। अविद्या

से जन्म लेने वाला यह अहंकार राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेशों से मन को ग्रस्त कर देता है। क्लेश से मुक्त मन सुख का और क्लेश से युक्त मन दुःख का कारण बनता है। सुख—दुःख सब मन के खेल हैं। मन जिसे नहीं चाहता है उसे पाकर दुःखी होता है और जिसे चाहता है उसे पाकर सुखी होता है। मन के इस स्वाभाविक अधिगम से ही सुख—दुःख के पार हुआ जा सकता है। संसार में सुख—दुःख का निर्माण अहंकार के कारण ही होता है। श्रीराम कहते हैं कि “यह अहंकार जब तक रहता है तब तक आपत्तिकाल में मुझे दुःख होता है और यदि नहीं रहता है तो मैं निरंतर सुख का अनुभव करता हूँ।”³¹ इसलिए अहंकार से मुक्त होना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए। संपूर्ण आपत्तियों का घर संतोष, शांति, आनंद आदि गुणों से रहित इस अहंकार का जीव को आश्रय नहीं लेना चाहिए। इसकी समझ विवेक के दृढ़ होने के पश्चात् ही होती है। विवेक के अभाव में अहंकार नामक अविद्याजनित क्लेश के कारण जीव इस संसार में दुःख भोगता रहता है। दुःख का मूल कारण अहंकार ही है।

पांच ज्ञानेंद्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों तथा मन के द्वारा किया गया अधिगम अहंकार से युक्त होता है। अहंकारयुक्त अधिगम दुःख का कारण तो बन सकता है परंतु सुख—दुःख से मुक्त जीवन के निर्माण में अहंकारयुक्त अधिगम का योग नहीं होता है। वास्तविक अर्थों में देखा जाए तो योग विद्या है। विद्या से अविद्या का नाश होता है। अविद्या का नाश होते ही अहंकार मिट जाता है। अहंकार मुक्त जीवन का निर्माण करना योग विद्या से ही संभव है।

चित्त का निर्माण अहंकार से युक्त ज्ञान के द्वारा होता है। इंद्रियों के माध्यम से जो कुछ भी हम सीखते हैं, उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति अहंकार के रूप में होती है। अहंकार के बिना संसार में अधिगम की प्रक्रिया संभव नहीं हो पाती। संसार का ज्ञान—नाम—रूपात्मक है। किसी भी विषय या वस्तु की अभिव्यक्ति नाम और रूप के माध्यम से ही होती है। शब्द का जब तक चित्र के रूप में चित्त में अंकन नहीं होता, तब तक शब्द का अर्थ चित्त में प्रकट नहीं होता। मस्तिष्क चित्र की भाषा समझता है, शब्दों की नहीं। शब्द के अर्थ का ज्ञान चित्र के रूप में चित्त में अंकित होता है, इसलिए संसार का सारा ज्ञान चित्त—वृत्ति के रूप में संकलित होता है।

जब तक चित्त है तभी तक तीनों लोकों की सत्ता है। उसके क्षीण होते ही जगत क्षीण हो जाता है। यह चित्त चंचल है। इसको वश में करना अत्यंत कठिन है। श्रीराम कहते हैं कि समुद्र को पी जाना, सुमेरु पर्वत को जड़ से उखाड़ फेंकना और अग्नि का ही

आहार करना, इन तमाम सारे दुष्कर कार्यों से भी दुःसाध्य कार्य, चंचल चित्त को अपने वश में करना है। इस चित्त के कारण ही सैकड़ों प्रकार के सुख—दुःख जीवन में पैदा होते रहते हैं। अध्यात्म विषयक विवेक के कारण जब मन दुर्बल होता है, तब यह सारे सुख—दुःख निश्चय ही पूर्ण रूप से गल जाते हैं।

अविद्या से उत्पन्न होने वाले अहंकार राग—द्वेष, तृष्णा आदि की निंदा करने के साथ ही साथ श्रीराम ने शरीर की निंदा भी की। शरीर अहंकार रूपी गृहस्थ का विशाल गृह है। यह शरीर गिरकर सदा के लिए धरती पर लोट जाए अथवा चिरकाल तक स्थिर बना रहे, इसमें मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। इस शरीर में तृष्णा रूपी गृहस्वामिनी बारंबार डोलती रहती है। यह तृष्णा एक पागल घोड़े के समान है, जो यहां से दूर—दूर जाकर बारंबार लौटती और तुरंत संपूर्ण दिशाओं में चक्कर काटने लगती है। यह तृष्णा सर्वथा सूनी, निष्फल, व्यर्थ विस्तार को पाने वाली अमंगल कारिणी और क्रूर है। यह कभी सुखदायिनी नहीं होती तृष्णा के अधीन रहने वाला जीव, जीवन भर दुःख भोगता रहता है। संसार रूपी वन में उगा यह शरीर केवल दुःख भोगने के लिए ही है। चित्तरूपी चंचल वानर इसमें उछलता कूदता रहता है। “यह शरीर तृष्णारूपी सर्पिणी का घर है। मिथ्या और मोह अर्थात् असत्य और अज्ञान के खंभे पर खड़ा यह देहरूपी रूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है।”³² यह शरीर समस्त रोगों का घर है। समस्त मानसिक चिंताओं का दुर्गम वन है। इस देह में मुझे कोई प्रेम नहीं है। ना तो मैं शरीर का हूँ और ना ही शरीर मेरा है। जो लोग इस शरीर में आस्था रखते हैं और इसे नित्य स्थिर मानते हैं, वह मोहरूपी मदिरा का पान करके उन्मुक्त हुए लोग हैं।

5.3.1 आत्मज्ञान और सामाजिक अधिगम के लिए योगवासिष्ठ सर्वोत्तम ग्रंथ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिकता का विकास आत्मज्ञान से होता है। योग बाहर से अंदर के प्रति जागृत होने की प्रक्रिया है। मनुष्य जब आत्मिक आधार पर विकसित होता है तो उसे जगत में एकरूपता का दर्शन होता है। संसार में एकात्मता का बोध ही मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी के रूप में विकसित करता है। विवेक से विकसित मनुष्य ही इस जगत में लोक कल्याणकारी प्राणी बन सकता है। यह जगत पंचमहाभूतों से निर्मित है और सभी भूतों के हित में रत रहना, विवेकशील मनुष्य का कर्तव्य है। इस कर्तव्य कर्म को कुशलतापूर्वक करने की कला को ही योग कहते हैं। योग के इस अधिगम से मनुष्य में सामाजिकता का गुण विकसित होता है। व्यष्टि से समष्टि की यात्रा से मनुष्य

सामाजिक बनता है। सामाजिक अधिगम और आत्मज्ञान प्रदान करने में योगवासिष्ठ एक श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम ग्रंथ है। “इस ग्रंथ को वेद, पुराण, उपनिषद आदि शास्त्रों का सार कहा गया है। इस ग्रंथ के श्रवण, मनन से कभी न मिटने वाली जीवनमुक्ति अपने आप मिल जाती है।”³³

योगवासिष्ठ का अध्ययन करने से साधक को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि यह जगत स्वप्न की भांति है और इस दृश्य जगत में राग-द्वेष करने योग्य कुछ भी नहीं है। आत्मज्ञान और आत्मबोध के पश्चात व्यक्ति समाज में अपने को और अपने में समाज को देखने की दृष्टि के साथ विकसित होता है। आत्म ज्ञान प्राप्ति के संदर्भ में जिन युक्तियों का वर्णन इस शास्त्र में किया गया है उसी प्रकार का वर्णन अन्य शास्त्रों में भी मिलता है, इसलिए विद्वान पुरुषों के द्वारा इस शास्त्र को समस्त ज्ञान-विज्ञान से युक्त शास्त्रों का धन रूपी खजाना माना गया है। आत्मज्ञान और आत्मबोध के द्वारा मनुष्य सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होकर समाज का कल्याण करने योग्य बनता है। जीवन में दुखों से मुक्ति आत्मज्ञान से मिलती है। मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त किसी भी समस्या का समाधान आत्मज्ञान से संभव है। इस ग्रंथ के श्रवण, मनन और चिंतन से प्राणी जगत में व्याप्त किसी भी समस्या का समाधान करने में मनुष्य सक्षम हो सकता है, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है।

इस जगत में मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और मानवीय चरित्र का निर्माण करने में इस शास्त्र का बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान है।

“आत्मज्ञान और आत्मबोध से ही मानवीय चरित्र का निर्माण होता है। आत्म अनुसंधान, आत्मविश्वास, आत्मबल, आत्म-साक्षात्कार और आत्मसंयम इन मूल तत्वों से मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है।”³⁴

वर्तमान समय में व्याप्त समाज में जो भी समस्याएं हैं, उन सारी समस्याओं का किसी न किसी रूप में वर्णन योगवासिष्ठ महारामायण में मिलता है। बत्तीस हजार श्लोकों में वर्णित यह विशाल ग्रंथ मनुष्य के जीवन की व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए आध्यात्मिक एवं सामाजिक साहित्य का एक अद्भुत शास्त्र है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के सार्वभौम, सामाजिक एवं लोक कल्याणकारी व्यक्तित्व के निर्माण की पूरी प्रक्रिया का वर्णन इस विशाल ग्रंथ में उल्लिखित है। इस ग्रंथ में श्रीराम जी के

संपूर्ण जीवन चरित्र का जो वर्णन किया गया है, वह लोककल्याण और समाज सेवा के लिए समर्पित है।

मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य स्वयं को जानना है। स्वयं को जाने बिना हम जीवन भर मन के साथ जीते रहते हैं। मन का निर्माण दूसरों के द्वारा किया गया है। जन्म लेने के पश्चात इस जगत में सीखने और सिखाने की अर्थात् अधिगम की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, वह देखकर, सुनकर, पढ़कर, विचार कर आदि कारणों से सीखता है। सीखने की इस प्रक्रिया में हमारी पूरी चेतना बाहर की तरफ जागृत होती है और हम जो कुछ भी सीखते हैं उसका आधार हमारा शरीर और इंद्रियां ही हैं। पांच ज्ञानेंद्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों तथा मन के माध्यम से मनुष्य सीखता है।

शरीर और मन के द्वारा जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह वास्तव में स्वयं को जानने के क्रम में किसी न किसी रूप में बाधक की ही भूमिका निभाता है। स्वयं को जाने बिना, स्वयं पर नियंत्रण करना सर्वथा असंभव है। यहां स्वयं से तात्पर्य चेतना, द्रष्टा, पुरुष, आत्मा, ईश्वर का अंश आदि से है। स्वयं को जानने के लिए आत्मज्ञान परम आवश्यक है। आत्म ज्ञान के अभाव में जीव इस जगत में जीवन भर परवश होकर जीता है। पराधीन व्यक्ति स्वप्न में भी सुखी नहीं हो सकता। जगत में दुख का कारण वास्तव में पराधीनता है। आत्मज्ञान से आशय वास्तव में स्व को जानने से है। **आत्मानुसंधान स्वाध्याय से होता है।** स्वाध्याय से स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है और स्वतंत्रता से जीवन स्वस्थ और सुखी होता है।

5.3.2 ज्ञान एवं कर्म ही मोक्ष के साधन

भारतीय मनोविज्ञान में द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा कर्ता, कारण और कर्म, इन सबके पीछे ज्ञान स्वरूप पर—ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया गया है। येन—केन—प्रकारेण इसी सत्ता का अधिगम मानव जीवन का अभीष्ट है। ब्रह्म की शाश्वत, सत्य, सनातन सत्ता को स्वीकार करना, मानव जीवन का परम लक्ष्य है। इस सत्ता की स्वीकृति के पश्चात् ही पुरुषार्थ चतुष्टय का परम लक्ष्य—मोक्ष की प्राप्ति संभव है। मानव शरीर एक साधन है, जिसके माध्यम से मोक्ष रूपी साध्य की सिद्धि की जाती है।

मोक्ष के अधिगम का साधन कर्म है या ज्ञान अथवा यह दोनों ही हैं। इस जिज्ञासा के साथ योगवासिष्ठ की अधिगम प्रक्रिया शुरू होती है। “सुतीक्ष्ण ब्राह्मण द्वारा महर्षि अगस्त्य से पूछे गए इन प्रश्नों के उत्तर में महर्षि अगस्त्य ने कहा कि जिस प्रकार एक पक्षी

को आकाश में उड़ने के लिए दो पंखों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और निष्काम कर्म इन दोनों की आवश्यकता होती है।³⁵ ज्ञान के बिना कर्म और कर्म के बिना ज्ञान का अधिगम अधूरा है। ज्ञान से कर्तव्य कर्म का बोध होता है और कर्तव्य कर्म का पालन करना ही जीवन का धर्म है।

जीवन में कई बार ज्ञान के कारण व्यक्ति कर्म के प्रति उदासीन हो जाता है। कर्तव्य कर्म के प्रति उदासीनता जीवन में पलायन का मार्ग प्रशस्त करती है। ज्ञान और कर्म का अंतर्द्वंद्व ही विषाद का कारण है। इस विषाद से मुक्ति के लिए वास्तविक सत्य का ज्ञान, भारतीय मनोविज्ञान के अधिगम प्रक्रिया का अभीष्ट है।

योगवासिष्ठ महारामायण, महर्षि वसिष्ठ और श्रीराम के संवाद के रूप में वर्णित है। महर्षि वाल्मीकि के अनुसार इस शास्त्र का अधिकारी वह है जो न तो अत्यंत अज्ञानी है और ना ही तत्त्व ज्ञानी है। तत्त्व ज्ञान से अज्ञानता का नाश होता है और अज्ञानता से युक्त कर्म दुःख का कारण होता है।

इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान और इस ज्ञान से युक्त कर्म, सुख और दुःख का कारण बनते हैं। संसार में व्यक्ति सुख की प्रवृत्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए कर्म करता है। सकाम कर्म का परिणाम निश्चित होता है। सकाम कर्म के कारण ही जीव जन्म लेता है, सुख-दुःख भोगता है और एक दिन मृत्यु को प्राप्त होता है। जन्म और मृत्यु का चक्र सकाम कर्म का परिणाम है। कामना से युक्त कर्म क्लेश प्रदान करता है। अविद्या से जन्म लेने वाला अहंकार और अहंकार से युक्त कर्म, राग-द्वेष के बंधन में जीव को बांधते हैं। बंधन में बधा जीव, मृत्यु के भय से भयभीत रहता है। जन्म और मृत्यु का यह चक्र अविद्यायुक्त कर्म के कारण चलता रहता है। तत्त्व ज्ञान से निष्काम कर्म की साधना होती है और निष्काम कर्म ही, इस जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिला सकता है।

5.4 योगवासिष्ठ में अधिगम की यौगिक तकनीक

योगवासिष्ठ ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय अद्वैत है। अद्वैत का अर्थ दो पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व का अभाव होता है। इस विषय को प्रतिपादित करने वाला यह ग्रंथ है, इसलिए यहां प्रतिपाद्य- प्रतिपादक भाव संबंध है। “अद्वैतात्मरूप मोक्ष की कामना वाला व्यक्ति इस ग्रंथ का अधिकारी है। निर्वाण तथा जीवनमुक्ति की प्राप्ति इस ग्रंथ का प्रयोजन है और जीवनमुक्ति का प्रयोजन समष्टि का कल्याण है।”³⁶

भवसागर को पार करने के दो मार्ग हैं— ज्ञान और कर्म। इस संसार के बंधन से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन ज्ञान मार्ग है और इसके लिए योग अनिवार्य है। योगवासिष्ठ के अनुसार भवसागर से पार उतरने की युक्ति को ही योग कहते हैं। योग आत्मज्ञान और प्राण निरोध की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं। जब चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त का संक्रमण न होने से कर्तृत्व-ज्ञातृत्व आदि के अभिमान की भी निवृत्ति हो जाती है और द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान हो जाता है।

महर्षि वसिष्ठ श्री राम से कहते हैं कि “हे राघव चित्त का शमन योग और ज्ञान रूपी दो साधनों से होता है। चित्त वृत्तियों के निरोध से योग होता है और जो वस्तु जिस रूप में है उसको उस रूप में ही जानना ज्ञान है। इन दोनों में से किसी एक का नाश होने पर दूसरे का विनाश हो जाता है। एक के नष्ट होने से यह दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।”³⁷

इस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है जिसके परिणामस्वरूप द्रष्टा को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। जीव की अपने चैतन्य स्वरूप में इस प्रकार की स्थिति को योगवासिष्ठ में तुरीय अवस्था का नाम दिया गया गया है। यह अवस्था जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था के बीज से रहित है। अपने सत चित्त का अनुभव ही आनंद है। अपनी सत स्वरूप का ज्ञान—परम ज्ञान और उससे प्राप्त आनंद योग का अनुभव है। सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर अपने चैतन्य स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति होती है। योगवासिष्ठ में योग के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि योग की सिद्धि तीन रूपों से की जा सकती है— अपने स्वरूप का दृढ़ अभ्यास, मन की वृत्तियों का निरोध और मन का निग्रह। इनमें से किसी एक का अभ्यास करने से तीनों की सिद्धि हो जाती है परंतु इसमें मन को शांत करना ही श्रेष्ठ माना गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी मन को ही बंधन और मोक्ष का कारण बताया गया है। मन का निग्रह अत्यंत कठिन है इसके लिए योग में मन की वृत्तियों के निरोध को ही मन के निग्रह का उपाय बताया गया है।

एक तत्व के दृढ़ अभ्यास करने से मन सहज ही शांत हो जाता है और मन के शांत होने से प्राण भी शांत जाता है। मन के निग्रह के लिए यह भी एक साधन है। एक तत्व के अभ्यास के लिए महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा है कि ब्रह्म भावना, संसार के पदार्थों के अभाव की भावना और केवली भावना करने से एक तत्व का अभ्यास होता है।

आत्मतत्त्व असीम है, इसका मनन करने से मन तन्मय हो जाता है और किसी भी विषय में तल्लीन मन स्थिर हो जाता है। किसी भोग्य पदार्थों के क्षीण होने पर मन में जैसे अस्थिरता आती है वैसे ही असीम आत्मतत्त्व में मन को स्थिर करने से मन और प्राण दोनों लीन हो जाते हैं। “आत्म भावना से मन शीघ्रता से अपनी चंचलता से मुक्त होकर स्थिर हो जाता है। “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” श्रुति के अनुसार मन आत्ममय होकर तदरूप हो जाता है।”³⁸

जब द्रष्टा की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है तब कृतकृत्यता होने से पुरुष के भोग और अपवर्ग का कार्य संपन्न हो जाता है। बुद्धि आदि प्रकृति अपने गुणों में लीन हो जाती है। बुद्धि की सत्त्वरूप उपाधिशून्यता को ही द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा स्वरूप कैवल्य कहते हैं। अविद्या के संबंध से जीव की बुद्धि में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि भाव बने रहते हैं। अविद्या के अस्त होने पर अपने वास्तविक ब्रह्म स्वरूप की अनुभूति होती है। जिस व्यक्ति को आत्म-तत्त्व का बोध हो जाता है, वह दुख से रहित हो जाता है। इस स्थिति में ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।

अविद्या से युक्त ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है। इस अज्ञानता के क्षीण हो जाने पर आवरण और विक्षेप की शक्ति का नाश हो जाता है, परिणामस्वरूप दृश्य जगत का अभाव हो जाता है। इस स्थिति में केवल स्वप्रकाश ब्रह्म का ही भान होता है। निर्विकल्प समाधि में स्वप्रकाश, अद्वैत ब्रह्म का बोध होने से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का अभाव हो जाता है, परिणामस्वरूप वासनाओं का नाश होने से राग, द्वेष और अभिनिवेश नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार संसार की भावना अज्ञान के नष्ट होने से निर्मूल हो जाती है।

योगवासिष्ठ पर योग का प्रभाव पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है। अज्ञान के नष्ट होने पर दृश्य जगत का अभाव हो जाता है और दृश्य के बिना द्रष्टा की दर्शन शक्ति नष्ट होकर मात्र केवली भाव रह जाता है। वायु के अभाव में समस्त क्रियाएं स्वयं नष्ट हो जाती हैं। वासनात्मक राग-द्वेष दृश्य को देखने वाले के न रहने से स्वतः शांत हो जाते हैं। दृश्य जगत में, तुम आदि के शांत होने पर द्रष्टा को आत्म स्वरूप का साक्षात्कार होता है। यही केवली भाव है।

मन और प्राण का अन्योन्याश्रित संबंध है। प्राणों की गति रुकने पर मन शांत हो जाता है और मन के शांत होने पर प्राणों की गति रुक जाती है। योगवासिष्ठ में वर्णन है कि “जिस प्रकार पंखे की गति रुकने से वायु की गति रुक जाती है उसी प्रकार प्राणों की

गति रुकने से मन शांत हो जाता है। मन की शांति का उपाय प्राणों की गति का निरोध है। विश्व की लय प्राप्ति का साधन मन की शांति है।”³⁹

5.4.1 प्राणायाम से कुण्डलिनी जागरण

पूरक और रेचक प्राणायाम से कुण्डलिनी जागरण का विस्तार से योगवासिष्ठ में वर्णन किया गया है। सुमेरु के समान स्थिरता और गुरुता की प्राप्ति पूरक प्राणायाम से होती है। इस प्राणायाम के द्वारा मूलाधार से कुण्डलिनी शक्ति ऊपर उठकर, सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर अन्य नाड़ियों की शक्ति को भी अपने साथ लेकर ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करती है। इस प्राणायाम के अभ्यास से आकाश गमन भी संभव है। रेचक प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मरंध्र के अनावृत होने से परकाया प्रवेश करने की शक्ति साधक में आ जाती है।

जीव के अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कुण्डलिनी जागरण की ही अभिव्यक्ति है, जिसके परिणामस्वरूप अद्वैत का बोध होता है। अद्वैत दर्शन से जड़ अज्ञान की निवृत्ति होने पर जीव में विश्व-बंधुत्व एवं विश्व-शांति की संकल्पना के साथ विश्वकल्याण की भावना का उदय होता है। यही अवस्था जीव की जीवनमुक्ति है।

5.4.2 जीवनमुक्त अवस्था

योगवासिष्ठ में श्रीराम तीर्थ यात्रा से लौटने के बाद दृश्य जगत की नश्वरता के ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात कर्म से पलायन करने को उद्यत न होकर, व्यष्टिभाव से समष्टिभाव की ओर अग्रसर होना चाहते हैं। शरीर और शरीर से संबंधित प्राणी-पदार्थों की संकीर्णता से मुक्त होकर, सार्वभौम आत्मभाव में प्रतिष्ठित होकर विश्व कल्याण की भावना के साथ कार्य करना चाहते हैं। विश्वशांति और विश्वकल्याण की भावना का विकास अद्वैत की भूमि पर ही संभव है। अद्वैत दर्शन के अधिगम से विश्व-बंधुत्व और विश्व-शांति की संकल्पना को साकार रूप दिया जा सकता है।

यथार्थ का ज्ञान हो जाने के पश्चात् जीव बंधन में नहीं पड़ता है। जिस प्रकार मृग-मरीचिका में जल नहीं है, इसका ज्ञान हो जाने के पश्चात वह प्यासे व्यक्ति को आकर्षित नहीं करती है, उसी प्रकार अविद्या की निवृत्ति होने से ब्रह्म साक्षात्कार होने के परिणामस्वरूप जीव को अपने स्वरूप के अलावा, दृश्य जगत का पुनः बंधन नहीं होता है। अविद्या का ज्ञान हो जाने के पश्चात यह दृश्य जगत स्वप्नभोग के समान वास्तविक नहीं रह जाता है।

यह देह मेरा है और मैं देह हूँ, यह वृत्ति समाप्त होते ही व्यक्ति जीवनमुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए संसार में किसी का आना और जाना कोई मायने नहीं रखता है। न सुख की अभिलाषा रहती है और न ही दुख से द्वेष होता है। यह अवस्था राग-द्वेष से रहित होती है। इस अवस्था में साधक मन, वाणी और कर्म से सर्वथा दुर्लभ परम-शांति को प्राप्त कर लेता है।

“मेरे लिए सर्वत्र स्वर्ग ही है। जो संसार में आता है वह आए, जो जाता है वह जाए। उसमें न तो मुझे सुखों की अभिलाषा है, और न ही संसार के दुखों के प्रति द्वेष है। सुख और दुख आए या जाए, मैं इसको सोचने वाला कौन होता हूँ ? इस शरीर में अनेक वासनाओं का उदय हो या अंत हो, मुझे उससे क्या लेना-देना है। जब यह शरीर मेरा है और मैं शरीर का हूँ यह भ्रम दूर हो गया तब शरीर के प्रति आसक्ति ही नहीं रह जाती है। शरीर रहे या न रहे मैंने सबसे उत्तम शांत पद की प्राप्ति कर ली है तथा मन, वाणी और कर्म से उस परम अवस्था को प्राप्त कर लिया है। यहां कुछ सुख प्रदान करने वाला है या नहीं, यह विचार मेरे मन से नष्ट हो गए हैं, क्योंकि मैं परम शांत आनंद-स्वरूप अपनी आत्मा में स्थित हूँ।”⁴⁰

शरीर भाव से मुक्त जीवनमुक्त प्राणी के लिए इस संसार में करने योग्य कुछ शेष नहीं रह जाता है। वह पुण्य-पाप, राग-द्वेष, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, यश-अपयश, जीवन-मृत्यु आदि द्वंद्व से मुक्त होता है। उसकी इस जगत में प्राप्त करने योग्य किसी भी चीज की इच्छा नहीं रहती है क्योंकि, उसे यह पता होता है कि यहां प्राप्त करने योग्य और त्याग करने योग्य कुछ भी नहीं है।

इस जगत में आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्य नहीं है। सत्य, सनातन, आत्मा इस नश्वर जगत में किसको प्राप्त करने की इच्छा करे और किसके लिए दौड़े ? क्योंकि कर्ता, कर्म और कारण सब कुछ आत्मा होते हुए भी, आत्मा कुछ भी नहीं करती है। जीवनमुक्त, इच्छारहित और भय से मुक्त होकर कर्म करता है क्योंकि, जब इस जगत में आत्मा के अतिरिक्त दूसरा सत्य है ही नहीं, तब भय किससे और भय किसको होगा ?

जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना मलिन नहीं होता है, उसी प्रकार जीवनमुक्त संसार की क्रियाओं में व्यवहार करते हुए भी, उनमें संलिप्त नहीं होता है। वह संसार में समाधिस्थ रहकर व्यवहार करता है। उसके लिए संसार का व्यवहार लीला मात्र है। वह बिना आकांक्षा और घृणा के संसार के सभी पदार्थों का भोग करते हुए भी उनसे संलिप्त

नहीं होता है। उसमें सदा विकार से मुक्त सत्व का प्रकाश विद्यमान रहता है। इस संसार में उसे कुछ भी नहीं चाहिए इसलिए उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है तथा वह अपने अखंड पूर्ण ब्रह्मस्वरूप में स्थित होता है। जैसे सांप अपने केचुली को छोड़ देता है वैसे ही संसार की समस्त आपत्तियां जीवनमुक्त को छोड़ देती हैं।

अपने प्रारब्ध कर्म को भोगने के पश्चात् जीवनमुक्त, विदेहमुक्ति को प्राप्त हो जाता है। जैसे चलायमान वायु स्थिर वायु में प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जीवनमुक्त के शरीर का काल के द्वारा विनाश हो जाने के पश्चात्, विदेहमुक्त अवस्था में प्रवेश होता है। विदेहमुक्त अवस्था में काल और कर्म का बंधन समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में कर्म का संबंध नहीं होने से न तो इस का उदय होता है और न ही यह कभी अस्त होता है। इस प्रकार यह पूर्ण रूप से मुक्त की अवस्था है। यही जीव की ब्राह्मी स्थिति है, जिसको प्राप्त करना मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है।

योगवासिष्ठ के अनुसार इस विश्व की सृष्टि ब्रह्मा जी ने की है, यहां जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी अपने कर्म के अनुसार सुख-दुख का भोग करते हुए अंततः मृत्यु को प्राप्त होता है। ब्रह्मा जी के पुत्र वसिष्ठ जी ने इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय के स्वरूप को जानने के साथ ही साथ दुखपूर्ण जगत से मुक्ति का साधन क्या है ? जब यह जानने की जिज्ञासा की तब पितामह ब्रह्मा ने निर्वाण प्रदान करने वाले तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया। महर्षि वसिष्ठ ने विवेक वैराग्य से संपन्न श्री राम को निर्वाण मार्ग का अधिकारी समझकर, ज्ञानमार्ग का उपदेश कर जीवनमुक्त का मार्ग प्रशस्त किया और कहा, अब तुम जीवनमुक्त होकर संसार में विचरण करो और राग-द्वेष के मूर्तस्वरूप का निवारण करते हुए, अपने कर्तव्य कर्म का निष्काम भाव से निर्वहन करो।

5.4.3 तत्त्वज्ञान प्राप्त करके शुकदेव जी का परमात्मा में लीन होना

अपने संकल्प से उत्पन्न हुआ यह नाशवान संसार संकल्प के नष्ट होते ही नष्ट हो जाता है— यही शास्त्रों का निश्चित मत है। चंचल चित्त के कारण जीव संसार के विषयों में भटकते हुए अशांति को प्राप्त करता है। शांति की प्राप्ति विवेक द्वारा प्राप्त इस तत्त्व के ज्ञान के साथ होता है कि परम पुरुष अखंड, चिन्मय परमात्मा के अतिरिक्त इस ब्रह्मांड में दूसरा कुछ भी नहीं है। इस ज्ञान के साथ व्यक्ति संसार के विषय भोगों से पूर्ण रूप से विरक्त होकर पूर्णकाम हो जाता है। उसके लिए इस संसार में पाने योग्य कुछ शेष नहीं रह जाता है। विनाशशील संसार के दृश्य प्रपंच पर वह दृष्टिपात नहीं करता है। इस कारण से

विवेकवान् पुरुष मुक्त हो जाता है। “महाराज जनक द्वारा इस प्रकार उपदेश प्राप्त करके शुकदेव जी अपने परमात्मस्वरूप में स्थित हो गए। उनके शोक, भय और श्रम का सर्वनाश हो गया जैसे दीपक से तेल समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अपने प्रारब्ध की समाप्ति के पश्चात् वे परमात्मा में पूरी तरह से लीन हो गये।”⁴¹

इस जगत् में जीव अपनी वासनाओं के कारण ही जन्म, आयु और भोग को प्राप्त करता है। अनेक प्रकार की वासनाएँ ही कायिक और वाचिक कर्म के रूप में परिणत होती हैं। जीव अपनी वासना के अनुरूप ही कर्म करता है। मनुष्य का चित्त स्वभाव से चंचल होता है। चित्त को पाप मार्ग से हटाकर पुण्य मार्ग में लगाने से पुण्य कर्म और पुण्य मार्ग से हटाकर पाप मार्ग में लगाने से मनुष्य पाप कर्म करने लगता है। इसलिए अपने पुरुषार्थ से व्यक्ति को बलपूर्वक अपने चित्त को पाप मार्ग से हटाकर पुण्य मार्ग में लगाना चाहिए। चित्त का हठपूर्वक निरोध करने के बजाय अपने पुरुषार्थ द्वारा धीरे-धीरे आत्मस्वरूप में चित्त को लगाना चाहिए। इस लोक में जिस विषय का अभ्यास किया जाता है चित्त निस्संदेह उसी में तन्मय हो जाता है। “महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम को पुरुषार्थ द्वारा अपनी पाँचों इंद्रियों को जीत कर शुभ वासनाओं से युक्त होकर शोकरहित पद को प्राप्त करने का उपदेश करते हैं। तत्पश्चात् शुभ वासनाओं का भी परित्याग कर परब्रह्म परमात्मा में भली-भाँति स्थित हो जाने को कहते हैं।”⁴²

जिन्हें अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है, उन्हें इस नाशवान् संसार में न किसी विषय की कामना होती है और न ही किसी प्रकार का शोक होता है। वे इस जगत् में शुभ और अशुभ की याचना नहीं करते और इस जगत् में सब कुछ करते हुए भी आकर्ता की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष हेय और उपादेय के प्रति पक्षपात से रहित होकर परम पवित्रता के साथ अपनी आत्मा में स्थित रहकर, शास्त्रोचित कर्म करते हुए सन्मार्ग पर चलते हैं। ऐसी स्थिति की प्राप्ति आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से संभव नहीं है। इसलिए पुरुष को चाहिए कि जीवनपर्यंत आत्म-अनुसंधान करने के साथ ही साथ आत्मा की उपासना करते हुए आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें। इसके सिवाय उसका दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है।

अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरु के उपदेश की एकरूपता का निश्चय जिस पुरुष को हो जाता है वह निरंतर इसका अभ्यास करके परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

शांति की प्राप्ति उसे होती है जो प्रिय और अप्रिय को देखकर, सुनकर, स्पर्शकर, खाकर न तो हर्षित होता है और न ही विषाद से ग्रस्त होता है। वास्तव में शांति और संतोष का एक मात्र साधन मन का विजय है। ऐसा निश्चय कर साधक को एकरूपता का अनुभव करते हुए परमानंद की प्राप्ति करनी चाहिए। मन की विषय वासना शांत हो जाने के पश्चात सर्वत्र ब्रह्म की ही अनुभूति होती है। प्राणी मात्र में ब्रह्म भाव का अनुभव करते हुए अनंत सुख के द्वारा शांत रहते हुए व्यक्ति लोक का कल्याण कर सकता है।

“इस संसार में केवली भाव ही पुरुषार्थ है। केवली भाव के बिना संसार में शाश्वत सुख कहीं नहीं है। शाश्वत सुख वह है जो समस्त आशंकाओं से रहित, भ्रम से रहित और स्वस्थतायुक्त हो। इस केवली भाव की प्राप्ति के पश्चात क्लेश नहीं होता है।”⁴³ इस संसार में न तो धन—संपत्ति उपकार करती है और न ही मित्र उपकार करते हैं। शाश्वत सुख की प्राप्ति केवली भाव के बिना तीनों लोकों में कहीं भी नहीं हो सकती है। इसलिए इस भाव की प्राप्ति से ही परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

शुद्ध अंतःकरण वाले श्री रामचंद्र जी को संसार के भोग अच्छे नहीं लगते हैं। विषय भोगों का निरंतर चिंतन करते रहने पर, अज्ञानता से जन्म लेने वाला बंधन दृढ़ होता है और भोग वासना के शांत हो जाने के पश्चात संसार के बंधन का क्षरण हो जाता है। संसार के विषयों में होने वाली दृढ़ वासना को बंधन और भोग वासना के क्षय को ही, विद्वान लोग मोक्ष कहते हैं।

जिस पुरुष ने ज्ञेय वस्तु को जान लिया है उसके मन में संसार के विषयों के प्रति रुचि नहीं रह जाती है। श्रीराम की संसार के प्रति वैराग्य—पूर्ण मनोदशा को देखकर विश्वामित्र जी कहते हैं कि इन्हें ज्ञेय तत्व का ज्ञान हो गया है। इसलिए संसार के भोगों में रमणीय स्थान इन्हें आनंदित नहीं करते हैं। जब तक तत्व का ज्ञान नहीं होता, तब तक मनुष्य के हृदय में संसार के विषयों से वैराग्य नहीं होता है। जिसमें शिष्यभाव और वैराग्य नहीं है, ज्ञान का उपदेश उसकी अपवित्रता को वैसे ही दूर नहीं कर पाता है, जैसे —कुत्ते के चमड़े से बने कूपे में रखा हुआ गाय का शुद्ध दूध अपवित्रता को प्राप्त हो जाता है। जो अभिमान से रहित, निष्पाप, वीतराग, क्रोध से रहित और निर्भय होता है—तत्व ज्ञान के उपदेश से तत्काल उसकी बुद्धि को विश्राम मिलता है। परम शांति रूपी अमृत की प्राप्ति उस विद्वान पुरुष को होती है जो, अविद्या रूपी आवरण से रहित है। सभी संकल्प—विकल्प के शांत होने के पश्चात जिसका अंतःकरण एकाग्र हो जाता है, अमृत की प्राप्ति उसे होती

है। जो अपने सच्चिदानंद स्वरूप में अवस्थित हो गया हो, उसको सत्य की अनुभूति हो जाने के पश्चात असत्य विषय भोगों की अनुभूति कहां से होगी?

विषय भोगों से सदेहमुक्ति हो या विदेहमुक्ति हो इसमें कोई भेद नहीं है क्योंकि ये दोनों महात्मा बोधस्वरूप हैं, इनका विषयों से कोई संबंध नहीं है। जैसे जल की दृष्टि से समुद्र की तरंगों की अवस्था और शांत अवस्था के जल में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार बोध की दृष्टि से सदेहमुक्ति और विदेहमुक्ति में कोई भेद नहीं है। यह भेद अज्ञानता वश प्रतीत होता है। वायु वेगवान हो या शांत दोनों ही स्थिति में वायु ही है।

इस संसार में पुरुषार्थ से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रज्ञ सत्पुरुषों द्वारा बताए गए मार्ग का मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा से अपने कल्याण के लिए अनुसरण करना ही पुरुषार्थ है। शास्त्र के विपरीत आचरण करना पागलों की भांति चेष्टा करने जैसा है। श्रुति, स्मृति आदि सद्शास्त्रों से नियंत्रित पुरुषार्थ मनोवांछित फल की प्राप्ति का हेतु बनता है और शास्त्रों के विपरीत आचरण जीवन में अनर्थ की प्राप्ति का हेतु बनता है। मनुष्य के जीवन में आनंद की प्राप्ति पुरुषार्थ से होती है न की प्रारब्ध से। परम पुरुषार्थ मोक्ष है जिसकी प्राप्ति अविद्या रूपी आवरण से रहित होकर, अपने सच्चिदानंद स्वरूप में स्थित होने से होती है।

5.4.4 शम, विचार, संतोष और सत्समागम मोक्ष के द्वारपाल

5.4.4.1 शम

महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम को भवसागर से तारने वाले तथा मोक्ष के द्वार पर स्थित रहने वाले द्वारपालों के रूप में शम, विचार, संतोष और सत्संग की महिमा का विस्तार से योगवासिष्ठ में वर्णन करते हुए कहते हैं कि मनुष्य के जीवन में शम की साधना से परम कल्याण की प्राप्ति होती है। यह संसार भ्रम का निवारण करने वाला मंगलमय और परम शांति प्रदान करने वाला है। जिस पुरुष को शम की प्राप्ति हो जाती है उसका चित्त निर्मल और शांत हो जाता है। परिणामस्वरूप ऐसे पुरुष का शत्रु भी मित्र बन जाता है। जैसे सूर्य के किरणों से अंधकार का विनाश होता है उसी प्रकार इस जगत में जितनी मानसिक व्यथाएं, तृष्णाएं और पीड़ाएं हैं, उन सबका विनाश शांत चित्त वाले पुरुषों के समक्ष हो जाता है। शम से युक्त अंतःकरण वाले व्यक्ति से मिलने पर जिस शांति की प्राप्ति होती है, वह संसार में प्रिय से प्रिय जनों के मिलने पर भी नहीं होती है। उस व्यक्ति का जीवन सार्थक है जो इस जगत में शम से युक्त होकर समवृत्ति के साथ लोगों से व्यवहार करता

है। शम परायण पुरुष के कर्म की प्रशंसा सभी लोग करते हैं। शमयुक्त पुरुष से पिशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, बाघ और सांप कोई भी द्वेष नहीं करते हैं।

शांत उस पुरुष को कहा जाता है जो प्रिय-अप्रिय को देखकर, सुनकर, स्पर्शकर, खाकर और सुंघकर न तो हर्षित होता है और न ही विषादग्रस्त होता है। शांत वही पुरुष कहा जाता है जो प्रयत्नपूर्वक अपनी इंद्रियों को जीत कर, जगत के समस्त प्राणियों के प्रति समान व्यवहार करता है। वह न तो सुख की इच्छा करता है और न ही प्रारब्ध के अनुसार जो प्राप्त है उसका परित्याग करता है। हर्ष और क्रोध उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के होने पर भी, शांत पुरुष, अनुपस्थित रहने के समान न तो हर्ष करता है और न ही क्रोध करता है। उसका मन गहरी नींद में सोए हुए व्यक्ति के समान स्वस्थ रहता है। जिन पुरुषों का मन शम में आसक्त हो जाता है उनके चित्त से वृत्तियों की निवृत्ति हो जाती है। “हे रघुनंदन इस क्षमा रूपी उत्कृष्ट साधन का अपहरण, अन्य पुरुषों द्वारा नहीं किया जा सकता है। ज्ञानी लोग इस अमृतस्वरूप साधन का आश्रय लेकर, परम पुरुषार्थ की सिद्धि करते हैं। उसी शम का तुम भी अनुसरण करो।”⁴⁴

5.4.4.2 विचार

इस नाशवान संसार के दुख से पार होने के लिए विद्वान पुरुषों के पास विचार के अतिरिक्त दूसरा और कोई साधन नहीं है। संसार रूपी महारोग का विनाश विचार रूपी महाऔषधि से ही संभव है। सत्य का साक्षात्कार करने वाले पुरुषों के विवेक-विचार से अशुभ का परित्याग करके शुभ की प्राप्ति करनी चाहिए। विचार के कारण ही बुद्धिमान पुरुषों के ज्ञान, बल, बुद्धि, शक्ति, सामर्थ्य, क्रिया आदि में सफलता प्राप्त होती है। विचारों के माध्यम से अभीष्ट की सिद्धि और संसार सागर से पार होने का उपाय प्राप्त होता है।

सद्विचार से युक्त पुरुष, समस्त व्याधियों के मूल-मोह से युक्त परिस्थितियों में उसी तरह निमग्न नहीं होते हैं, जिस तरह सूर्य अंधकार में नहीं डूबते हैं। इस संसार में जितने भी प्रकार के क्रूर कर्म, शास्त्र-विरुद्ध आचरण और मानसिक कष्ट हैं वे सब के सब विचारहीनता के परिणामस्वरूप ही होते हैं।

जिस पुरुष का मन आशा-रहित होकर विचारयुक्त होता है, वही अपनी आत्मा में परमानंद का अनुभव करता है। इस जगत में जीव को सारे पदार्थ सत्य की भांति सुखद तभी तक प्रतीत होते हैं, जब तक यथार्थ रूप से विचार नहीं किया जाता है। असद् पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है और सद का कभी अभाव नहीं है, यह विचार करने पर सत्य

प्रतीत होने वाले सारे पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। आनंदमय, अक्षय, अनंत, सम स्वरूप, अनन्याधीन, कैवल्य पद की प्राप्ति विचार रूप महान वृक्ष के फल के रूप में समझना चाहिए। आत्मविचार रूपी महाऔषधि चंचल चित्त को अचल स्थिति प्रदान करने वाली है और ऐसे चित्त वाला पुरुष न तो अप्राप्त की कामना करता है और न ही प्राप्त का त्याग करता है।

विचारवान पुरुष जो वस्तु चली गई है उसकी उपेक्षा कर देता है और जो प्राप्त वस्तु है उसका शास्त्र के अनुसार उपयोग करता है। आपत्ति काल में बुद्धिमान पुरुष को मैं कौन हूं ? और यह संसार किसका है ? इस प्रकार का विचार प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए। वेद-वेदांत के सिद्धांतों का निर्णय भी विचार के द्वारा ही किया जा सकता है। उत्तम विचार से युक्त पुरुष महापुरुषों के लिए भी आदरणीय होता है।

“मैं कौन हूं ? और यह संसार नामक दोष मेरे पास कहां से आया ? न्याय पूर्वक इस विषय पर अनुसंधान करने की प्रक्रिया को ही विचार कहते हैं।”⁴⁵ यथार्थ तत्व के ज्ञान की प्राप्ति, बुद्धिमान पुरुषों को, इस जगत में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की बुद्धि से संपन्न हुए बिना नहीं होती है। वास्तव में विचार से ही, तत्व का ज्ञान होता है और तत्वज्ञान से मन की चंचलता दूर होकर, शांति की प्राप्ति होती है। मन के शांत हो जाने पर समस्त दुखों का अंत हो जाता है। परमात्मा का साक्षात्कार भी विचार से ही उपलब्ध होता है। इसलिए महर्षि वसिष्ठ श्रीराम से कहते हैं कि तुम्हें शम से संपन्न होकर विचारवान होना चाहिए।

5.4.4.3 संतोष

इस जगत में जन्म लेने वाले जीव के लिए संतोष परमसुख का साधन और परम श्रेय है। संतोष से युक्त बुद्धि वाला पुरुष, इस संसार की विषम परिस्थितियों से विचलित नहीं होता है और न ही उसकी बुद्धि का नाश होता है। वह इस जगत में परम विश्राम को प्राप्त होता है। उसके लिए संसार की भोग सामग्रियां विष जैसी प्रतीत होती हैं।

संतोष, राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले दोषों का विनाशक तथा परम सुखद है। उस पुरुष को संतुष्ट कहा जा सकता है जो, अप्राप्त वस्तु की कामना का परित्याग करके, प्राप्त वस्तु में समभाव रखता हो तथा जिसके जीवन में हर्ष और शोक से उत्पन्न होने वाले विकारों का दर्शन नहीं होता हो। जिसका मन सभी प्रकार की पीड़ाओं से मुक्त और संतुष्ट है वही सही अर्थों में साम्राज्य सुख का भोग कर रहा है।

मन जब आत्मा के द्वारा, आत्मा में ही संतुष्ट हो जाता है तब इस सुख की प्राप्ति होती है। मनुष्य अपने शांत मन और शीतल बुद्धि द्वारा शाश्वत, स्थिर, सत्य, सनातन, स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। संतोषी पुरुष अपनी आत्मा द्वारा आत्मा में स्थित होकर, अपने स्वस्थ-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप उसकी सारी मानसिक व्यथायें उसी प्रकार पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार वर्षा ऋतु में धूल नष्ट हो जाती है।

5.4.4.4 सत्समागम

इस जगत में मनुष्य के लिए सत्समागम सबसे उत्कृष्ट है जो मनुष्य को संसार सागर से पार कराने में श्रेष्ठ साधन है। सत्संग रूपी वृक्ष पर विवेक की पुष्प खिलते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मोक्ष फल की प्राप्ति होती है। सत्संग बुद्धिवर्धक, अज्ञान का विनाशक तथा मानसिक विकारों को दूरकर, मनुष्य के जीवन में आने वाली आपत्तियों और मोह को समाप्त करने वाला है।

जीवन में सन्मार्ग को प्रकाशित करने वाला तथा हृदय के अज्ञान रूपी अंधकार को दूर कर संसार सागर से तारने वाला संग सत्समागम है। जिसमें सत्संग होता है। नाशवान संसार में सत्य का अनुसंधान करने तथा आत्म साक्षात्कार के लिए प्रेरित करने वाला संग सत्संग है। आत्मविषयक विचार करने के लिए संत प्रेरित करते हैं, जिससे बुद्धि परम पवित्र होकर आत्म चिंतन करते हुए परम पद का साक्षात्कार कर लेती है। मैं कौन हूँ ? यह संसार किसका है ? संत समागम में ऐसे प्रश्नों पर चिंतन-मनन होता है और अंततः सत्य खोजते-खोजते अविद्या जनित बाधाओं के दूर होते ही, एक दिन सत्य का प्रकाश, स्वयं प्रकट हो जाता है। शरीर और इंद्रियों द्वारा निर्मित बुद्धि से सत्य के बारे में जाना जा सकता है, परंतु सत्य को जानने वाली बुद्धि ऋतंभरा होती है। विवेक के द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार हो सकता है और विवेक की प्राप्ति सत्संग से होती है। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं— **बिनु सत्संग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।**

सत्समागम से सत्संग और सत्संग से सत्य का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार शम, विचार, संतोष और सत्समागम मानव को संसार सागर से तारने वाले साधन है। शम की साधना से उत्कृष्ट सुख, विचार करने से उत्तम शाश्वत, सनातन, अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति, संतोष से परमसुख का लाभ होता है और सत्समागम से विवेक जागृत होने पर परमगति की प्राप्ति होती है। ये चारों साधन इस नश्वर संसार का समूल विनाश करने के लिए

पर्याप्त हैं। जिन लोगों ने इनमें से किसी एक साधन का भी भली-भांति उपयोग किया वे भवसागर से पार होने में सफल हो गए।

महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि “हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राम, भवसागर से पार कराने वाले इन चार साधनों में से किसी एक साधन का अभ्यास हो जाने से अन्य तीनों साधनों का भी अभ्यास हो जाता है, क्योंकि इनमें से एक साधन भी अन्य तीनों साधनों की जन्मभूमि है।”⁴⁶

इसलिए इन सब साधनों की सिद्धि के लिए किसी एक साधन का पूर्ण रूप से आश्रय लेना चाहिए। जैसे कल्पवृक्ष का आश्रय लेने वाले मनुष्य को दृश्य जगत की संपूर्ण संपत्तियां प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार जो मनुष्य शम, विचार, संतोष और सत्समागम से संपन्न हैं उसे सत्य, सनातन, शाश्वत, आत्मज्ञान की संपत्तियां सहजता से उपलब्ध हो जाती हैं। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने मन को वश में करके संसार सागर से पार कराने वाले इन साधनों में से किसी एक का नित्य यत्नपूर्वक साधना करें, क्योंकि किसी एक गुण विशेष की वृद्धि होने पर दोषों पर विजय दिलाने वाले, अनेक प्रकार के गुणों की वृद्धि होती है और किसी एक दोष के विशेष रूप से बढ़ जाने से, अनेक प्रकार के गुणों को समाप्त करने वाले दोषों की वृद्धि हो जाती है।

5.4.5 दृश्य जगत ही बंधन और उसका निवारण मोक्ष है

इस संसार में जन्म लेने वाले जीव की मृत्यु निश्चित है। इस दृश्य जगत में जन्म और मृत्यु का बंधन सदैव बना रहता है। दृश्य जगत का अभाव हो जाने पर बंधन मिट जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस दृश्य संसार में जो उत्पन्न होता है, वही विकास करते हुए एक दिन क्षय को प्राप्त होता है। जन्म लेने वाला ही बंधन और मोक्ष को प्राप्त करता है। उसी को अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक में जाना पड़ता है। वास्तव में जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का बोध न होने के कारण ही बंधन का अनुभव होता है। अपने आत्मस्वरूप का बोध होने पर ज्ञात होता है कि आत्मा दृश्य जगत की उत्पत्ति से पहले, जैसा रहा है, वैसा ही दृश्य जगत की उत्पत्ति के बाद भी है, क्योंकि आत्मा सदैव एकरस रहता है।

परिवर्तन दृश्य जगत में होता है, आत्मा में नहीं। आत्मा को ही विद्वान लोग सत्य, सत-स्वरूप का ऋत, परब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, भूमा इत्यादि संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। जिस प्रकार सोने से बना हुआ कंगन, सोने के स्वभाव के अंतर्गत ही है उसी प्रकार यह

दृश्य जगत ब्रह्मभाव की दृष्टि से ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है। जैसे स्वर्ण में ही कंगन की कल्पना हुई है, उसी प्रकार ब्रह्म में ही जगत की कल्पना हुई है। इस दृष्टि से ब्रह्म और जगत में कोई भिन्नता नहीं है।

अविद्या के कारण द्रष्टा और दृश्य के संयोग से निर्मित यह जगत, मन के कारण असत होते हुए भी, सत् प्रतीत होता है। असत वस्तु सत् जैसी, जिसके कारण प्रतीत होती है उसे माया कहते हैं। माया के लिए ही विद्वानों द्वारा अविद्या, महत्, बंधन, तम, मोह आदि नाम दिया गया है। महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि “जगत के दृश्य प्रपंच का अस्तित्व ही द्रष्टा का बंधन है। दृश्य जगत का निवारण हो जाने से द्रष्टा, बंधन से मुक्त हो जाता है। तुम, मैं और यह इत्यादि रूपों में प्रतीत होने वाले मिथ्या जगत को ही दृश्य कहते हैं। जिसे अपने सत्—चित्त—आनंद स्वरूप आत्मा का बोध नहीं होता है, उसी की दृष्टि के समक्ष यह जगत वैभवशाली दिखाई देता है।

चित्तवृत्तियों के रहते हुए उससे संबंध रखने वाले द्रष्टा के जगत भ्रम का निवारण नहीं किया जा सकता है। योग के अधिगम से जब निर्विकल्प समाधि की सिद्धि होती है, तब चेतनता और तुरीय अवस्था की उपलब्धि होती है। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, ऐसे अज्ञानी द्रष्टा में, दृश्य जगत को अंतर्निहित करने वाली बुद्धि होती है। जिस प्रकार गहरी नींद से उठने पर दुख से युक्त संसार अनुभव में आने लगता है, उसी प्रकार समाधि से उठने पर यह दुख से युक्त संसार जस का तस प्रतीत होने लगता है। मन रूप दृश्य के रहते समाधि का अनुभव नहीं होता है। जब चित्त की वृत्तियां निवृत्त हो जाती हो जाती हैं तब द्रष्टा को समाधि की अनुभूति होती है।”

आदि, मध्य और अंत से रहित अद्वितीय परमात्मा में न तो दृश्य है और न ही द्रष्टा है। ब्रह्म ही अपने संकल्प के कारण स्वयंभू ब्रह्मा नाम से देह धारण करते हुए प्रतीत होता है। इस जगत के समस्त प्राणियों में ब्रह्मा सबसे प्रथम चेष्टाशील चेतन भूत हैं। उन्हीं से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के रूप में अंतःकरण—चतुष्टय का उदय होता है। अपने कारणभूत परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न ब्रह्मा स्वयं आत्मस्वरूप हैं। ब्रह्मा की आकृति प्रतिभास मात्र है, इसलिए इनसे उत्पन्न होने वाली सृष्टि भी प्रतिभास रूप ही है। व्यवहारिक और प्रयोजन के सिद्धि की दृष्टि से असत वस्तु भी सत् वस्तु की तरह व्यवहार को प्रकाशित करती है।

यह सृष्टि ब्रह्मा से उत्पन्न होती है और मात्र प्रतिभासरूपा है फिर भी, सत्य के जैसा ही अपने प्रयोजन को सिद्ध करती है। जिसमें स्वयंभू ब्रह्मा शरीरधारी पुरुष के जैसा ही प्रतीत होते हैं। ब्रह्मा तीनों लोकों की स्थिति के कारण हैं। “पंचमहाभूतों से शून्य संकल्पपुरुष ब्रह्मा का शरीर चित्तमात्र है। ब्रह्मा मनोमय हैं, इनका शरीर पृथ्वी आदि तत्वों से निर्मित नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मा से उत्पन्न यह सृष्टि भी मनोमय ही है, क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है उसके अनुरूप ही होता है। जैसे स्वर्ण से बना हुआ कोई भी आभूषण स्वर्ण रूप ही होता है।”⁴⁷

इस प्रकार देखने से स्पष्ट होता है कि वास्तव में मन का रूप ब्रह्मा है और ब्रह्मा का रूप मन है। इसमें पंचमहाभूतों का प्रवेश नहीं होता है। वास्तव में मन ने ही परमात्मा में पृथ्वी आदि तत्वों की कल्पना की है। योग विद्या के अधिगम से जब तक द्रष्टा और दृश्य का विवेक जागृत नहीं हो जाता है, तब तक अविद्या की ग्रंथि का भेदन नहीं होने से, मन में दृश्य जगत की प्रतीति होती ही रहती है। विचारपूर्वक देखने पर यह ज्ञात होता है कि यदि यह दुख रूप दृश्य जगत सत होता, तो उसकी समाप्ति कभी नहीं होती और दृश्य जगत की निवृत्ति के बिना, द्रष्टा को अपने स्वरूप में अवस्थित होने की सिद्धि कभी नहीं हो सकती है। दृश्य का अभाव हो जाने पर ज्ञाता में द्रष्टा भाव की स्थिति भी शांत हो जाती है और यही ज्ञाता का कैवल्य है।

5.4.6 सबके मूल में एकमात्र परमात्मा है

महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि इस असद् जगत में केवल शांत स्वरूप ब्रह्म ही सद् रूप है, जो सर्वव्यापी है। वास्तव में ब्रह्म के अतिरिक्त न दृश्य सत रूप है, न द्रष्टा, न दर्शन यदि दृश्य सत्य है तब उससे निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सत्य का कभी अभाव नहीं हो सकता है। इसलिए इस जगत में ब्रह्म सत्य है और जगत सत्य जैसा प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न में दृश्य जगत की उत्पत्ति मन से होती है, उसी प्रकार यह जगत भी मन से ही उत्पन्न होकर प्रतीति का विषय बना हुआ है। “हे रघुनंदन संकल्प को ही मन जानो क्योंकि मन और संकल्प को कोई भी अलग नहीं कर पाया है। संकल्पमय शरीररूपी ब्रह्मा को जगत में समष्टिगत मन कहा गया है। संकल्परूप दृश्य से अलग मन का कोई अस्तित्व नहीं है। संसार, अविद्या, मन, बंधन, चित्त, तम, मल आदि नाम दृश्य के ही पर्यायवाची हैं। द्रष्टा से दृश्य भिन्न नहीं है। जैसे मृगतृष्णा की नदी में जल का स्थान है, स्वप्न जगत में जो दिखाई देने वाले दृश्य का स्थान है, वही स्थान द्रष्टा में दृश्य का

है। जिस प्रकार इन सब की सत्ता अपने अधिष्ठान से अलग नहीं है, उसी प्रकार द्रष्टा से अलग दृश्य की सत्ता नहीं है।

इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दृश्य जगत के समाप्त हो जाने पर द्रष्टा का द्रष्टापन स्वयं समाप्त हो जाता है। इसी को **आत्मा का केवली भाव कहते हैं**। इस भाव की प्राप्ति हो जाने के पश्चात राग-द्वेष आदि वासना उसी प्रकार शांत हो जाती है, जिस प्रकार वायु के शांत हो जाने पर वृक्षों में उठने वाला कंपन और जलाशय में उठने वाली लहरें स्वयं शांत हो जाती हैं।

क्षणभंगुर दृश्य जगत का विस्तार मन करता है, जो स्वयं असदरूप होते हुए भी, सत सा प्रतीत होने वाले संसार की सृष्टि करता है। मन स्वभाव से चंचल है और अपनी इसी शक्ति के कारण उछलता, कूदता, जाता, आता, गोते लगाता, आग्रह करता, याचना करता, उत्पन्न और संहार करता रहता है। इस दृश्य जगत की सृष्टि से पहले शांत, शाश्वत, अप्रमेय, ब्रह्म ही शेष रहता है। वाणी द्वारा व्यक्त न होने के कारण ही ब्रह्म अव्यक्त कहलाता है। इसी को योग दर्शन में द्रष्टा, सांख्य दर्शन में पुरुष और वेदांत में ब्रह्म नाम दिया गया है। शून्यवादी इसे ही शून्य कहते हैं। जिस प्रकार विभिन्न जल स्रोतों से आने वाला जल, अंततः महासागर में मिल जाता है उसी प्रकार, संपूर्ण दृश्य जगत अंततः ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है।

जो परमार्थिक सत्ता से संपन्न है और व्यवहारिक सत्ता से ऊपर उठ गए हैं, उनकी दृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी सत्ता है ही नहीं। “परमात्मा उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से रहित है। आदि अंत से रहित, नित्य प्रकाशित, ज्ञान से परिपूर्ण, अपने स्वरूप में ही स्थित अद्वितीय ब्रह्म ही है। इसके अतिरिक्त दूसरी सत्ता मात्र प्रतीत होती है वास्तव में है नहीं।”⁴⁸

5.4.7 सत्संग और सत्-शास्त्रों से ज्ञान तथा ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति

जन्म-मृत्यु के कष्ट से मुक्त होकर, मोक्ष की प्राप्ति, जीव को परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान से सिद्ध होती है। संसार के बंधन से निवृत्ति के लिए ज्ञान ही एकमात्र साधन है। ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के सकाम कर्म से भवबंधन से निवृत्ति नहीं हो सकती है, जैसे मृगतृष्णा में होने वाले जल के भ्रम की निवृत्ति ज्ञान से हो सकती है कर्म से नहीं। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का साधन सत्संग और सत् शास्त्रों का स्वाध्याय है। परब्रह्म परमात्मा

ही सत् स्वरूप है केवल इसी ज्ञान से ही जीव के जीवन में समस्त दुखों का नाश होता है और वह जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि “अपनी पुरुषार्थ से विवेक विचार से युक्त सदबुद्धि द्वारा परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही संसार रूपी रोग का नाश करने वाली महा औषधि है। जिसकी प्राप्ति सत् शास्त्रों के अभ्यास तथा सत् पुरुषों के संग से प्राप्त होने वाले सत्संग से होती है। मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि निष्काम भाव से कर्म करता हुआ अपने प्रारब्ध के अनुसार जो प्राप्त हो जाए उसी में संतुष्ट रहकर शांतवृत्ति से सत् शास्त्रों का स्वाध्याय करे और सत्संग करे, क्योंकि भव रोग का नाश करने वाली यही दो प्रधान औषधियां हैं। जो पुरुष इनका सेवन करता है वह शीघ्र ही जन्म-मरण के भव चक्र से मुक्त हो जाता है।

अध्यात्म तत्व से युक्त ग्रंथ को सद्ग्रंथ कहते हैं और संपूर्ण विद्याओं में प्रधान विद्या—अध्यात्म विद्या है। प्रस्थानत्रयी— जिसमें उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता आते हैं। इन ग्रंथों का विवेकपूर्ण विचार करने से मनुष्य संसार सागर से पार होकर मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार योग के अभ्यास से व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध होती है, उसी प्रकार सत् शास्त्रों के अभ्यास और सत्संग से विवेक ज्ञान की प्राप्ति के साथ ही साथ अज्ञानता का निवारण हो जाता है। “जब परमात्मा का ज्ञान हो जाता है तब जिस प्रकार विष के शांत होने से विषूचिका नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार संसार के समस्त दुखों की परंपरा नष्ट हो जाती है।”⁴⁹

5.4.8 योगवासिष्ठ में ज्ञान की सात भूमिका—

ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन योगवासिष्ठ में किया गया है। अधिगम का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना है। जीवन की आवश्यकता को पूरा करने में जो सहायक हो वह ज्ञान व्यक्ति सीखना चाहता है। अधिगमकर्ता में ज्ञान प्राप्त करने के लिए लक्ष्य के अनुकूल बुद्धि का होना परम आवश्यक है, क्योंकि बुद्धि का अधिगम से गहरा संबंध है। भारतीय ज्ञान परंपरा में अधिगम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए बुद्धि और ज्ञान संबंधी संकल्पनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

योगवासिष्ठ में वर्णित ज्ञान की सात भूमिकाओं का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि, अभ्यास और वैराग्य का ज्ञान प्राप्ति में क्या महत्व है ? मनुष्य जीवन का आध्यात्मिक लक्ष्य, आत्म अनुसंधान करते हुए आत्मानुभूति द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना

है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए महर्षि वसिष्ठ जी ने योगवासिष्ठ में ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन किया है जो निम्नलिखित है :—

5.4.8.1 शुभेच्छा:—“संसार की नश्वरता का ज्ञान होने के पश्चात जब वैराग्य उत्पन्न होता है, तब इस प्रकार की इच्छा का उत्पन्न होना कि, मैं अज्ञानी क्यों रहूँ ? शास्त्र और सज्जनों की सहायता से सत्संग करके सत्य को क्यों न जानूँ ? शुभेच्छा कहलाती है।”⁵⁰

5.4.8.2 विचारणा :—सत् शास्त्रों का अध्ययन करने से और सज्जनों के संग में बैठकर सत्संग करने से वैराग्य उत्पन्न होता है। सत् चिंतन के अभ्यास और वैराग्य से सदाचार की ओर मन की प्रवृत्ति को ही विचारणा कहते हैं।

5.4.8.3 तनुमानसा :—शुभेच्छा और विचारणा के निरंतर अभ्यास से इंद्रियों का उनसे संबंधित विषयों के प्रति अनासक्तता उत्पन्न हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप मन की स्थूलता कम हो जाती है, इसे ही तनुमानसा कहते हैं।

5.4.8.4 सत्त्वापत्ति :—शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा के अभ्यास से विषयों के प्रति विरक्ति हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप चित्त आत्मा में स्थिर होने लगता है। ज्ञान की इस अवस्था को सत्त्वापत्ति कहते हैं।

5.4.8.5 असंसक्ति :—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा और सत्त्वापत्ति का अभ्यास हो जाने के पश्चात व्यक्ति को संसार के विषयों में असंसक्ति हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप आत्म सत्ता के प्रकाश में मन के स्थिर हो जाने को ही असंसक्ति कहते हैं।

5.4.8.6 पदार्थाभावनी :—ज्ञान की शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति और असंसक्ति नामक पांचों भूमिकाओं का निरंतर अभ्यास करने से, आत्मा में दृढ़ स्थिति उत्पन्न हो जाने पर, बाहर—भीतर के सब पदार्थों के अभाव की भावना करके उन्हें असत समझ लेने पर पदार्थाभावनी नामक भूमिका का उदय होता है।

5.4.8.7 तुर्यगा:— शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति और पदार्थाभावनी नामक ज्ञान की भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने के पश्चात इस जगत में भेद दिखाई नहीं देता है। अभेद दृष्टि से आत्म भाव में जो अविचलित स्थिति उत्पन्न होती है, उसे ही तुर्यगा कहते हैं। “ज्ञानी लोग इसे ही तुरीया अवस्था कहते हैं, और इसी को जीवनमुक्ति भी कहा जाता है। तुर्यावस्था से परे की अवस्था को विदेह मुक्ति कहते हैं।”⁵¹

5.4.9 आत्मदर्शन, परमात्मस्वरूप और असंकल्प से अविद्या का विनाश

इस जगत में जीव का जन्म इच्छा के कारण होता है और जीवन भर व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए कर्म करता है। इच्छाओं का कोई अंत नहीं है, इसका ज्ञान होने के बाद भी मनुष्य अनंत इच्छाओं का शिकार होकर, अपने जीवन का अंत कर देता है। इस जगत में इच्छा ही मनुष्य के बंधन का कारण है और इच्छा का जन्म अविद्या के कारण होता है। वसिष्ठ जी कहते हैं कि “हे रघुनंदन इस संसार में शरीर और इंद्रियों की बाह्य विषयों के प्रति इच्छा मात्र को अविद्या और इच्छाओं के नाश को मोक्ष की संज्ञा दी गई है। वास्तव में मोक्ष की सिद्धि संकल्प के मिट जाने से होती है।

यथार्थ ज्ञानस्वरूप सर्वत्र व्याप्त परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने के परिणामस्वरूप अविद्या उसी प्रकार स्वयमेव विलीन हो जाती है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अंधकार स्वयं विलीन हो जाता है। जगत का यह दृश्य प्रपंच अविद्या के कारण है और अविद्या परमात्मा का चिंतन करने से नष्ट हो जाती है। परमात्मा अनिर्वचनीय चेतन तत्त्व है, जो सांसारिक विषयों के संसर्ग से रहित होकर भी सब में व्याप्त है, इसलिए सर्व व्यापक है।

इस संसार में ज्ञानस्वरूप, नित्य, सर्वव्यापी, शुद्ध, चौतन्य घन, अखंड, निर्विकार, विज्ञानस्वरूप, परब्रह्म, परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं। अविद्या के आवरण से युक्त चेतन जीवात्मा ही मन कहलाता है। “मन के संकल्प से ही यह सृष्टि उत्पन्न होती है और संकल्प से ही नष्ट हो जाती है।”⁵² वास्तव में देखा जाए तो यह संसार है ही नहीं, क्योंकि यह संसार सर्वव्यापी, अद्वितीय, परमात्मा में संकल्प मात्र से ही उत्पन्न हुआ है। संसार के विषयों का संकल्प करने से मन मुढ़ता को उपलब्ध होता है और ज्ञानस्वरूप परमात्मा का संकल्प करने से ब्राम्हीभाव को प्राप्त होता है।

यह दृश्य जगत जो आज प्रतीत हो रहा है, वह पहले नहीं था और बाद में भी नहीं होगा। यहां अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु जानने और मानने योग्य नहीं है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी को आदि अंत से रहित, निर्विकार, ब्रह्म में स्थित हो जाना चाहिए, क्योंकि इस जगत में अद्वितीय परमात्मा के अतिरिक्त, दूसरी कोई भी वस्तु सत्य नहीं है। शरीर और इंद्रियों से उत्पन्न होने वाला मैं और मेरा— ये दोनों भाव, अविद्या के कारण उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी की दृष्टि में अविद्या होती ही नहीं है। यह आश्चर्य ही है कि

सत्य ब्रह्म को लोग भूल गए और अविद्या से निर्मित संसार का ही निरंतर स्मरण करते रहते हैं।

हे रघुनंदन इस संसार की कल्पना, चित्त ने ही स्वप्न में निर्मित जगत की तरह ही कर ली है। देह जड़ है। देहाभिमानी जीवात्मा के दुख का कारण अज्ञानता है। अज्ञान के कारण ही जीवन में सुख-दुख का अनुभव होता है। जो ज्ञानी पुरुष परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, उसे दुख नहीं होता है। जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले फल के रूप में सुख-दुख को विवेकहीनता के कारण भोगता है। इस जगत में मन विविध वृत्तियों से युक्त होकर अनेक प्रकार की आकृतियों में विचरण करता हुआ, संसार चक्र में घूमता रहता है। इस शरीर में अविद्या के आवरण से युक्त जीवात्मा ही विभिन्न प्रकार की चेष्टा करता है। योगविद्या के अधिगम से अविद्या के विनाश होने पर अपने आत्मस्वरूप में अनादिकाल से अज्ञान का आरोप नष्ट होता है, और आत्मदर्शन के पश्चात अपने परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है।

5.4.10 सांख्ययोग और अष्टांगयोग से परमपद की प्राप्ति

मन के संकल्प से संसार की उत्पत्ति होती है और जहां मन की वृत्ति में प्राण और संसार का हेतु वासना का अत्यंत अभाव हो जाता है, उसे ही परमपद कहते हैं। इस परमपद की प्राप्ति मन के विनाश के पश्चात ही संभव है। इस संसार के प्रकट होने का हेतु वासना है और वासना को चित्त भी कहते हैं। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। मुनियों की दृष्टि में वासना चित्त का स्वरूप है। व्यक्ति के जीवन में वासना का अभाव होने पर उसे परमपद की प्राप्ति होती है।

यह संसार मन के संकल्प के कारण उत्पन्न होता है, वासना से युक्त संसार में अहंता, ममता, राग, द्वेष, भय, बंधन और मोक्ष की सत्ता वास्तव में कहां है ? संकल्प से निर्मित संसार में यह सब संकल्प ही तो है। मन के संकल्प से निर्मित संसार तथा संसार की नश्वरता और परमात्मा के सत्य, सनातन, शाश्वत, विज्ञानानंदघन परमार्थतत्त्व के यथार्थ ज्ञान को सांख्ययोग कहते हैं। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से संसार के सभी पदार्थों का अभाव हो जाता है। संसार के विनाश से मन का भी विनाश हो जाता है, क्योंकि मन के संकल्प से ही संसार का निर्माण होता है। मनोनाश के परिणामस्वरूप जीवात्मा को परमपद की प्राप्ति हो जाती है और इसे ही मोक्ष कहते हैं।

“एक परमात्मतत्त्व का दृढ़ अभ्यास, प्राणों का विलीन होना और मन का मिट जाना ही मोक्ष का साधन है। इस यथार्थ ज्ञान तथा समाधि द्वारा सांख्ययोग से जो ज्ञान को उपलब्ध हुआ है उसे सांख्ययोगी कहते हैं और जिस पुरुष ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा अष्टांगयोग की साधना करके परम पद को प्राप्त किया है उसे योग-योगी कहते हैं।”⁵³

परमपद की प्राप्ति अष्टांगयोग और सांख्ययोग दोनों के द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में कोई अंतर नहीं है। जो इनको एक समझता है वही वास्तव में ठीक से समझता है। सांख्ययोग की साधना से जिस परमपद की प्राप्ति होती है अष्टांगयोग के द्वारा भी उसे ही प्राप्त किया जाता है। योग की साधना से प्राण, मन की वृत्तियाँ और वासना का जाल मिट जाता है। वासना को ही चित्त की संज्ञा दी गई है और चित्त ही वृत्तियों के रूप में संसार का कारण बनता है। सांख्य या योग में से किसी भी एक साधन के माध्यम से संसार की वृत्तियों से चित्त को निवृत्त किया जा सकता है।

एक परमात्मतत्त्व का अभ्यास, प्राणों का निरोध और मनोनाश इन तीनों में से किसी एक की सिद्धि हो जाने पर अन्य दूसरे भी परस्पर सिद्ध हो जाते हैं। प्राणवायु के शांत होने पर मन वैसे ही शांत हो जाता है, जैसे पंखे का चलना बंद होने से वायु का प्रवाह शांत हो जाता है। प्राण और चित्त, तिल और तेल तथा पुष्प और सुगंध की भांति एक दूसरे से मिले हुए हैं। आधार और आधेय संबंध की भांति किसी एक का विनाश होने पर दोनों नष्ट हो जाते हैं।

महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि “हे राम मोक्ष के इन तीन साधनों में से मनोविनाश ही मुख्य है। मनके शांत होते ही प्राणों का निरोध हो जाता है क्योंकि मन के साथ विलीन हो जाना प्राणों का स्वभाव है। चित्त का प्राणों के साथ विलीन होने के पश्चात् परमात्मतत्त्व ही शेष रह जाता है। अपने परमात्मस्वरूप में स्थित चित्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है। अविद्या के अभाव में विशुद्ध चित्त को सत्त्व कहा जाता है। जिसमें संसार को उत्पन्न करने वाली वासना नष्ट हो जाती है। वासना के नष्ट होने के पश्चात् चित्तब्रह्म में तद्रूप हो जाता है। योग विद्या से जिसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है, वह पुरुष सत्त्वभाव में स्थित होकर वासना से रहित हो निर्गुण, निराकार, परमात्मातत्त्व का ही दर्शन करते हुए मुक्त हो जाता है।

5.4.10.1 सांख्ययोग

इस जगत में जीव को यथार्थ ज्ञान के बिना, शोक से मुक्ति नहीं मिलती है। इस मृत्युलोक में जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है, यह यथार्थ ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाता है वह पंडित, जीवित और मृत व्यक्तियों के लिए शोक नहीं करता है। प्रत्येक देहधारी के देह में शैशवावस्था, कुमारावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था की जैसे प्राप्ति होती है, वैसे ही देह छुटने के बाद दूसरे देह की भी प्राप्ति होती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष शरीर और संसार में प्राप्त होने वाले सुख-दुख के प्रति व्यथित नहीं होता है। जो सर्वव्यापक, शाश्वत, अव्ययतत्त्व है, उसी में यह सारा जगत व्याप्त है और वही अविनाशी है, दृश्य जगत तो नाशवान है। सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का अस्तित्व नहीं होता है। शरीर को धारण करने वाला अविनाशी तत्त्व आत्मा, अमर है। न तो यह किसी को मारती है और न ही किसी के द्वारा मारी जा सकती है, क्योंकि आत्मा अजन्मा है इसलिए अमर है।

जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। शरीर में परिवर्तन और मृत्यु अवश्यभावी है, परंतु शरीर को धारण करने वाली आत्मा, अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। जिस पुरुष को शरीर और आत्मा का यथार्थ ज्ञान है वह कैसे किसी को मार अथवा किसी को मरवा सकता है? आत्मा को न किसी शस्त्र के द्वारा वेधा जा सकता है, न आग द्वारा जलाया जा सकता है, न पानी द्वारा भिगोया जा सकता है और न ही वायु द्वारा सुखाया जा सकता है। “देहधारी आत्मा जीर्ण-शीर्ण हो चुके देह को छोड़कर, नए देह को वैसे ही धारण कर लेती है, जैसे मनुष्य पुराने कपड़े को छोड़कर नया वस्त्र धारण कर लेता है।”⁵⁴ जो बुद्धिमान पुरुष इस सत्य, सनातन, शाश्वत, नित्य, अचल, स्थिर, विकार-रहित और सर्वव्यापी आत्मा को जानता है, वह शोक ग्रस्त नहीं होता है। वह जानता है कि जन्म लेने वाले प्राणी की मृत्यु और मृत्यु को प्राप्त हुए प्राणी का जन्म निश्चित है। अतः जो निश्चित है, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है।

इस जगत में सभी भूतों के जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात की स्थिति का वर्णन कर पाना संभव नहीं है, क्योंकि वह अज्ञात और अव्यक्त है। जीव के जन्म और मृत्यु के बीच की स्थिति ही प्रकट होती है, इसलिए इसके लिए चिंता की क्या आवश्यकता है ? जो आरंभ से पहले और अंत के बाद अव्यक्त है, वह बीच में मात्र व्यक्त जैसा प्रतीत होता है। इस परिवर्तनशील दृश्य जगत में द्रष्टा अर्थात् “आत्मा को कोई आश्चर्य से देखता है, कोई

आश्चर्य से वर्णन करता है, कोई आश्चर्य से इस वर्णन को सुनता है, परंतु देखने, कहने और सुनने मात्र से कोई इसे जान नहीं सकता है।⁵⁵

सबके शरीर को धारण करने वाली आत्मा, शाश्वत, अपरिवर्तनशील और जन्म-मृत्यु से परे है। बुद्धिमान पुरुष जन्म और मृत्यु को प्राप्त करने वाले पंचमहाभूतों से निर्मित शरीर और जगत के प्रति शोक नहीं करते हैं।

सत्य, सनातन, शाश्वत, आत्मा में स्थित रहने वाला व्यक्ति संसार के सुख-दुख आदि द्वंद्व से मुक्त होता है। उसे जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करने तथा जो प्राप्त है, उसकी रक्षा करने अर्थात् योग-क्षेम की चिंता नहीं रहती है। जिसे अपने आत्मस्वरूप की अनुभूति हो जाती उस ब्रह्मपरायण मनुष्य को संपूर्ण वेदों का ज्ञान आत्मानुभूति से प्राप्त हो जाता है। ऐसे पुरुष की निश्चयात्मक बुद्धि होती है। यह बुद्धि एकरूप होती है और अनिश्चय वाले पुरुषों की उनकी वासनाओं के अनुसार अनेक प्रकार की बुद्धि होती है।

संसार के विषय वासनाओं में आसक्त भोग और ऐश्वर्य के आकांक्षी पुरुषों की बुद्धि, अनंत इच्छाओं के अनुरूप ही अनंत होती है। ऐसे पुरुष वेदों की शाब्दिक चर्चा करते हुए कहते हैं, कि इसके अतिरिक्त दूसरा ज्ञान है ही नहीं। वे संसार में कामनाओं की पूर्ति और स्वर्ग को श्रेष्ठ मानकर कर्म करने में तत्पर रहते हैं। संसार के भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोगों की बुद्धि अंततः नष्ट हो जाती है। वास्तव में प्रकृति के तीन गुण अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण ही वेदों के विषय हैं। आत्म-परायण पुरुष को इनसे अलग तरह कर प्रकृतिजनित सुख-दुख आदि द्वंद्वों से मुक्त होकर आत्मानुभूति के लिए तत्पर रहना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हे अर्जुन इस कर्मभूमि में व्यक्ति को मात्र कर्म करने का ही अधिकार है, उस कर्म से उत्पन्न होने वाले फलों पर नहीं। किसी कर्मफल का कारण भी व्यक्ति को नहीं बनना चाहिए और कर्म को नहीं करने का आग्रह भी जीवन में नहीं रहना चाहिए।”⁵⁶

मनुष्य के जीवन में प्राप्त होने वाले परिणाम से उत्पन्न किसी भी समस्या के समाधान के लिए कर्म करने की यह तकनीकी पर्याप्त है। किसी भी व्यक्ति को अपनी कामना के अनुरूप प्राप्त परिणाम सुख तथा अपनी इच्छा के प्रतिकूल परिणाम दुख का अनुभव कराती है। सुख की प्राप्ति और दुख से मुक्ति की कामना से युक्त होकर मनुष्य इस कर्मभूमि में कर्म करता है। सुख-दुख से मुक्त होकर सफलता और असफलता के प्रति समान भाव रखकर समत्व भाव के साथ किए जाने वाले कर्म को योग कहते हैं।

यौगिक तकनीक के अभ्यास से योगस्थ रहकर, कर्म करने का कौशल विकसित होता है। समत्वबुद्धि का आश्रय ले कर पुरुष को फल की कामना का त्याग करके, कर्म करना चाहिए। सकाम कर्म करने वाले पुरुष तो दया के पात्र हैं। बुद्धि से युक्त पुरुष इस संसार में ही अपने जीवन में पाप-पुण्य से मुक्त होकर समत्व भाव को साधने का प्रयास करता है, क्योंकि समत्व भाव के साथ कार्य करने की कुशलता को ही योग कहते हैं। मुनि लोग समत्व बुद्धि से फल की आसक्ति को त्याग कर, कर्म करते हुए पुनर्जन्म से मुक्त हो कर, निष्कलंक मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। समत्व योग के अधिगम से बुद्धि जब समाधि में स्थिर होती है, तब अनेक प्रकार के ज्ञान से विचलित बुद्धि का विचलन दूर होता है और साधक के योग की सिद्धि होती है। विकाररहित, शांतचित्त के साथ सत्-चित् आनंदपूर्ण जीवन जीने के कौशल का विकास होता है।

सांख्ययोगी स्थितप्रज्ञ होता है। वह शरीर और संसार की समस्त कामनाओं का त्याग कर आत्मा में स्थित रहकर आत्मा से ही संतुष्ट रहता है। जिसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है वह राग, द्वेष, भय और क्रोध से मुक्त होकर निष्काम भाव से कर्म करते हुए सुख-दुख में सम रहता है। जो राग से मुक्त है, वह आकांक्षा रहित पुरुष जीवन में अनुकूलता की प्राप्ति होने पर उसका स्वागत नहीं करता और जीवन की प्रतिकूलता उसे व्याकुल नहीं करती हैं, क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर होती है। शरीरधारी मनुष्य आहार का परित्याग कर, इंद्रियों को उनके विषयों के प्रति होने वाले राग को शिथिल अवश्य कर सकता है, परंतु विषयों के प्रति मन में रहने वाले रस को नहीं मिटा पाता है। मन की शांति अपने आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अर्थात् परब्रह्म के दर्शन के साथ ही संभव है। मनुष्य अपनी बुद्धि से इंद्रियों को वश में करने का प्रयास तो करता है, पर इंद्रियां अपने संबंधित विषयों के प्रति मन को बलात् पूर्वक हर लेती हैं। जो स्थितप्रज्ञ है, वह अपनी इंद्रियों को वश में करके, आत्मा में स्थित रहता है।

शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से “जो पुरुष विषयों का चिंतन करता है उसके मन में विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना और कामना से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध उत्पन्न हो जाने पर मुढ़ता और मुढ़ता से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप ज्ञान का नाश हो जाता है।”⁵⁷

जिस पुरुष का ज्ञान नष्ट हो जाता है, वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है। जिस पुरुष की बुद्धि स्थिर होती है, वह राग-द्वेष रहित मन को अपने वश में करके इंद्रियों द्वारा

यथोचित विषयों को ग्रहण कर, चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त करता है। प्रसन्नता से उसके सारे दुख नष्ट हो जाते हैं। जिसकी बुद्धि में समत्व भाव नहीं है, उसमें विवेक जागृत नहीं होता है और विवेक के अभाव में भक्ति नहीं होती, भक्ति रहित चित्त में शांति नहीं होती है और जहां शांति नहीं है, वहां सुख कहाँ है ? जिस पुरुष का मन विषयों में भटकने वाली इंद्रियों के पीछे दौड़ता है, उसकी बुद्धि उसी प्रकार हर ली जाती है, जिस प्रकार वायु पानी में चलने वाले नाव को अपने प्रवाह के अनुसार कहीं भी खींचकर ले जाता है। स्थिर बुद्धि पुरुष की इंद्रियां अपने विषयों से मुक्त होकर उसके वश में रहती हैं।

जगत के सभी प्राणी इंद्रियों और उनसे संबंधित विषयों के साथ जागते हैं, पर ज्ञानवान मुनि लोग वहां सोते हैं। जिस समय सभी प्राणी सोते हैं उस समय संयमी पुरुष जागता है। शरीर और संसार के विषय भोगों में संलिप्त और आसक्त मनुष्य अपने आत्मस्वरूप को भूलकर भोगों की कामना को बढ़ाता रहता है, परंतु संयमी पुरुष आत्म जागृति के साथ विषय भोगों के प्रति सोया रहता है। जिन विषयों के भोगों की लालसा के प्रति लोग जागते रहते हैं, ज्ञानवान मुनि उन विषय भोगों के प्रति सोया रहता है, क्योंकि उसे मालूम होता है कि जीवन में शांति, सांसारिक विषयों के भोग की इच्छा के शांत होने से आती है, विषयों के भोग की कामना से नहीं। शांति उस पुरुष को प्राप्त होती है जो अपनी समस्त कामनाओं का परित्याग करके इच्छा, ममता और अहंकार से मुक्त होकर इस संसार में रहता है। आत्म साक्षात्कार के पश्चात स्थितप्रज्ञ पुरुष को यह स्थिति प्राप्त होती है। वह इस जगत में जगत में मोह से मुक्त होकर, मृत्यु के समय ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

5.4.10.2 अष्टांगयोग

“इस संसार का जन्म अज्ञान से हुआ है। संसार में चैतन्य ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। वास्तव में यह जगत स्वप्न के समान है, इसमें सत्य का आभास होता है।”⁵⁸

मन के संकल्प से ही संसार का जन्म होता है। महर्षि वसिष्ठ अपनी भुजाएं उठाकर कहते हैं कि संसार में संकल्प का न होना सबसे कल्याणकारी है। “संसार की वस्तुओं का विचार न करने से मन स्वतः ही नष्ट हो जाता है। मन के नष्ट हो जाने को ही योग कहते हैं।

मनुष्य को इस जगत में योग में स्थित होकर कर्म करना चाहिये और निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिये। बंधन के भय से अकर्म में भी आसक्त नहीं होना चाहिये।⁵⁹ वास्तव में योग से आशय आत्मा के साथ मेल से है। यह तभी संभव है, जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो। योग के अधिगम के लिए महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में यौगिक तकनीक के रूप में अष्टांगयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है। योग के इन अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धियों का विनाश तथा बुद्धि और विवेक की प्राप्ति होती है। यथार्थ ज्ञान का प्रकाश अशुद्धियों के आवरण से ढका होने के कारण, प्रकट नहीं हो पाता है परंतु “अष्टांगयोग के रूप में वर्णित यौगिक तकनीक का अनुपालन करने पर अशुद्धियों का विनाश होने के पश्चात्, बुद्धि और विवेक ज्ञान के प्रकाश से चमक उठते हैं। योग के आठ अंग निम्नलिखित हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।”⁶⁰

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इन सभी अंगों का वर्णन किया है तथा साथ ही साथ इनका पालन करने से होने वाले लाभ का भी विवेचन किया है। योग की साधना में रत साधकों को अपने आत्मिक विकास के लिए योग के इन अंगों का एक साथ निष्पादन करना चाहिए। जिस प्रकार शरीर और शरीर के अंगों का विकास समग्रता के साथ होता है, उसी प्रकार योग के इन अंगों का एक साथ अनुपालन करने से योग की सिद्धि होती है।

5.4.10.2.1 यम

योग के प्रथम अंग यम का इस प्रकार वर्णन किया गया है— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यम के रूप में वर्णित यह पांच प्रकार की शक्तियां मनुष्य के समुदाय के लिए हर देशकाल और परिस्थिति में प्रासंगिक रही हैं। यद्यपि मानव समाज समय एवं परिस्थितियों के अनुसार कुछ विशेष प्रथाओं एवं नियमों द्वारा संचालित होता रहा है, परंतु योग के अंग सार्वभौमिक श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

5.4.10.2.1.1 अहिंसा— अहिंसा के तात्पर्य हिंसा नहीं करने से है, परंतु वर्तमान समय में देश, धर्म, जाति आदि के नाम पर मानव समाज बंटा हुआ है और संघर्ष में संलग्न है। मनुष्य, जो इस जगत का सबसे विवेकशील प्राणी है, उसके द्वारा मूर्खतापूर्ण कार्य का संपादन, खंडित मानसिकता से जन्म लेने वाले विचारहीन हिंसा के परिणामस्वरूप हो रहा है। “हिंसा का जन्म कुंठित और निराशा से ग्रस्त मन के अंतर्गत होता है। इस मन के द्वारा कार्य रूप में हिंसा ही खड़ी होती है, जिसकी व्याप्ति वर्तमान समाज में किसी न

किसी रूप में सर्वत्र दिखाई देती है। मानव समाज में व्याप्त हिंसा मानवता की जड़ को नष्ट कर देती है और मनुष्य विवेकशील प्राणी होने के बजाय, एक हिंसक प्राणी बन जाता है। हिंसा के भाव को त्यागना ही अहिंसा है।”⁶¹

योग के अधिगम से बुद्धि और विवेक के जाग्रत होने के पश्चात अहिंसा में स्थापित होने पर, अहिंसक व्यक्ति की उपस्थिति में दूसरे प्राणी भी हिंसा का परित्याग कर देते हैं। हिंसा के परित्याग से ही, विश्व-बंधुत्व और विश्व-शांति की संकल्पना को साकार किया जा सकता है। अहिंसक दृष्टिकोण में विश्व-ग्राम एवं वसुधैव-कुटुंबकम् की भावना का विकास होता है और इस भाव के साथ ही एक ऐसे विकसित मनुष्य का जन्म होता है। ऐसा मनुष्य लोककल्याणकारी भावना से ओत-प्रोत होकर, जगत और जगत के समस्त प्राणियों के हित में निरंतर लगा रहता है।

5.4.10.2.1.2 सत्य— दृश्य संसार तथा शरीर की परिवर्तनशीलता और द्रष्टा की अपरिवर्तनशीलता का ज्ञान ही सत्य है। परिवर्तन, दृश्य जगत का धर्म है और अपरिवर्तन द्रष्टा का धर्म है। मन, भूत और भविष्य के विचारों के साथ खड़ा रहता है। निर्विचार की अवस्था अमन की अवस्था है, जो वर्तमान क्षण में रहने से प्राप्त होती है। अपरिवर्तनशील द्रष्टा के स्वरूप का साक्षात्कार वर्तमान क्षण में होता है और द्रष्टा के अपने स्वरूप में स्थित होने को ही योग कहते हैं।

“सत्य का अर्थ केवल सत्य बोलना ही नहीं, बल्कि अपने शाश्वत, सत्य, सनातन, स्वरूप के प्रति पूर्ण निष्ठा रखना है। साधक जब सत्य में स्थापित होता है, तो उसके द्वारा किए गए सारे कार्य, सत्य से प्रतिष्ठित होते हैं। सत्य चेतना का गुण है और साधक जब चेतना में स्थित होता है तब निर्भयता को प्राप्त होकर सत्य के साथ जीता हुआ संसार में विचरण करता है क्योंकि अंततः सत्य की ही जीत होती है— सत्यमेव—जयते। सत्य के प्रति समर्पित व्यक्ति को जीवन में सरलतापूर्वक सफलता की प्राप्ति होती है।”⁶²

5.4.10.2.1.3 अस्तेय— अस्तेय से आशय चोरी नहीं करने से है। यह तीसरा यम है। अहिंसा और सत्य का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात साधक को इस संसार में किसी से कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह जाती है। किसी को देखकर उससे कुछ नहीं चाहने की इच्छा को अस्तेय कहा जा सकता है। “अपने से कुछ अच्छा या अधिक, दूसरे के पास दिखाई देने पर मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है और अस्तेय ईर्ष्या भाव को नष्ट करता है। इस

संसार में हम उसी चीज को पाना चाहते हैं जो हमारे पास नहीं है और दूसरों के पास दिखाई देता है।”⁶³

प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की तुलना में ही अपने को सुखी या दुखी महसूस करता है। अपने से सुखी व्यक्ति को देखकर, हम दुखी हो जाते हैं और अपने से दुखी व्यक्ति को देखकर, हम सुख का अनुभव करते हैं। जब व्यक्ति को सत्य का दर्शन होता है तब वह सुख-दुख से ऊपर उठकर अचौर्य भाव में स्थित हो जाता है।

इच्छाओं के साथ जीने पर चोरी का भाव और दूसरे से किसी भी प्रकार की कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं करने की इच्छा के साथ, अचौर्य भाव की प्राप्ति होती है। जब साधक को सत्य के प्रति निष्ठा होती है, तब अस्तेय के प्रभाव से उसे सारी संपत्ति बिना प्रयास के ही प्राप्त हो जाती है। चोरी के भाव से व्यक्ति गरीब बन जाता है और अस्तेय भाव के साथ अमीर बन जाता है। अस्तेय का यह भाव व्यक्ति को वास्तविक धन संपदा से भरपूर कर देता है। उसे कुछ प्राप्त करने की इच्छा शेष नहीं रह जाती है और जिसकी इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं वह पूर्णकाम व्यक्ति ऐश्वर्य से युक्त होता है। अस्तेय व्यक्ति को ऐश्वर्यशाली बनाता है।

5.4.10.2.1.4 ब्रह्मचर्य— “सामान्यतया ब्रह्मचर्य से आशय अविवाहित रहने से माना जाता है, परंतु वास्तव में देखा जाए तो ब्रह्म का अर्थ है अनंतता और चर्या का अर्थ है गमन अर्थात् अनंतता की ओर गमन करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।”⁶⁴

मनुष्य की चेतना का विस्तार अनंत है और यह चेतना निरंतर उसे अनंतता की ओर प्रेरित करती रहती है। योग का उद्देश्य इसी चेतना में स्थित होना है। मनुष्य के जीवन में चेतना की अनुभूति जितनी सघन होती जाती है, वह शरीर और संसार के भार से निर्भर हो जाता है और उसे शरीर की उपस्थिति का एहसास उतना ही कम होता है। ब्रह्मचर्य में ऐसी स्थिति की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य में स्थापित होने से जीवन में असीम शक्ति का संचार होता है, जिसमें अपने वास्तविक स्वरूप चैतन्य ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। शरीर से परे उस ब्रह्म-स्वरूप का बोध होने से व्यक्ति, ब्रह्म की ओर गमन करने लगता है, यही ब्रह्मचर्य है।

5.4.10.2.1.5 अपरिग्रह— अपरिग्रह से तात्पर्य संचय करने की प्रवृत्ति का मिट जाना है। शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से निरंतर अपने बारे में सोचने के परिणामस्वरूप व्यक्ति में संग्रह का भाव उत्पन्न होता है। शरीर और संसार की नश्वरता का ज्ञान होने के

पश्चात् भी मनुष्य एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो अपने संग्रही प्रवृत्ति के कारण निरंतर भयभीत रहता है। भयभीत मन के कारण ही संचय करने की प्रवृत्ति का जन्म होता है। कामनाओं को पूरा करने में लगा हुआ मन, अनंत “कामनाओं का शिकार होकर परग्रही वृत्ति वाला हो जाता है। अपरिग्रह का अनुपालन करने से निष्काम भाव का आविर्भाव होता है, परिणामस्वरूप सुख-दुख से मुक्त होकर, कर्म करने का कौशल व्यक्ति में विकसित होता है। योग के अधिगम से निष्काम कर्म करने की कुशलता प्राप्त होती है।”⁶⁵

जीवन की अनंतता और निरंतरता का बोध ब्रह्म-स्वरूप के दर्शन के पश्चात् ही होता है। व्यक्ति को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने के बाद अपरिग्रह सिद्ध हो जाने पर अपने पिछले जन्मों का ज्ञान हो जाता है, परिणामस्वरूप वह अपने को शरीर से परे, चैतन्य ब्रह्म के रूप में देखता है।

इस प्रकार यम की व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि ने इन पांच महाव्रतों का पालन करने को कहा है। इस संसार की अभिव्यक्ति नाम और रूप के द्वारा होती है, इसलिए इंद्रियों और अंतःकरण से प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले विषयों को नाम और रूप के द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति जीवन में सहज रूप से दिखाई देती है। इस संसार में जन्म लेने वाला व्यक्ति शब्द और दृश्य के बिना अपने स्वरूप को न तो जानता है और न ही किसी को पहचान पाता है, जबकि शब्द और दृश्य के इस संसार से तृष्णा रहित हुए बिना अपने स्वरूप का बोध हो पाना संभव नहीं है। चित्त की समस्त वृत्तियां शब्द और दृश्य के रूप में ही तो व्यक्त होती हैं और योग का अधिगम चित्तवृत्तियों के निरोध से होता है।

शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले विषय-वस्तुओं के समस्त भोगों से चित्त जब पूर्णरूपेण तृष्णा से रहित हो जाता है, तब उसे वशीकार नामक अवस्था की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में लोक-परलोक में किसी भी तरह की इच्छा को पूरा करने की कामना का सर्वथा नाश हो जाता है। समस्त कामनाओं से मुक्त चित्त की इस अवस्था में वैराग्य उत्पन्न होता है।

सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण से निर्मित इस दृश्य जगत में संपूर्ण कामनाओं से रहित होकर, अपने द्रष्टा स्वरूप का ज्ञान हो जाने के पश्चात् परम वैराग्य की प्राप्ति होती है और मन पूरी तरह से योग के प्रथम अंग यम का अनुपालन करने में संलग्न हो जाता है। मनुष्य समुदाय में सुख, शांति और समृद्धि की प्राप्ति यम के पालन से ही संभव है।

5.4.10.2.2 नियम

“शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शुद्ध करने के लिए महर्षि पतंजलि ने योग के दूसरे अंग नियम का विस्तार से वर्णन किया है, जिसके अंतर्गत— शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आते हैं।”⁶⁶

5.4.10.2.2.1 शौच— शौच से तात्पर्य शरीर और मन की पवित्रता से है। स्वयं को बाहर और भीतर अर्थात् शरीर और मन से स्वच्छ रखना ही शौच कहलाता है। “सुख—दुख, पुण्य—पाप के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के भाव से अंतःकरण को पवित्र बनाया जा सकता है। बाहर और भीतर की सुचिता से मन तनाव से मुक्त हो जाता है और तनावमुक्त मन में ही प्रसन्नता और तृप्ति का भाव विकसित होता है।”⁶⁷ मनुष्य के जीवन में संसार और शरीर के प्रति जो आकर्षण है, वह शौच की साधना करने से कम होता है। शरीर की इंद्रियों विशेष रूप से जननेंद्रिय के प्रति आकर्षण कम हो जाता है।

शरीर का वास्तविक रूप से ज्ञान होने के पश्चात् त्वचा के नीचे रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं तंत्रिकाओं का दर्शन होने पर शरीर के प्रति यौन आकर्षण का सर्वथा अभाव हो जाता है। शरीर के प्रति अज्ञानता के कारण ही मनुष्य में अपराधी और हिंसक प्रवृत्तियों का विकास होता है। यौन समस्या से जुड़े अपराधों के घटित होने का एकमात्र कारण शरीर के प्रति शुद्ध जानकारी का अभाव है।

शौच के स्थापित होने पर मन सात्विक विचार करने लगता है, परिणामस्वरूप शांति का अनुभव होता है। शौच से बुद्धि शुद्ध तथा मन की एकाग्रता में वृद्धि होती है। साथ ही साथ साधक अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मदर्शन को उपलब्ध होता है। बाहर के प्राणी—पदार्थों से मन का संपर्क हटा लेने के बाद, मन स्थिर और शांत हो जाता है। बाह्य शुद्धि के पश्चात् साधक का अपने अंगों के प्रति वैराग्य और दूसरे के अंगों के प्रति किसी भी प्रकार के संसर्ग की इच्छा समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में संसार के बाहरी पदार्थों का आकर्षण नहीं रह जाता है। इसके साथ ही साथ आंतरिक शुद्धि से मन में प्रसन्नता का भाव निरंतर बना रहता है। इंद्रियां अपने वश में रहती हैं और मन में आत्मसाक्षात्कार की योग्यता का विकास होता है। मन की यह स्थिति शौच के प्रभाव से उपलब्ध होती है।

5.4.10.2.2.2 संतोष— शौच की सिद्धि से जब सभी इंद्रियां मन के वश में हो जाती हैं और बाहरी विषयों की चाह सर्वथा समाप्त हो जाती है, तब मन की इच्छा रहित अवस्था को संतोष कहते हैं, जिसके समान संसार में दूसरा कोई सुख नहीं है। जिन लोगों को ऐसा लगता है कि सुख की प्राप्ति, इंद्रियों का उनसे संबंधित विषयों के प्रति चाह उत्पन्न होना और उस चाह के पूर्ण होने के पश्चात होती है, यह मात्र भ्रम है, क्योंकि चाह कभी पूरी होती नहीं है। जब मन पूर्ण रूप से चाह रहित हो जाता है तब अनंत सुख की प्राप्ति होती है। “इस अनंत सुख की सिद्धि संतोष से उपलब्ध होती है, न कि इच्छाओं को पूरा करने करने से।”⁶⁸ इच्छाओं को पूरा करने में लगे हुए लोगों की इच्छाएं और बलवती होती जाती हैं और अंततः मृत्यु, अधूरी इच्छाओं के साथ ही होती है, इसलिए इच्छाओं से रहित होने अर्थात् संतोष में सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

5.4.10.2.2.3 तप— अपने स्वधर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म के पालन में शारीरिक और मानसिक विचलन से मुक्त होकर, आने वाले कष्टों को सहर्ष स्वीकार करना तप है। राग-द्वेष से मुक्त मन द्वारा कर्तव्य-कर्म का निर्वाह करना ही तप है। व्रत, उपवास आदि इसी के अंतर्गत आते हैं। “तप के प्रभाव से जब अशुद्धियों का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है, तब शरीर और इंद्रियों की सिद्धि होती है। इसकी साधना से योगी का शरीर स्वच्छ, स्वस्थ और हलका होकर स्व में स्थित हो जाता है।”⁶⁹ स्व में स्थित होना ही स्वास्थ्य कहलाता है। बाहर के किसी भी विषय-वस्तु का प्रभाव जब शरीर और मन को विचलित नहीं करता है तब तप की साधना होती है, जिससे शरीर और इंद्रियां शुद्ध होती हैं।

5.4.10.2.2.4 स्वाध्याय— अपने जीवन में कर्तव्य और अकर्तव्य के बोध का विकास करने वाले अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं। “इसकी साधना से साधक का विवेक जागृत होता है, परिणामस्वरूप इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है। सद्शास्त्रों का अध्ययन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, मंत्र, जप आदि स्वाध्याय के अंतर्गत ही आते हैं।”⁷⁰ स्वाध्याय की साधना करने से अपने आत्मस्वरूप का दर्शन होता है।

5.4.10.2.2.5 ईश्वर-प्राणिधान— “ईश्वर वह विशेष पुरुष है, जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सर्वथा मुक्त है। ऐसे विशेष पुरुष की शरणागति से योग की साधना में आने वाली वाली बाधाओं का नाश होता है और समाधि की सिद्धि होती है।”⁷¹ अष्टांगयोग का परम लक्ष्य समाधि की सिद्धि है। योग का अधिगम ईश्वर के साहचर्य से सहजता से सिद्ध होता है। मनुष्य देख करके, सुन करके, पढ़ करके, सोच-विचार करके सीखता है। योग के

अधिगम का उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार करना है और आत्मसाक्षात्कार तब होता है जब चित्तवृत्तियों का निरोध हो और दृश्य जगत का द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो।

ईश्वर वह विशेष पुरुष है जो चित्त की वृत्तियों से सर्वथा मुक्त है। ईश्वर प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहित गुणातीत है। ईश्वर के साहचर्य से योग के साधक को अपने स्वरूप का अधिगम सहजता से हो सकता है। ईश्वर के स्वरूप से अभिप्रेरित होकर व्यक्ति अपने स्वरूप का अधिगम कर सकता है, इसलिए ईश्वर की शरणागति से योग के मार्ग में आने वाली बाधाओं से मुक्ति के साथ ही साथ अपने आत्मस्वरूप का अधिगम हो जाता है।

योग के प्रथम और द्वितीय अंग यम और नियम के पालन में वितर्क अर्थात् विरोधी भाव उत्पन्न होने पर योग के साधक को प्रतिपक्षी भाव का चिंतन करना चाहिए। प्रतिपक्षी भाव से तात्पर्य— “हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि भावों का विचार करने से है। हिंसा आदि भाव को ही वितर्क कहते हैं। वितर्क की प्रक्रिया तीन प्रकार से संपन्न होती है— स्वयं करके, दूसरों से करवाकर और दूसरों द्वारा किए जाने का अनुमोदन करके। इस वितर्क का कारण मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाला लोभ, क्रोध और मोह है। इन्हीं से प्रेरित होकर मन में वितर्क के विचार उत्पन्न होते हैं। यह वितर्क विचार व्यक्ति को दुख और अज्ञानता के रूप में अनंत फल देने वाले हैं। लोभ, क्रोध और मोह में कोई बड़ा-छोटा नहीं है। इस प्रकार के विचार का निरंतर चिंतन करते रहना ही प्रतिपक्ष की भावना है।”⁷²

5.4.10.2.3 आसन

आसन को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है कि स्थिरता से सुखपूर्वक बैठने को ही आसन कहते हैं और इस आसन की सिद्धि प्रयत्न की शिथिलता और अनंत परमात्मा में मन को स्थिर करने से होती है। आसन की सिद्धि से शरीर पर शीत, उष्ण आदि द्वंद्वों का आघात नहीं होता है।

हठयोग के ग्रंथों में अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन मिलता है। हठयोगियों के अनुसार चौरासी लाख योनियों के अनुसार चौरासी लाख आसन होते हैं। कुछ हठयोगियों का मानना है कि चौरासी आसन हैं। हठयोग के कुछ ग्रंथों में बत्तीस आसन और कुछ ग्रंथों में पंद्रह आसन का वर्णन मिलता है। हठयोग के ग्रंथों में वर्णित आसन शरीर को स्वस्थ, हल्का और योग की साधना में सहायता करते हैं।

महर्षि पतंजलि प्रणीत योगसूत्र में वर्णित आसन हठयोग के आसन से अलग प्रकार का है, इसमें आसन की सिद्धि प्रयत्न की शिथिलता और अनंत में चित्त की एकरूपता से होती है। यहां अनंत से आशय आकाश आदि से है। आसन से तात्पर्य लंबे समय तक स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बिना किसी कष्ट के बैठना है। शरीर और मन की स्थिरता के परिणामस्वरूप शरीर का अध्यास छूटने के साथ ही साथ मन विषयों से रहित हो जाता है। आसन सिद्ध होने के पश्चात योग के साधक को शरीर और मन के विचलन से मुक्ति मिलती है और भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि का प्रभाव शरीर और मन पर नहीं पड़ता है।

5.4.10.2.4 प्राणायाम

आसन की सिद्धि हो जाने के पश्चात श्वास—प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम कहलाता है। साधक जब यम नियम का पालन करते हुए आसन को सिद्ध कर लेता है, तत्पश्चात पूरक और रेचक के माध्यम से बाहर से अंदर प्रविष्ट होने वाली प्राणवायु और अंदर से बाहर आने वाली प्राणवायु के रुक जाने की प्रक्रिया को, प्राणायाम कहा जाता है। प्राणवायु की गति को रेचक, पूरक और कुंभक के द्वारा बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर रोकने की प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं। यम और नियम की तरह आसन योग का स्वतंत्र अंग न होकर प्राणायाम को सिद्ध करने का साधन है, इसलिए आसन के सिद्ध होने पर श्वास की गति रुकने की बात की गई है।

“प्राणायाम बाह्यवृत्ति, अभ्यांतरवृत्ति और स्तंभवृत्ति के रूप में तीन प्रकार का होता है। देशकाल और संख्या की दृष्टि से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। चौथा प्राणायाम बाहर और भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने आप सिद्ध हो जाता है।”⁷³

बाह्यवृत्ति प्राणायाम को ही रेचक कहते हैं, इसके अंतर्गत प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालकर सुखपूर्वक रोकना होता है। इस प्राणायाम का निरंतर अभ्यास करने से अधिक समय तक रुके रहने और सूक्ष्म होने की प्रक्रिया स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

अभ्यांतरवृत्ति प्राणायाम को पूरक प्राणायाम भी कहते हैं, इसके अंतर्गत शरीर के भीतर लिए आने वाले प्राणवायु को सुखपूर्वक रोकना होता है। साथ ही साथ यह भी देखना होता है कि किस स्थान पर प्राणवायु रुकता है। निरंतर अभ्यास के द्वारा इसे दीर्घ और सूक्ष्म किया जा सकता है।

स्तंभवृत्ति प्राणायाम को कुंभक प्राणायाम भी कहते हैं, इसके अंतर्गत शरीर से बाहर जाने वाली प्राणवायु अर्थात् रेचक और शरीर के भीतर जाने वाली प्राणवायु अर्थात् पूरक को

बिना प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से जहां प्राणवायु हो वही उसकी गति को सुखपूर्वक स्तंभित कर देना होता है और यह देखना होता है कि किस स्थान पर और कितनी देर तक प्राणवायु रोका जा सकता है। निरंतर अभ्यास के द्वारा इस प्राणायाम को दीर्घ और सूक्ष्म किया जा सकता है।

चौथे प्राणायाम की सिद्धि बाहर और भीतर के विषयों का त्याग कर देने से स्वयंमेव होती है। इसके अंतर्गत रेचक, पूरक और कुंभक के ज्ञान के बिना ही प्राणवायु को देशकाल और संख्या से मुक्त होकर रोकना होता है। यह प्राणायाम अन्य तीन प्रकार के प्राणायाम से सर्वथा भिन्न है। मन स्वभाव से चंचल है। जब एकाग्रता के अभ्यास से इसकी चंचलता शांत हो जाती है, तब अपने आप प्राणों की गति रुकने से इस चौथे प्रकार के प्राणायाम की सिद्धि होती है। इसे बिना प्रयास के सिद्ध होने वाला राजयोग प्राणायाम भी कहते हैं। प्राणायाम के अभ्यास से चित्त पर कर्म संस्कार और अविद्या आदि के कारण जो ज्ञान का आवरण है, वह क्षीण होता है तथा मन को किसी एक देश में ठहराने की धारणा की योग्यता विकसित होती है।

योग के अधिगम में प्राणायाम के अभ्यास का महत्वपूर्ण योगदान है, क्योंकि जब चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् ज्ञान के प्रकाश का आवरण क्षीण होता है और मन को बाहर या भीतर किसी भी एक देश में एकाग्र करने की योग्यता का विकास होता है, तब आत्मप्रकाश का साक्षात्कार होता है। व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान चित्त की वृत्तियों के संस्कारों के नष्ट होने के पश्चात् ही होता है। आत्मस्वरूप के ज्ञान के साथ ही मनुष्य इस जगत का सबसे विवेकशील प्राणी बन पाता है। आत्मविवेक के आधार पर इस जगत और जगत के जीवों में एकात्मता का दर्शन होता है। प्राणायाम के अभ्यास से एकात्मता के ज्ञान का आवरण क्षीण होता है और मन में आत्म-धारणा की योग्यता का विकास होता है।

5.4.10.2.5 प्रत्याहार

यम, नियम, आसन और प्राणायाम के अभ्यास से शरीर और इंद्रियों की शुद्धि हो जाने के पश्चात्, इंद्रियों का अपने संबंधित विषयों के राग-द्वेष से रहित अर्थात् विषयों के साथ संबंध नहीं होने पर, इंद्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार से तात्पर्य इंद्रियों का अपने विषयों से विमुख होना है, इसके अंतर्गत इंद्रियों की

अपने संबंधित विषयों के प्रति बहिर्मुखी प्रवृत्ति, उलट कर अंतर्मुखी हो जाती है, जिसके कारण इसे इंद्रियों का प्रत्याहार कहते हैं।

योग की साधना में साधक जब इंद्रियों के विषयों का त्याग करके, चित्त को आत्मतत्त्व की ओर लगाता है, तब चित्त की बाह्यवृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं और समस्त इंद्रियां, निरुद्ध चित्त के अधीन होकर काम करती हैं, परंतु प्रत्याहार के अंतर्गत इंद्रियां चित्त के स्वरूप की नकल करती हैं, न कि चित्त के समान आत्मस्वरूप के अभिमुख होती हैं क्योंकि इंद्रियां स्वभाव से बहिर्मुखी होती हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम की साधना से जब चित्त बाहर के विषयों से विरक्त होकर, अपने स्वरूप में समाहित होने लगता है, तब इंद्रियां चित्त का अनुकरण करके अंतर्मुखी होने लगती हैं। इस प्रक्रिया को ही इंद्रियों का प्रत्याहार कहा जाता है।

“शरीर और इंद्रियों के वशीभूत होकर सामान्य लोग, अपने यथार्थ स्वरूप की विस्मृति में जीवन व्यतीत कर देते हैं। योग के अधिगम का उद्देश्य अपने आत्मस्वरूप की स्मृति है। योग के अंगों का क्रमशः पालन करने से आत्म साक्षात्कार होता है। अपने इंद्रियों को वश में करने का सबसे उत्कृष्ट साधन प्रत्याहार है।”⁷⁴

5.4.10.2.6 धारणा

चित्त को किसी विशेष स्थान में बांधने को धारणा कहते हैं। इंद्रियों के द्वारा उनसे संबंधित विषयों को चित्तवृत्ति के रूप में चित्त ग्रहण करता है। योग की साधना में प्रत्याहार द्वारा, जब इंद्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति उलट कर अंतर्मुखी हो जाती है, तब भी चित्त को जिस देश में बांधा जाता है उसे चित्तवृत्ति के रूप में ही ग्रहण करता है। चित्त विभिन्न इंद्रियों के माध्यम से विभिन्न विषयों की वृत्ति से आवृत रहता है। जब अन्य विषयों से चित्त को हटाकर, किसी एक विषय जिस पर ध्यान किया जाता हो, उस पर चित्त को वृत्ति मात्र से ठहराया जाता है, तब उसे धारणा कहते हैं।

धारणा मन को एकाग्र करने तथा किसी एक विषय पर सीमित करने की एक विधि है। सामान्यतया मन में असंख्य विचारों का प्रादुर्भाव होता रहता है। व्यक्ति जब किसी एक विषय पर चित्त को वृत्ति मात्र से एकाग्र करता है तब योग के इस अंग की सिद्धि होती है। इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि के द्वारा जब चित्त स्थिर होता है तब धारणा की सिद्धि होती है।

5.4.10.2.7 ध्यान

“जिस विषय में धारणा की गई है उसी में वृत्ति का एक सा बने रहने को ध्यान कहते हैं।”⁷⁵

ध्यान से तात्पर्य यह है कि जिस विषय पर ध्यान किया जाता है, उसी विषय पर बिना किसी अन्य वृत्ति के चित्त का सतत् एक सा बने रहने से है। जिस विषय पर धारणा की जाती है, उसमें बिना किसी बाधा के चेतना के सतत् प्रवाह से अविद्या से जन्म लेने वाले अहंकार का विसर्जन हो जाता है। ध्यान के अभ्यास से व्यष्टि चेतना, अहंकार के मिट जाने से समष्टि चेतना में परिणित हो जाती है।

5.4.10.2.8 समाधि

“ध्यान ही समाधि तब बन जाता है, जब चित्त के स्वयं का स्वरूप शून्य हो जाता है और ध्यान में केवल ध्यान किए जाने वाले विषय की प्रतीति ही शेष रह जाती है, तब ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।”⁷⁶

योग की साधना में जब ध्यान किये जाने वाले विषय के साथ मन एकरूप हो जाता है, तब समाधि घटित होती है। मन का विषय के साथ एकरूपता हो जाने के कारण मन मिट जाता है और ध्यान ही शेष बचता है। समाधि में जिसका ध्यान किया जाता है, न तो वह विषय बचता है और न ही ध्यान करने वाला ही बचता है। मन के मिटते ही यह दोनों ही ध्यान का विषय और ध्यान करने वाला मिट जाते हैं, तब समाधि घटित होती है। योग का अधिगम योगसूत्र में वर्णित अष्टांगयोग की यौगिक तकनीक के अभ्यास से होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि के अभ्यास से योग के परम लक्ष्य समाधि की सिद्धि होती है।

5.4.10.3 भोग की इच्छा का त्याग, सत्संग, विवेक और आत्मबोध से मनोनिग्रह

अविद्या के कारण, भोग के विषयों की ओर उन्मुख मन को जिसने जीत लिया, उस श्रेष्ठ पुरुष को विजय की प्राप्ति होती है। जीवन में विभिन्न प्रकार के उपद्रवों का कारण सांसारिक दुख है और इस दुख का निवारण, अपने मन को वश में करके किया जा सकता है। महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि “इस जगत में भोग की इच्छा ही बंधन है और भोग की इच्छाओं को त्याग देना मोक्ष कहलाता है। संसार के विषय वासनाओं से आवृत बुद्धि, विभिन्न प्रकार के दोषों की जन्मदात्री होती है। राग और द्वेष के विकार से मुक्त और चंचलता से रहित बुद्धि, परम शांति को उपलब्ध हो जाती है। “शुभ और अशुभ

दो प्रकार की वासनाएं होती हैं। शुभ वासनाओं से प्रेरित होकर योग का साधक अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। निज स्वरूप की प्राप्ति के लिये साधक को प्रयत्नपूर्वक अपनी अशुभ वासनाओं को जीत लेना चाहिये।⁷⁷

जीवन में शुभ भावों का अनुसंधान करने से मन शुद्ध एवं प्रसन्न हो जाता है। शुभ बुद्धि, दोष से रहित शुभ विचार एवं उत्तम गुणों को प्रकट करने वाली होती है। शुभ बुद्धि से धीरे-धीरे मिथ्याज्ञान शांत होकर, विवेक का उदय होता है। ऐसा होने पर मन निष्काम होकर उपद्रवशून्य हो जाता है। चित्त की चंचलता से जन्म लेने वाले काम, क्रोध, शोक, मोह, भय आदि सांसारिक रोग शांत हो जाते हैं। शास्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने में उत्पन्न होने वाला संशय दूर हो जाता है और दृश्य जगत् को देखने की उत्कंठा विलुप्त हो जाती है। भोग की इच्छा के त्याग से मन वासना-शून्य और मोहरहित हो जाता है, अपेक्षा, आकांक्षा, परनिंदा, चिंता आदि का उसके जीवन में अभाव हो जाता है, परिणामस्वरूप व्यक्ति अनासक्त और शोक से रहित हो जाता है।

शरीर और संसार जड़ है, परंतु आत्मा न तो शरीर है और न ही संसारी पुरुष है। आत्मा, आकाश के जैसा शुद्ध और निर्लेप है। जीवात्मा अपने मन में संकल्प-विकल्प और वासनाओं से स्वयं के बंधन के लिए जगत्-जंजाल की रचना उसी प्रकार कर देता है, जिस प्रकार रेशम का कीड़ा स्वयं के ही बंधन के लिए, रेशमी जाल रूपी तंतु निर्मित कर लेता है। जीवात्मा अपने मन के वासना के अनुरूप शरीर को धारण करता है। शुभ वासनाओं से मनुष्य का चित्त महान व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

वास्तव में इस मायावी जगत् में न तो बंधन है और न ही मोक्ष है, न बंधन की सत्ता है और न ही बंधन का अभाव है। माया इंद्रजाल की तरह झूठ में ही प्रकट हुई है। परमार्थ दृष्टि से बंधन और मोक्ष से रहित ब्रह्म की ही सत्ता है। यह दृश्य जगत् परमात्मा का ही स्वरूप है। इस ज्ञान के बिना दृश्य प्रपंच दुखदाई होता है और यथार्थ ज्ञान के साथ यह दृश्य जगत् मोक्ष प्रदान करने वाला हो जाता है। परमात्मा का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् शरीर में बने रहने या शरीर से बिछड़ने का सुख-दुख, ज्ञानी पुरुष को नहीं होता है।

इस देह नगर का स्वामी जीवात्मा, जब वासना से रहित होकर शांत चित्त होता है, तब सर्वव्यापी, शून्य और सबका स्वामी हो जाता है। सागर में उठने वाली तरंगों में जल से भिन्नता और अनेकता का बोध अज्ञान के कारण होता है। एकत्वबोध से तत्त्वज्ञान की सिद्धि

होती है, जिसके परिणाम स्वरूप जल ही तरंग है इस प्रकार के परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। “परमात्म-दृष्टि से युक्त पुरुष, जन्म और मृत्यु के भवसागर से मुक्त होकर तापरहित देहरूपी नगर में अपने सहज स्वाभाविक आनंदस्वरूप में स्थित हो जाता है।”⁷⁸

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखण्ड पृ.सं. 29।
2. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर पृ.स. 161।
3. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी पृ.स. 20।
4. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी पृ.स. 12।
5. आत्रेय, डॉ. भीखन लाल (1957) योगवासिष्ठ और उनके सिद्धांत तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस पृ. स. 40 से 44।
6. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी पृ.स. 21-23।
7. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखण्ड पृ.सं. 31।
8. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखण्ड पृ.सं. 33।
9. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर पृ.स. 64।
10. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी पृ.स. 42-43।
11. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखण्ड पृ.सं. 36।
12. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर पृ.स. 3।
13. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी पृ.स. 2।
14. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर पृ.स. 21।
15. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी पृ.स. 58-59।
16. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर पृ.स. 186।
17. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर सर्ग-118 पृ.स. 167।
18. शर्मा, पं. श्रीराम, शर्मा भगवती देवी (2015) 108 उपनिषद् (सरल हिन्दी भावार्थ सहित) ज्ञानखण्ड, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 281003, 1/4/10 बृहदारण्यक उपनिषद् पृ.स. 254।

19. शर्मा, पं. श्रीराम, शर्मा भगवती देवी (2015) 108 उपनिषद् (सरल हिन्दी भावार्थ सहित) ज्ञानखण्ड, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 281003, 3/1/3 ऐतरेय उपनिषद् पृ.स. 49।
20. शर्मा, पं. श्रीराम, शर्मा भगवती देवी (2015) 108 उपनिषद् (सरल हिन्दी भावार्थ सहित) ज्ञानखण्ड, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 281003, 1/2 माण्डुक्य उपनिषद् पृ.स. 361।
21. शर्मा, पं. श्रीराम, शर्मा भगवती देवी (2015) 108 उपनिषद् (सरल हिन्दी भावार्थ सहित) ज्ञानखण्ड, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 281003, 6/8/7 छान्दोग्य उपनिषद् पृ.स. 164।
22. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग 118 पृ.स. 167।
23. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.स. 99-100।
24. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर पृ.स. 167।
25. गोयंदका जयदयाल (सं. 2072) श्रीमद्भगवद्गीता गीता प्रेस गोरखपुर 5/24।
26. गोयंदका हरिकृष्णदास (सं. 2071) ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर पृ.स. 279।
27. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.स. 103।
28. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखण्ड पृ.सं. 199-200।
29. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.स. 107।
30. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.स. 35-36।
31. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, सर्ग 15, पृ.स. 42।
32. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 17, पृ.स. 43।
33. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखण्ड पृ.सं. 27।
34. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखण्ड पृ.सं. 29।
35. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 35।

36. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 2।
37. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 5।
38. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 6।
39. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 7।
40. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 8।
41. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 1, पृ.स. 65।
42. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 141।
43. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 153।
44. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 160।
45. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 16, पृ.स. 83।
46. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 16, मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण, पृ.स. 83।
47. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 2-3, उत्पत्ति प्रकरण, पृ.स. 91।
48. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी, पृ.स. 217।
49. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 6, उत्पत्ति प्रकरण, पृ.स. 95।
50. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.स. 96।
51. आत्रेय, डॉ. भीखन लाल (1957) योगवासिष्ठ और उनके सिद्धांत तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस पृ.स. 453-54।
52. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.स. 136।
53. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 69, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध, पृ.स. 382।

54. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 2/22, पृष्ठ सं. 133।
55. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/29 पृष्ठ सं. 79।
56. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/47 पृष्ठ सं. 528।
57. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 2/62-63, पृष्ठ सं. 153।
58. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.सं. 148।
59. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.सं. 137।
60. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2/28,29 पृ.सं. 53-54।
61. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore पृ.सं. 156।
62. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 370।
63. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore पृ.सं. 161।
64. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore पृ.सं. 161।
65. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 372।
66. दौनेरिया डॉ० साधना (2014) पातंजल योगसार मधूलिका प्रकाशन, इलाहाबाद 2/32 पृ.सं. 141
67. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 3/54 पृ.सं. 163।
68. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/42 पृ.सं. 115।
69. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 4/43 पृ.सं. 101।
70. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/42 पृ.सं. 115।

71. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/29 पृ.सं. 216।
72. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 2/34 पृ.सं. 94।
73. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2/50,51 पृ.सं. 122-24।
74. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार टस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2/55 पृ.सं. 66।
75. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001, 3/2 पृ.सं. 110।
76. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/3 पृ.सं. 80।
77. स्वामी तेजोमयानन्द (2016) योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र पृ.सं. 35।
78. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2068), गीताप्रेस गोरखपुर, सर्ग 35, स्थिति प्रकरण, पृ.सं. 207।

अध्याय—6

श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक

6.1 गीता का परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता के रचना का श्रेय महाभारत के पौराणिक संकलनकर्ता श्री व्यास जी को दिया जाता है। महाभारत के भीष्म पर्व के 23—40 अध्याय गीता के 18 अध्याय के रूप में वर्णित है। “गीता का मूल रचना ईसवी—पूर्व दो सौ में लिखी गई थी। वर्तमान रूप में वर्णित गीता, ईशा की दूसरी शताब्दी में वेदान्त के अनुयायी किसी विद्वान द्वारा किया गया है— ऐसी मान्यता है।”¹

श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र के बराबर की मान्यता, हिन्दू धर्म ग्रंथों में प्राप्त है। इन तीनों ग्रंथों को मिलाकर प्रस्थानत्रयी कहते हैं। उपनिषदों और वेदान्त की तुलना में अपेक्षाकृत, सुसंगत दृष्टिकोण गीता में प्रस्तुत किया गया है। “गीता ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, नीतिशास्त्र, अधिविद्या का विज्ञान और ब्रह्म के साथ संयोग की कला प्रस्तुत करता है।”²

श्रीमद्भगवद्गीता का प्राकट्य ऐसी परिस्थितियों में हुआ जब ज्ञान, कर्म को प्रभावित नहीं कर पा रहा था। ज्ञान और कर्म का अंतर्विरोध जीवन में पलायन की ओर ले जाता है। अर्जुन भी इसी मानसिक ऊहापोह की स्थिति में अपने कर्तव्य पथ से विचलित हो रहा था। ऐसी स्थिति में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गीता के ज्ञान का अधिगम अर्जुन को कराया गया।

किसी भी शिक्षण प्रक्रिया का उद्देश्य अधिगम की प्राप्ति है। अधिगम के द्वारा ही व्यवहार में परिवर्तन होता है। अधिगम ऐसे ज्ञान की प्राप्ति है, जो ज्ञान हमारे व्यवहार में परिलक्षित हो। ज्ञान का व्यवहारिक होना उसकी सफलता है। कई बार परिस्थितियों के प्रभाव में ज्ञान और कर्म का मेल नहीं हो पाता। ज्ञान और कर्म के योग के बिना जीवन में असंतोष बना रहता है। असंतुष्ट जीवन का आधार ज्ञान और कर्म के योग का नहीं होना ही है।

गीता का प्राकट्य उस व्यवहार परिवर्तन के लिए है, जिसको करने के लिए अर्जुन अपने कर्तव्य पथ से विचलित हो रहा है। परिस्थितियों ने जिस कर्म को नियत कर रखा है, उससे बचने का प्रयास विभिन्न तर्कों के माध्यम से अर्जुन द्वारा दिया जा रहा है।

अर्जुन द्वारा दिए जा रहे तर्क ज्ञान से युक्त हैं, परंतु उन परिस्थितियों में व्यवहारिक नहीं हैं। अर्जुन का व्यवहार ज्ञान से युक्त हो, इसके लिए भगवान श्रीकृष्ण सर्वप्रथम कर्मयोग का अधिगम कराते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में 18 अध्याय हैं। प्रथम 06 अध्यायों में कर्मयोग का ज्ञान दिया गया है, क्योंकि अर्जुन कर्म न करने के लिए अपने ज्ञान का व्यवहारिक प्रयोग कर रहा था। ऐसा ज्ञान जो व्यक्ति को अव्यवहारिक कर्म करने के लिए विवश करें, वह अधिगम नहीं बल्कि ज्ञान की सूचना मात्र है। ज्ञानयुक्त व्यवहार से ही कर्मयोग की साधना हो सकती है। गीता में कर्मयोग की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम ज्ञानयुक्त कर्म का अधिगम कराया गया। उसके पश्चात् दूसरे 06 अध्यायों में भक्ति योग की शिक्षा दी गई है। बिना भक्ति के कर्मयोग का संधान नहीं हो पाता। हमारा मन जो भी करना चाहता है, उसके लिए कर्म तभी करता है, जब उन चाहतों के प्रति समर्पण हो। जिस लक्ष्य के प्रति हम समर्पित नहीं होते, उसके लिए कर्म कर पाना सहज नहीं होता है। कर्म का अधिगम उद्देश्यपूर्ण होता है और उद्देश्य की पूर्ति लक्ष्य के प्रति समर्पित होने से होती है। भक्ति समर्पण की संस्कृति है, समर्पण का मनोविज्ञान है। इसके पश्चात् अंत के 06 अध्याय ज्ञानयोग के अधिगम से संबंधित हैं। ज्ञान के बिना भक्ति विलाप करती है।

“श्रीमद्भागवद् महापुराण में भक्ति के दो पुत्र—ज्ञान और वैराग्य का वर्णन है। ज्ञान और वैराग्य से युक्त भक्ति ही आह्लाद का कारण बनती है। ज्ञान और वैराग्य की मूर्छा में भक्ति विलाप करती है। विलाप करती हुई भक्ति से युक्त कर्म भी विषाद का ही कारण बनता है।”³

इस परिवर्तनशील संसार में वैराग्य का ज्ञान, कर्मयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञान और भक्ति से युक्त कर्म से व्यक्ति कर्मयोगी बनता है। गीता का अधिगम अर्जुन को कर्मयोगी बनाने के लिए कराया जा रहा है।

6.2 श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा

अधिगम से तात्पर्य सीखने से है और सीखना जन्म लेने के साथ ही जीवन में सतत् चलने वाली एक प्रक्रिया है। “मनुष्य अपनी आवश्यकता और अपने संस्कारों के अनुसार सीखता रहता है। जन्म लेने वाले व्यक्ति के चित्त में पूर्वजन्म के संस्कार, गर्भावस्था के संस्कार, जन्म लेने के पहले से ही विद्यमान रहते हैं और जन्म लेने के पश्चात् ज्ञानात्मक संस्कार, भावनात्मक संस्कार और क्रियात्मक संस्कार का निर्माण, चित्त में वृत्ति के रूप में

होता रहता है। मनुष्य के अधिगम का संबंध इन संस्कारों से प्रभावित होता है। अपने संस्कारों के अनुसार व्यक्ति सीखता रहता है। ज्ञानात्मक संस्कार से स्मृति का निर्माण, भावनात्मक संस्कार से क्लेशों और संवेगों का निर्माण और क्रियात्मक संस्कार से जन्म, आयु और भोग का निर्माण होता है।⁴

इन संस्कारों के परिणामस्वरूप व्यक्ति के जन्म और मृत्यु का चक्र अनवरत चलता रहता है। समय और परिस्थितियों को पाकर जिन संस्कारों का उदय होता है उनके अनुसार व्यक्ति विचार और व्यवहार करने लगता है।

धर्मक्षेत्र— कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित, पांडव और कौरव सेनाओं के मध्य में खड़ा अर्जुन अपने चित्त के संस्कारों के कारण अपनों के युद्ध में मारे जाने का विचार करके, विषाद से भर गया और उसका चित्त शोक और मोह की वृत्ति से आवृत हो गया। शोक और मोह यह दोनों संसार के बीज रूप हैं। सांसारिक जीव इनसे किसी न किसी प्रकार से ग्रस्त रहता है। शोक, मोह आदि दोषों से घिरा हुआ चित्त अपने कर्तव्य कर्म करने की कुशलता खो देता है।

दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा अर्जुन अपने स्वधर्म का त्यागकर युद्ध नहीं करने का विचार करने लगता है। कर्तव्य कर्म का त्याग करने वाले को, न ही इस लोक में और न ही परलोक में स्थान मिलता है। वह दोनों जगह अपयश का भागी बनता है। मोह और शोक से ग्रस्त अर्जुन की चित्तवृत्ति के निवृत्ति का एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान के अतिरिक्त आत्मा के इस कलंक अर्थात् चित्त की उदासी को किसी अन्य साधन से नहीं मिटाया जा सकता है, इसलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को विषाद से मुक्ति दिलाने के लिए आत्मविद्या का शिक्षण करते हैं, क्योंकि आत्मविद्या के अधिगम से आत्मा और शरीर के भेद का यथार्थ ज्ञान होता है। संसार में जन्म लेने वाला प्राणी शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अधिगम करता है। यह ज्ञान नश्वर शरीर से होता है। जिस शरीर का जन्म हुआ है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। इस मृत्युलोक में मृत्यु को प्राप्त करने वाला शरीर शाश्वत, अजर, अमर, आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।

आत्मा का ज्ञान आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ही होता है। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, तब आत्म-साक्षात्कार होता है, जिसे आत्मबोध होता है ऐसे पंडित लोग, मरण-धर्मा शरीर के लिए शोक नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात का ज्ञान होता है कि शरीर की मृत्यु को रोका नहीं जा सकता और आत्मा को मारा नहीं जा सकता, इसलिए

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “ज्ञानी लोग जिसके लिए शोक नहीं करते हैं उसके लिए तू शोक कर रहा है और ज्ञान की बातें करता है, ऐसा कोई समय नहीं था जिसमें मैं, तुम ये राजा लोग नहीं थे और ऐसा कोई समय नहीं होगा जिसमें हम सब नहीं रहेंगे।”⁵

“इस मृत्युलोक में जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु होती है पर आत्मा, न कभी जन्म लेती है और न ही मरती है। वह अजन्मा, शाश्वत, नित्य और प्राचीन है। शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती है। जो इस आत्मा के अविनाशी, शाश्वत, अजन्मा, अपरिवर्तनशील स्वरूप को जानता है, वह मनुष्य कैसे किसी को मार सकता है या मरवा सकता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति फटे-पुराने कपड़ों को त्याग देता है, उसी प्रकार यह आत्मा पुराने शरीरों का त्यागकर नये शरीर धारण कर लेती है। इस आत्मा को न कोई शस्त्र छेद पाता है, न अग्नि जला सकती है, न पानी गीला कर सकता और न ही वायु इसे सुखा सकती है। यह आत्मा, नित्य सबके अंदर व्याप्त, अपरिवर्तनशील और अचल है। यह सदा एक सा रहता है, इसे अव्यक्त, अचिंतनीय, विकार से रहित कहा जाता है, जो आत्मा को ऐसा जानता है, वह शोक नहीं करता है।”⁶

आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता का अधिगम कराते हुए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उसके कर्तव्य कर्म के लिए प्रेरित कर रहे हैं।

इस संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक मनुष्य जीना चाहता है और जीवन भर अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लगा रहता है। उसके दुख का कारण शरीर और अनंत इच्छाएं हैं। जन्म लेने वाला शरीर हर पल मृत्यु के करीब जा रहा है, परंतु मरना कोई नहीं चाहता है, यही इस जगत की माया है। इच्छाओं की पूर्ति में लगा जीव अनंत इच्छाओं का शिकार होता जा रहा है, पर इच्छाओं की पूर्ति में ही लगा रहता है। यही जन्म लेने वाले जीव के दुख का कारण है। इस दुख को दूर करने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग और योग अर्थात् कर्मयोग का वर्णन किया गया है। सांख्य जहां ज्ञान और इच्छाओं के परित्याग पर बल देता है वही योग, निष्कामकर्म पर जोर देता है।

युद्ध क्षेत्र में अर्जुन युद्ध कर्म के परिणाम पर विचार करने के कारण, मानसिक रूप से विचलित होकर विषाद ग्रस्त हो गया और अपना कर्तव्य कर्म नहीं करने का विचार करने लगा। कर्मफल पर विचार करने से राग और द्वेष रूपी क्लेश कर्म के प्रेरक बन जाते हैं। फल की आकांक्षा से युक्त होकर किया जाने वाला सकाम-कर्म, सुख और दुख रूपी परिणाम का कारण बनता है। इस संसार में जन्म लेने वाला जीव अपने कर्म से सुख की

प्राप्ति और दुख से मुक्ति चाहता है। जिस कर्म के परिणामस्वरूप सुख प्राप्ति की आशा होती है, उसमें राग और जिस कर्म के परिणामस्वरूप दुख प्राप्ति की संभावना होती है, उससे द्वेष करना, जीव का स्वाभाविक गुण है। अविद्या के कारण द्रष्टा और दृश्य के संयोग से निर्मित यह जगत दुख रूप ही है। जगत में जन्म लेने वाला जीव दुख के कारण ही सुख की कामना से युक्त होकर कर्म करता है और कर्म की यह अंतहीन श्रृंखला जीवनपर्यंत सतत चलती रहती है।

इस संसार में सुख की चाह सबमें निरंतर बनी रहती है, इसका कारण दुख रूप संसार है, परंतु अविद्या के आवरण से ज्ञान का यह प्रकाश ढका रहता है। अविद्या से जन्म लेने वाले क्लेश— अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का भय जीव के जीवन में जीवन भर बना रहता है। इस जगत में जन्म लेने वाला जीव इन्हीं पंचक्लेशों के कारण दुखी रहता है।

अविद्या के कारण ही अर्जुन विषादग्रस्त होकर कर्तव्य कर्म नहीं करने का विचार करने लगा। सकाम कर्म सुख—दुख का निर्माण करता ही है। युद्ध में मृत्यु सहज स्वाभाविक है, पर अपने प्रियजनों की मृत्यु पर विचार करने से शोक और अपने शत्रुओं की मृत्यु पर विचार करने से हर्ष की अनुभूति होती है। वास्तव में सुख—दुख का कारण मित्र और शत्रु भाव है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति हर्ष और विषाद की अनुभूति करता है। मित्रों के प्रति शत्रु भाव विषाद का कारण है और ऐसी भावना से युक्त मनः स्थिति में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा दे रहे हैं। अनासक्त भाव से अपना कर्तव्य कर्म करना ही कर्म योग है। आसक्ति के कारण कर्म बंधन बन जाता है। अपने तथा अपनों में आसक्ति होने के कारण ही अर्जुन युद्ध कर्म के परिणाम पर विचार करने से किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। ऐसे में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—“हे अर्जुन कर्म करने में तेरा अधिकार है, परंतु कर्मफल पर तेरा अधिकार नहीं है। तुम्हारा उद्देश्य कर्म का फल कभी नहीं होना चाहिए और न ही कर्म न करने के प्रति संकल्प होना चाहिए।”⁷

निष्काम कर्म का मूल सिद्धांत यही है कि फल की आकांक्षा से मुक्त होकर अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह करना चाहिए। अर्जुन के विषाद का कारण फल की आकांक्षा ही है। अपने शत्रु का विनाश तो अर्जुन चाहता है, पर मित्रों को खोना नहीं चाहता। संसार में समस्त दुखों का कारण कामनाओं का होना है। इच्छाओं के अभाव में सुख—दुख दोनों का अभाव हो जाता है। जीवन में विषाद को दूर करने का एकमात्र उपाय निष्काम कर्मयोग है।

पुण्य, पाप और पाप-पुण्य मिश्रित कर्म करने वाले लोग सकामकर्म करते हैं। निष्काम कर्म से युक्त कर्मयोगी भी योगी की भांति कर्म करता है। योगी अशुक्ल और अकृष्ण कर्म करता है, इसलिए अर्जुन को कृष्ण “योग में स्थित होकर सभी प्रकार की आसक्ति का परित्याग कर, सफलता और असफलता में समत्वभाव के साथ, कर्म करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि मन के समत्व भाव को ही योग कहते हैं। समत्वभाव के साथ कर्म करने पर मन कर्म के परिणामों के प्रति उदासीन हो जाता है और शांतिपूर्वक अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह करने में सहायक होता है। जो लोग फल की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म करते हैं वह दया के पात्र हैं क्योंकि सकामकर्म बुद्धियोग से किए गए कर्म की अपेक्षा निम्न कोटी का है, इसलिए हे अर्जुन तुम बुद्धि में शरण लो। जो व्यक्ति बुद्धि में स्थित होकर अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों को छोड़कर निष्काम कर्म करता है वही कर्म करने में कुशल है। कर्म करने की कुशलता को ही योग कहते हैं।”⁸

“आचार्य शंकर के अनुसार योग उस व्यक्ति के द्वारा होता है, जो अपने मन को भगवान में लगाकर, अपने कर्तव्यों का पालन कर रहा हो। सफलता और असफलता में मन को समान बनाए रखने का नाम ही योग है।”⁹

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित योग के अधिगम से कामनाओं से युक्त कर्म— जो हर्ष और शोक का कारण बनता है, से मुक्ति मिल जाती है। कर्म का परिणाम चाहने वाले व्यक्ति किसी न किसी रूप में अपने जीवन में दुख का कारण ही बनते हैं, इसलिए संसार में जितने भी लोग हैं, वे सब लोग सुख को पाने के लिए और दुख से बचने के लिए कर्म करते देखे जाते हैं। यही इस दृश्य जगत की माया है। अपनी सफलता पर हर्षित और असफलता पर विषाद से ग्रसित मनुष्य को शांति तब तक नहीं मिल सकती जब तक “योग में स्थित होकर सफलता और विफलता में मन को सामान सामान बनाए रखकर, कर्म करने की कुशलता प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि कर्म की यह कुशलता ही योग है।”¹⁰

6.3 श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम का विवेचन

6.3.1 कर्म—जिज्ञासा से कर्मयोग शास्त्र रूपी श्रीमद्भगवद्गीता का प्राकट्य

धर्मक्षेत्र—कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित कौरव और पांडव सेनाओं के मध्य में खड़े अर्जुन को अपने कर्तव्य कर्म को लेकर, परस्पर—विरुद्ध दो धर्मों के बीच जिस प्रकार के मानसिक उलझन का सामना करना पड़ा, कर्तव्य पथ पर अपने सांसारिक दायित्वों का निर्वाह करने में ऐसी आपत्तियों का सामना महापुरुषों को अनेक बार करना पड़ता है। ऐसी

परिस्थिति में कुछ लोग सन्यास लेकर, ब्रह्म ज्ञान की खोज में संसार छोड़कर वन में चले जाते हैं और कुछ लोग अन्याय को चुपचाप सहन करने के लिए विवश होकर कर्तव्य पथ से पलायन कर जाते हैं। “जीवन में कई बार कर्म और अकर्म को लेकर इस प्रकार के संशय की स्थिति बनती है और उसका सामना किसी न किसी रूप में सबको करना ही पड़ता है।”¹¹

इच्छा से प्रेरित होकर किए जाने वाले कर्म में जब परिणाम मन के अनुकूल प्राप्त होता नहीं दिखाई देता है, तब मन में संशय का जन्म लेना स्वाभाविक है। युद्ध क्षेत्र में शत्रु के पराजय पर विजय की अनुभूति होती है, परंतु जब शत्रु पक्ष में अपने सगे-संबंधी, नाते-रिश्तेदार हो, तब उनकी मृत्यु और पराजय को मन स्वीकार नहीं कर पाता है, परिणामस्वरूप चित्त विषादग्रस्त हो जाता है। विषाद से भरा हुआ चित्त व्यक्ति को किंकर्तव्यविमूढ बना देता है।

अर्जुन एक वीर योद्धा था, युद्ध करना और विजय प्राप्त करना उसके गुण और कर्म के अनुसार क्षत्रिय-वर्ण का स्वाभाविक धर्म था। इस युद्ध के पहले अनेक युद्धों में अनगिनत वीरों का संहार करने पर भी, उसके मन और शरीर की यह स्थिति इसके पहले कभी नहीं हुई थी। युद्ध के मैदान में न तो उसके हाथ से गांडीव गिरा, न ही शरीर में कंपन पैदा हुई और न ही युद्ध में मरते हुए उन वीरों को देखकर उसकी आंखें कभी गीली हुई। “अर्जुन के मन में ज्ञानियों के सदृश अहिंसा वृत्ति से उत्पन्न होने वाले विचारों का उदय, इस युद्ध से पहले कभी नहीं हुआ था। युद्ध में अपने विरुद्ध स्वजनों को देखकर उनके प्रति उत्पन्न होने वाले आसक्ति के कारण कर्तव्य कर्म को लेकर संशय की मनःस्थिति, पहली बार निर्मित हुई और आसक्ति से जन्म लेने वाले मोह ने उसे कर्तव्यनिष्ठा से विचलित कर दिया। ऐसी परिस्थिति में शोकग्रस्त मन को संतुलित करने के लिए तत्त्वज्ञान की स्मृति होने लगती है।”¹²

भूत और भविष्य की चिंता में डूबा हुआ मन, वर्तमान समय में उपस्थित अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह न करके, शरीर और इंद्रियों से प्राप्त तत्त्वज्ञान द्वारा स्वयं को संतुलित करने का प्रयत्न करता है। अर्जुन अपने स्वजनों की रक्षा हेतु वर्तमान समय में उत्पन्न अपने स्वधर्म से युक्त युद्ध कर्म को नहीं करने का संकल्प करता है। स्वधर्म के अनुसार कर्म करने और नहीं करने के परस्पर दो विरोधी धर्मों के बीच संशय में फंसा चित्त व्यक्ति को किंकर्तव्यविमूढ बना देता है।

अपने प्रियजनों की आसक्ति से उत्पन्न होने वाले मोह ने अर्जुन को कर्तव्य कर्म करने और कर्म न करने के संशय में डाल दिया, जिसके परिणामस्वरूप कर्तव्य जिज्ञासा से श्रीमद्भगवद्गीता का प्राकट्य हुआ। “सात सौ श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविंद से मुखरित श्रीमद्भगवद्गीता वास्तव में कर्मयोग—शास्त्र है। युद्धक्षेत्र में अपने स्वजनों के प्रति आसक्ति से उत्पन्न मोह के कारण, वर्तमान में कर्तव्य कर्म के रूप में उपस्थित युद्ध को नहीं करने से संबंधित विचारों को दूर कर, कर्तव्य कर्म करने के लिए अभिप्रेरक के रूप में इस कर्मयोग शास्त्र का प्राकट्य हुआ है।”¹³

मोह के कारण कर्म नहीं करने से प्रारंभ होकर ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के अधिगम से मोह के नष्ट होने के पश्चात कर्तव्य कर्म की स्मृति के साथ कर्म करने की प्रवृत्ति ही इस योगग्रंथ के प्राकट्य का कारण है। गीता ध्यान में इस ग्रंथ का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि “यथार्थ ज्ञान के स्रोत सारे उपनिषद् गाय की भांति हैं, श्रीकृष्ण गायों का दूध दुहने वाले ग्वाले की भांति हैं, अर्जुन उस ज्ञानरूपी दुग्ध का कारण और भोक्ता बछड़े की भांति है और सभी उपनिषद्रूपी गाय से दुहा गया दूध की भांति यह गीतामृतरूपी कर्मयोग शास्त्र है।”¹⁴

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में दिया गया ब्रह्मज्ञान निवृत्ति मार्ग का पोषक न होकर प्रवृत्ति मार्ग का पोषक है, जिसका एकमात्र प्रयोजन स्वधर्मयुक्त कर्तव्य कर्म का निष्पादन है, इसलिए भगवान के द्वारा गाया गया यह गीत कर्म जिज्ञासा से प्रारंभ होकर, कर्तव्य कर्म करने की प्रेरणा देने वाला प्रवृत्ति मार्ग प्रतिपादक कर्मयोग शास्त्र है।

इसका उपदेश अत्यंत योगयुक्त अंतःकरण से किया गया है। बहिर्मुखी अंतःकरण से कर्मफल की चिंता के कारण भूत और भविष्य के परिणामों की वृत्तियां अर्जुन के चित्त को भ्रमित कर कर्म करने और नहीं करने के संशय के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ बना देती हैं। ऐसी परिस्थिति में भगवान श्रीकृष्ण योगयुक्त अंतःकरण से शरीर और संसार की नश्वरता तथा आत्मा की अमरता के यथार्थ ज्ञान के साथ समस्त इच्छाओं से मुक्त होकर निष्काम कर्मयोग का उपदेश करते हैं।

वास्तव में श्रीमद्भगवद्गीता किंकर्तव्यविमूढ़ अंतःकरण और कर्मयोग से युक्त अंतःकरण के बीच का संवाद है। महाभारत का युद्ध समाप्त होने के पश्चात अर्जुन के मन में एक बार गीता सुनने की इच्छा जागृत हुई और उसने भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना कि

“हे प्रभु जो उपदेश आपने मुझे युद्ध के आरंभ में दिया था उसकी विस्मृति हो गई, एक बार फिर वही उपदेश मुझे दीजिए। “भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन वह उपदेश मैंने अत्यंत योगयुक्त अंतःकरण से दिया था, अब वैसा उपदेश कर पाना संभव नहीं है। अनुगीता के प्रारंभ में यह बात कही गई है।”¹⁵

“श्रीमद्भगवद्गीता कर्म की ऐसी कुशलता का अधिगम कराती है, जिसमें समबुद्धि से युक्त होकर कर्मयोगी, पुण्य-पाप को इसी लोक में त्याग देता है और समत्वरूप योग से कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है।”¹⁶

प्रतिकूल परिस्थितियों में क्या करना चाहिए? और क्या नहीं करना चाहिए? की मनःस्थिति से उत्पन्न होने वाली कर्म जिज्ञासा से प्रारंभ होकर मोह के नष्ट होने पर कर्तव्य कर्म की स्मृति दिलाने वाला यह ग्रंथ वास्तव में कर्मयोग शास्त्र ही है।

6.3.2 कर्मयोग

सामान्य मनुष्य अपने कर्म के अनुसार ही जन्म, आयु और भोग को प्राप्त करता है। इस जगत में जन्म लेने वाला जीव, अपने कर्म के अनुसार प्राप्त फल को भोगता है। सामान्यतया तीन प्रकार का कर्म— पुण्य-कर्म, पाप-कर्म और पुण्य-पाप मिश्रित कर्म सामान्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है। पुण्य-कर्म के परिणामस्वरूप सुख, पाप-कर्म के परिणामस्वरूप दुख और पुण्य-पाप मिश्रित कर्म के परिणामस्वरूप सुख-दुख का भोग जन्म लेने वाले जीव को भोगना पड़ता है। इस संसार में सुख-दुख का कारण सकाम कर्म है।

कर्मफल की आकांक्षा से किया जाने वाला कर्म बंधनकारी होता है। साधारण मनुष्य फल की इच्छा से प्रेरित होकर, कर्म करता है और प्राप्त परिणाम से असंतुष्ट रहता है। असंतोष का जन्म कर्म से प्राप्त अल्प कर्मफल के कारण ही होता है। इस जगत में हम जितना चाहते हैं, उतना प्राप्त नहीं होता और जितना प्राप्त होता है, उससे हमारी चाहत पूरी नहीं होती, यही इस जगत में जन्म लेने वाले इच्छाओं से प्रेरित होकर, इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करने वाले जीव की कहानी है।

धर्म की इच्छा, अर्थ की इच्छा, काम की इच्छा और मोक्ष की इच्छा के कारण व्यक्ति का पुरुषार्थ बंधन का कारण बन जाता है। कर्मयोग इच्छाओं के त्याग से फलीभूत होता है, जहां कर्मयोगी फल का त्याग कर अनंत गुणा फल प्राप्त करता है, वही साधारण मनुष्य फल की कामना के कारण अनंत फल को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है।

इस संसार में इच्छाओं के कारण मनुष्य जन्म लेता है, जीवन भर इच्छाओं को पूरा करने में लगा रहता है और अंततः अधूरी इच्छाओं के साथ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। पूर्णता को प्राप्त करने के लिए मिला मनुष्य जीवन, स्वामित्व से वंचित होकर इच्छाओं का दास बनकर, व्यतीत हो जाता है। वास्तव में देखा जाए तो अनंत इच्छा ही मनुष्य के जन्म और मृत्यु का कारण बनती हैं।

“धन को पाने की कामना व्यक्ति को जीवनभर, निर्धन बनाए रखती है। लक्ष्मी के स्वयंवर की कथा स्मरणीय है, जिसमें उपस्थित सभी देव-दानव लक्ष्मी को पाने की आशा में वरमाला पहनने के लिए लालायित थे। सभा मंडप में लक्ष्मी जी ने कहा कि मैं उसी के गले में वरमाला पहनाऊंगी, जिसे मुझे पाने की कामना नहीं होगी अर्थात् जो निष्काम होगा। सभा मंडप में उपस्थित सारे लोग लक्ष्मी को पाने की कामना से युक्त थे। निष्काम वर की खोज में अंततः भगवान विष्णु के गले में लक्ष्मी जी ने वरमाला डाल दिया और आज भी उनकी दासी बनी रहती हैं। फल का त्याग जहां स्वामित्व प्रदान करता है वही फल की आसक्ति मनुष्य को दास बनाती है और दासत्व ही व्यक्ति के दुख का कारण है।”¹⁷

इस संसार में जन्म लेने वाले शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता के ज्ञान के साथ कर्मफल की आसक्ति से मुक्त हो, योग में स्थित होकर सिद्धि और असिद्धि में समबुद्धि से युक्त हो समत्वभाव के साथ कर्म करने को योग कहते हैं। “इस समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्म करने वाला कुशल कर्मयोगी इस संसार में पाप-पुण्य से मुक्त हो जाता है। इस जगत में कर्म बंधन से मुक्त होने का उपाय समत्व योग ही है।”¹⁸

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को अपने प्रियजनों की आसक्ति के कारण उत्पन्न होने वाले मोह को नष्ट करने तथा अपने कर्तव्य कर्म को निष्काम भाव से करने के लिए कर्मयोग का यह ज्ञान दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप अर्जुन की बुद्धि, ज्ञान और कर्म की श्रेष्ठता को लेकर मोहित हो गई और अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से पूछता है कि— “हे जनार्दन, यदि आपकी दृष्टि में कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो हे केशव— मुझे इस युद्ध रूपी भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? कर्म और ज्ञान को लेकर आपके मिले-जुले वचनों से मेरी बुद्धि मोहित हो रही है। एक निश्चित बात मुझे बताइए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ।”¹⁹

अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से पूछता है कि अगर ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ है तो फिर कर्म क्यों किया जाए? ज्ञान और कर्म को लेकर अर्जुन के मन में उत्पन्न होने वाले द्वंद्व से मुक्ति दिलाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जीवन वास्तव में कर्म है, जिसमें कर्मफल के प्रति अनासक्ति परम आवश्यक है। “हे निष्पाप इस लोक में मेरे द्वारा दो प्रकार की जीवन प्रणालियों का उपदेश बहुत पहले दिया गया था। चिंतनशील अर्थात् सांख्य-योगियों के प्रति ज्ञानयोग और कर्मशील अर्थात् योगियों के प्रति कर्मयोग का।”²⁰

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी इस संसार में दो प्रकार के स्वभाव वाले अंतर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग पाए जाते हैं। अंतर्मुखी स्वभाव वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति, आत्मचिंतन कर आंतरिक जीवन को खोजने की होती है और बहिर्मुखी स्वभाव वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति, संसार में कार्य करने की ओर बनी रहती है। ज्ञानयोगी का झुकाव आध्यात्मिक चिंतन और मनन की ओर और कर्मयोगी का झुकाव समत्व भाव के साथ निष्काम कर्म की ओर होता है। ज्ञानयोग से निवृत्तिमूलक मार्ग प्रशस्त होता है और कर्मयोग से प्रवृत्तिमूलक मार्ग मार्ग प्रशस्त होता है।

कर्मयोगी आत्मभावना और कर्मफल की इच्छा का त्याग कर अनासक्त भाव से समत्वबुद्धि से युक्त होकर अपना कर्तव्य कर्म करता है। “अपने कर्तव्य कर्म को नहीं करने से किसी व्यक्ति को कर्मफल से मुक्ति नहीं मिल सकती और न ही कर्मों के संन्यास से ही सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि इस जगत में कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता है। प्रकृति से उत्पन्न तीन गुणों के कारण प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है।”²¹

युद्ध क्षेत्र में अपने विरुद्ध युद्ध की इच्छा से एकत्रित अपने प्रियजनों को देखकर मोह के कारण युद्ध नहीं करने की अर्जुन की इच्छा को दूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कर्म करने की बाध्यता का उपदेश दिया गया। प्रकृति और पुरुष के संयोग से निर्मित इस जगत में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति से विवश होकर जीव कर्म करने के लिए बाध्य है।

“इस जगत में जो मूढ़बुद्धि मनुष्य, पांच-ज्ञानेंद्रियों और पांच-कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक संयम में रखता है, परंतु मन से इंद्रियों के विषयों का चिंतन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है, परंतु हे अर्जुन जो मनुष्य मन के द्वारा इंद्रियों को नियंत्रित करते हुए अनासक्त होकर, कर्मेन्द्रियों से अपने कर्तव्य कर्म को करता रहता है वही कर्मयोगी और श्रेष्ठ है।

इसलिए हे अर्जुन तू शास्त्र के अनुसार नियतकर्म को अपना कर्तव्य समझकर करो, क्योंकि कर्म नहीं करने की अपेक्षा, कर्म करना श्रेयस्कर है और कर्म नहीं करने से तो शारीरिक जीवन का भी निर्वाह नहीं हो सकता है।”²²

“इस प्रकार अपने कर्तव्य कर्म से विचलित हो रहे अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण ने समत्वयोग में स्थित होकर, सिद्धि और असिद्धि में समबुद्धि से युक्त चित्त द्वारा अनासक्त भाव से कर्म करने के लिए, कर्मयोग का उपदेश दिया। कर्म करने का यह कौशल ही कर्मयोग है।”²³

6.3.3 क्रियाशील प्रकृति और साक्षी पुरुष के कर्मयोग का अधिगम

प्रकृति और पुरुष के संयोग से इस जगत का निर्माण हुआ है। इसमें जन्म लेने वाले जीव, अपने कर्मानुसार जन्म, आयु और भोग को प्राप्त करते हैं। जड-चेतन के योग से निर्मित इस सृष्टि में एक क्षण के लिए भी कोई प्राणी कर्म के बिना नहीं रह सकता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त प्रकृति अपने गुणों के अनुसार सतत् कार्य करती रहती है। “इस प्रकृति में जन्म लेने वाले सभी प्राणियों के साथ ही साथ ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृति के अनुसार अपना स्वाभाविक कर्म करते रहते हैं, ऐसे में कोई कर्म से निग्रह कैसे कर सकता है?”²⁴

प्रकृति और पुरुष के संयोग के पश्चात् कर्म के बिना रह पाना संभव नहीं है क्योंकि कर्म अनिवार्य रूप से प्रकृति की क्रियाओं के कारण होता रहता है। शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के द्वारा कर्म की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इंद्रियों का अपने से संबंधित विषयों में राग-द्वेष होना स्वाभाविक है। जिन विषयों के सहयोग से सुख की अनुभूति हुई है, उनके प्रति राग और जिन विषयों के संयोग से दुख की अनुभूति हुई है, उनके प्रति द्वेष का होना, इंद्रियों का स्वाभाविक गुण है। राग-द्वेष से प्रेरित होकर किए जाने वाले कर्म बंधनकारी होते हैं, ऐसे कर्म को करके अंततः दुख की ही प्राप्ति होती है। बुद्धिमान मनुष्य राग-द्वेषात्मक मनोवृत्ति पर नियंत्रण स्थापित करके, निष्काम भाव से अपने कर्तव्य कर्म का निर्वहन करते हैं। “वास्तव में राग-द्वेष मनुष्य के शत्रु हैं। मनुष्य को इन दोनों पर नियंत्रण रखना चाहिए, क्योंकि इंद्रियों का उनसे संबंधित विषयों में राग-द्वेष होना स्वाभाविक है।”²⁵

जिस बुद्धिमान मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि प्रकृति के गुणों द्वारा ही सारे कार्य किए जा रहे हैं, वह अहंकार शून्य होकर कर्म के सारे बंधनों से मुक्त हो

जाता है। इस कर्मभूमि में कर्म से निग्रह का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि कर्म अनिवार्य रूप से प्रकृति के क्रियाओं द्वारा निरंतर चलता रहता है। पुरुष मात्र साक्षी होता है, जिसकी उपस्थिति में प्रकृति अपने गुणों के अनुसार स्वाभाविक कर्म करती रहती है। वास्तव में इस जगत में कर्म का कर्ता प्रकृति है। “जगत के सारे कार्य प्रकृति के गुणों द्वारा किए जा रहे हैं, परंतु अहंकार के कारण जिसकी आत्मा मूढ़ बन गई है उसे ऐसा लगता है कि सारे कर्मों का कर्ता मैं हूँ। जिस मनुष्य को प्रकृति के गुणों और उसके कार्यों से भिन्न आत्मा के सच्चे साक्षी स्वरूप का ज्ञान होता है, उसे प्रकृति के गुण ही गुणों में क्रिया कर रहे हैं, इस बात का भी ज्ञान हो जाता है परिणामस्वरूप वह ज्ञानी मनुष्य कर्मों में आसक्त नहीं होता है।”²⁶

प्रकृति और पुरुष का यथार्थ ज्ञान हो जाने के बाद व्यक्ति अपने धर्म का पूर्णता के साथ पालन करता है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “अपूर्णता के साथ अपने धर्म का पालन किया जाना, दूसरों के धर्म का पूर्णता से पालन किए जाने की अपेक्षा श्रेष्ठ है। स्वयं के धर्म का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि दूसरों का धर्म भयावह है।”²⁷

युद्ध क्षेत्र में अपने विरुद्ध युद्ध की इच्छा से खड़े अपने स्वजनों को देखकर अर्जुन युद्ध नहीं करने की इच्छा के साथ खड़ा हो गया और भगवान श्रीकृष्ण से ज्ञानियों की भांति बातें करने लगा। स्वजनों की आसक्ति से मोह का जन्म और मोह के कारण अपने क्षत्रिय धर्म अर्थात् युद्ध को नहीं करने का विचार उत्पन्न हुआ। अर्जुन के मन में अहिंसा से संबंधित यह विचार ज्ञान के कारण उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि ज्ञान के विचारों का उदय मोह के कारण हुआ।

अपने कर्तव्य कर्म का पालन करना कितना भी इच्छा के विरुद्ध क्यों न हो परंतु मनुष्य को उसका पालन निष्ठापूर्वक करना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति का कर्म ही उसे लोक परलोक में प्रतिष्ठित करता है। वास्तव में जीवन कर्म ही है। बुद्धि-युक्त मनुष्य परिणामों की चिंता छोड़कर, जीवन भर कर्म करता रहता है क्योंकि कर्म करना इस जगत में जन्म लेने वाले जीव का अधिकार है। कर्म को छोड़ देने से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो जाता है बल्कि, कर्म के परिणामों की चिंता छोड़ देने से मुक्ति अवश्य मिल जाती है।

कर्मयोग इच्छाओं का परित्याग कर, निष्काम भाव से निष्ठावान होकर कर्म करने की कला है। इस संसार में जीवन कर्म से उत्पन्न होता है और कर्म ही जीवन है। “प्राणियों का जीवन अन्न से, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।”²⁸

इसलिए इस जगत में जन्म लेने वाले जीव को हर क्षण कर्म करना पड़ता है। मनुष्य का उद्धार अपने नियत कर्म का पालन करने से ही संभव है। यज्ञ से देवताओं का पोषण होता है और देवताओं से मनुष्य का पोषण होता है। एक-दूसरे का पोषण करके ही जगत का कल्याण किया जा सकता है। इस संसार में जितने भी तरह की समस्याएं उत्पन्न होती हैं, उसका एकमात्र कारण नियत कार्य को नहीं करना है, क्योंकि कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है और सर्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान रहता है।

अनासक्त रहकर कर्म करता हुआ मनुष्य, परम ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। इसलिए हे अर्जुन तुम अनासक्त होकर करने योग्य कार्य को सतत् करते रहो। अनासक्त होकर किया जाने वाला नियत कर्म यज्ञ है और यज्ञ की भावना से किए गए कर्म से परमात्मा प्रसन्न होते हैं। इस जगत में मनुष्य का जीवन और जगत का जीवन एक-दूसरे पर आश्रित है। ऐसी स्थिति में जो मनुष्य सिर्फ अपने लिए कार्य करता है, वह वास्तव में अपने जीवन को व्यर्थ बिताता है क्योंकि “इस जगत का अधिष्ठान ब्रह्म है। कर्म से यज्ञ की क्रियाओं को संपन्न करने के लिए सामग्री देने वाला और उसे ग्रहण करने वाला तथा यज्ञ का लक्ष्य भी ब्रह्म ही है।”²⁹

“ब्रह्म ज्ञान से ही पूर्णता की अनुभूति होती है। ब्रह्म ज्ञान के साथ किया जाने वाला कर्म ही करने योग्य कर्म है। जनक तथा अन्य ब्रह्म ज्ञानी लोग कर्म के द्वारा ही पूर्णता को प्राप्त हुए हैं इसलिए लोक संग्रह के लिए भी कर्म ही करना चाहिए।”³⁰

श्रेष्ठ मनुष्य जिस प्रकार कर्म करता है, सामान्य लोग भी उसी के कर्म का अनुकरण करते हैं। लोकसंग्रह से आशय व्यक्ति और समाज का एक-दूसरे से परस्पर संबद्धता है। विश्व-बंधुत्व और विश्व-शांति की संकल्पना को साकार रूप कर्म के आधार पर ही दिया जा सकता है। इस जगत में विवेकहीन व्यक्ति आसक्त होकर कर्म करने के कारण बंधन और दुख को भोगता है, जबकि विवेकवान व्यक्ति अनासक्त होकर इस जगत की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए निष्काम भाव से सतत् अपने नियत कर्म को निष्ठावान होकर करता रहता है। यह संसार कर्म के बिना एक पल भी नहीं रह सकता है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हे पार्थ तीनों लोकों में ऐसा कोई कर्म नहीं है, जो मेरे लिए करना

आवश्यक है और इस जगत में प्राप्त करने योग्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त करनी हो, फिर भी मैं कर्म में सतत् लगा रहता हूँ।”³¹

इस सृष्टि में कर्म एक सतत् चलने वाली ऐसी प्रक्रिया है, जिसके बिना जन्म लेने वाला कोई भी जीव एक पल भी नहीं रह सकता है। कर्म से ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की क्रिया संपन्न होती है। इस जगत में निरंतर होने वाले परिवर्तन का आधार कर्म है, इसलिए इसे कर्मभूमि भी कहते हैं। इस कर्मभूमि में जन्म लेने वाला जीव कर्म के बिना कैसे रह सकता है? मनुष्य के सुख—दुख का कारण उसके द्वारा कर्मफल की आकांक्षा से प्रेरित होकर किया जाने वाला सकाम कर्म है। अविद्या से जन्म लेने वाले अहंकार और अहंकार की भावना से युक्त जीवात्मा को, इस जगत में प्रकृति के गुणों द्वारा किए जा रहे कर्म का कर्ता होने की प्रतीति होने लगती है, जिसके कारण कर्ता सुख—दुख का भोक्ता बन जाता है।

योगविद्या से अविद्या का नाश होने के पश्चात जिसे अपने आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है, वह इस दृश्य जगत में प्रकृति के गुणों से सब कार्यों को होते हुए देखता है, इसलिए उसे द्रष्टा कहा जाता है। द्रष्टा वास्तव में कर्ता नहीं, साक्षी है और उसकी उपस्थिति में दृश्य जगत के सारे कार्य हो रहे हैं। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश करते हुए कहते हैं कि “तुम अपने सभी कर्मों को मुझमें त्यागकर अपनी आत्मा में चेतना को स्थिर करते हुए अहंकार से शून्य होकर युद्ध करो।”³²

अर्जुन के समक्ष स्वधर्म को लेकर उत्पन्न किंकर्तव्यविमूढ़ता को दूर करने के लिए इच्छाओं का परित्याग कर, आत्मभाव से अपने कर्तव्य कर्म को करने के लिए कर्मयोग की शिक्षा दी गई। इस संसार के विषाद से मुक्ति प्रदान करने वाला साधन कर्मयोग है, जिसकी सिद्धि योग के अधिगम से होती है। योग लाभ—हानि, जीवन—मरण, यश—अपयश, सुख—दुख, सफलता—विफलता आदि में समत्व—भाव के साथ रहकर अपने कर्तव्य का कुशलतापूर्वक पालन करने का कौशल प्रदान करता है।

6.3.4 काम और क्रोध कर्मयोग के बाधक तत्व

कामनाओं का परित्याग कर निष्काम भाव से लोकसंग्रह के लिए सतत् अपने स्वधर्म के अनुसार नियत कर्म में रत रहना कर्मयोग है। इस कर्मयोग की सिद्धि में फल की आकांक्षा से किया गया कर्म बाधा है।

सामान्यतया इस संसार में शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से युक्त होकर और राग-द्वेष से प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है, उसे सकाम कर्म कहते हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला प्राणी सकाम कर्म के कारण ही सुख और दुख का अनुभव करता है, जिस कर्म से अपेक्षित परिणाम की प्राप्ति होती है, उससे सुख और जिससे अनपेक्षित प्रतिकूल परिणाम की प्राप्ति होती है उससे दुख होता है। सुख-दुख का कारण कर्म नहीं, बल्कि कर्म से प्राप्त होने वाले परिणाम की आकांक्षा है और इन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इस जगत में जन्म लेने वाला जीव सतत क्रियाशील रहता है।

इस संसार में मनुष्य एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो बुद्धि से युक्त होकर शरीर और संसार की नश्वरता और इसको धारण करने वाली आत्मा की शाश्वतता के ज्ञान से युक्त होकर, सभी प्रकार की आसक्ति से मुक्त होकर निष्काम कर्म कर सकता है। संसार में जन्म लेने वाले प्राणी को शरीर और संसार का यथार्थ ज्ञान, प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुभूति से प्राप्त नहीं होता क्योंकि ज्ञान प्राप्ति के प्रत्यक्ष साधन बाह्यकरण और अंतःकरण हैं, जिनके माध्यम से इंद्रियों से संबंधित विषयों का अनुभव होता है और परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति भी ज्ञान के इन्हीं साधनों के माध्यम से होती है।

शरीर और संसार का यथार्थ ज्ञान अर्थात् प्रकृति से पुरुष के वियोग के योग का ज्ञान और इस ज्ञान का अधिगम अपरोक्षानुभूति से होती है। अपरोक्षानुभूति इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान से चित्तवृत्ति की निवृत्ति के पश्चात् होती है।

यथार्थ ज्ञान का बाधक तत्त्व काम और क्रोध है। पुरुष और प्रकृति के संयोग का कारण अविद्या तथा कभी न पूरी होने वाली अनंत कामनाएं हैं। त्रिगुणात्मक-प्रकृति से युक्त साक्षी पुरुष में रजोगुण के कारण कभी न पूरा होने वाले काम और क्रोध रूपी शत्रु का जन्म होता है। काम और क्रोध अत्यंत पापी तथा सब कुछ निगल जाने वाले हैं। “रजोगुण से उत्पन्न होने वाला काम ज्ञान को उसी प्रकार ढक लेता है, जिस प्रकार अग्नि को धुआं, दर्पण को धूल और भ्रूण को गर्भ का आवरण सब ओर से ढककर कर रखता है।”³³

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन कभी न तृप्त होने वाले कामनाओं की आग से ज्ञान ढका रहता है। यह काम, ज्ञाता के ज्ञान का शत्रु है। “इंद्रियां, मन और बुद्धि कामनाओं के रहने के स्थान हैं। ज्ञान को आवृत करने वाली कामनाएं, शरीरधारी आत्मा को पथ से विचलित कर देती हैं, इसलिए हे भरतों में श्रेष्ठ, तुम इंद्रियों को अपने वश में रखकर ज्ञान और विज्ञान से ज्ञान का नाश करने वाले इस पापी काम को मार डाल।”³⁴

कहा जाता है कि “संसार के विषयों को जानने वाली इंद्रियां विषयों से बड़ी हैं, मन इंद्रियों से भी बड़ा है, बुद्धि मन से भी बड़ी है और बुद्धि से भी परे वह आत्मा है। इस प्रकार हे महाबाहु जो बुद्धि से परे है, उस अपने स्वरूप को पहचान कर आत्मा को आत्मा में स्थिर करके इस काम रूपी शत्रु को मार डाल।”³⁵

अविद्या के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है और अविद्या से अहंकार का जन्म होता है, अहंकार से युक्त मनुष्य कभी न पूर्ण होने वाली इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है। इस चंचल अहंकार में काम और क्रोध जो ज्ञान के शत्रु हैं उनका वास होता है। योगविद्या के द्वारा आत्म साक्षात्कार होने के परिणामस्वरूप आत्मा के प्रकाश से अविद्या का नाश होता है, जिस साधक को आत्मज्ञान हो जाता है वही सच्चे अर्थों में स्वाधीन होता है और आत्म प्रकाश से मार्गदर्शन प्राप्त कर स्वतंत्रतापूर्वक जीवन जीता है। ऐसा व्यक्ति फल की कामना से रहित होकर, लोक कल्याण के लिए निष्काम भाव से अपने कर्तव्य कर्म का पालन करता है। साक्षी-आत्मा और प्रकृति के गुणों द्वारा कार्य होने का ज्ञान ऐसे व्यक्ति को होता है, इसलिए निःस्वार्थ भाव से वह अपने स्वधर्म का पालन करता है।

6.3.5 स्थितप्रज्ञ की विशेषताएं

फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर भोगबुद्धि से कर्म करने के परिणामस्वरूप व्यक्ति को कर्म की सिद्धि होने पर सुख और कर्म की असिद्धि होने पर दुख की प्राप्ति होती है। सामान्यतः इस संसार में जन्म लेने वाला जीव, अपने कर्मानुसार सुख और दुख को भोगता है परंतु “योगबुद्धि से युक्त होने पर सफलता और विफलता में मन समत्व भाव के साथ सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर काम करता है। मन के समत्व भाव को ही योग कहते हैं। समत्व बुद्धि से युक्त हो जाने के पश्चात योगी इस लोक में ही पाप-पुण्य से मुक्त हो जाता है और पाप-पुण्य से मुक्त होकर कर्म करने की कुशलता को ही योग कहते हैं। कर्मयोग इसी कर्म कौशल्य का नाम है।”³⁶

समत्व बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष अर्थात् कर्मयोगी अपने कर्मों से प्राप्त होने वाले फल का परित्याग कर, जन्म के बंधन से मुक्त होकर दुखविहीन दशा को प्राप्त कर लेते हैं। मोह दुख का कारण है। समत्व बुद्धि से मोह की मलिनता दूर होती है और जिस ज्ञान के कारण मोह उत्पन्न हुआ है, उसके प्रति योगबुद्धि से युक्तचित्त उदासीन हो जाता है। ऐसा उदासीन व्यक्ति अपने स्वधर्म के अनुसार निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म का पालन करने

लगता है। सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर सफलता और विफलता में समत्वबुद्धि के साथ कर्म करने में कुशल व्यक्ति कर्मयोगी है।

“योग में स्थित स्थितप्रज्ञ तथा समाधि में स्थित कर्मयोगी कैसे बोलता, बैठता और चलता है? ऐसी जिज्ञासा अर्जुन के मन में उत्पन्न होने पर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे पार्थ, जब मनुष्य अपने मन से सभी प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर देता है और अपनी आत्मा में ही संतुष्ट होकर रहता है, ऐसे स्थिर बुद्धिवाले योगी को स्थितप्रज्ञ कहते हैं।”³⁷

“जिसका मन दुख की दशा में उद्विग्न नहीं होता और सुख की दशा में आसक्त नहीं होता तथा जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो गया हो, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। जिसका मन पूरी तरह से असंग हो गया हो, जो जीवन में प्राप्त होने वाले शुभ और अशुभ को पाकर न तो प्रसन्न होता है और न ही दुखी होता है, उसकी बुद्धि स्थिर है, जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को उनके संबंधित विषयों शब्द, स्पर्श रूप, रस और गंध से उसी प्रकार खींच लेता है, जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने खोल के अंदर खींच लेता है, उसकी बुद्धि ज्ञान में स्थिर हो जाती है।”³⁸

निराहारी पुरुष द्वारा इंद्रियों के विषयों को छोड़ देने पर भी विषयों के प्रति रस अर्थात् लालसा बनी रहती है, परंतु परब्रह्म का दर्शन हो जाने पर इंद्रियों के विषय और उनकी चाह दोनों छूट जाते हैं। मनुष्य कितना भी विवेकशील क्यों न हो और परब्रह्म से पूर्णता के लिए कितना भी प्रयासरत रहे, फिर भी शरीर की प्रबल इंद्रियां मन को बलपूर्वक विषयों की ओर खींचकर विचलित कर ही देती हैं, इसलिए सब इंद्रियों को अपने वश में करके मेरे परायण होकर योग में स्थिर रहना चाहिए, क्योंकि जिसकी इंद्रियां उसके वश में हैं उसी को कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है।

योग के अधिगम से अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर आत्मा से परमात्मा के योग के लिए स्थिर बुद्धि की यौगिक तकनीक का गीता में विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर को धारण करने वाली आत्मा, साक्षी है परंतु आत्मा का शरीर से संबंध हो जाने के पश्चात् चित्त की वृत्तियों के अनुरूप ही इस दृश्य जगत को देखता है, जिसके कारण उसे द्रष्टा कहते हैं। कर्मयोग की साधना से जिन्होंने समस्त आसक्ति का परित्याग कर दिया है और सुख—दुख में समत्व बुद्धि को धारण कर पुण्य, पाप और पुण्य—पाप मिश्रित कर्म का

इस लोक में परित्याग कर, निष्काम कर्म करने की कुशलता प्राप्त की है, उन्हीं की बुद्धि स्थिर है और ऐसे कर्मयोगी को स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

स्थितप्रज्ञ बने रहने के लिए व्यक्ति को निरंतर साधना की आवश्यकता है, क्योंकि प्रबल इंद्रियां विवेकशील मनुष्य के मन को भी बलपूर्वक अपने से संबंधित विषयों के प्रति विचलित कर देती हैं। “जब किसी मनुष्य का मन इंद्रियों से संबंधित विषयों का ध्यान करने लगता है तब मन में उन विषयों के प्रति आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना से ही क्रोध का जन्म होता है। क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है, परिणामस्वरूप स्मृति-भ्रंश हो जाती है। स्मृति के नष्ट होने से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से पुरुष का सर्वनाश हो जाता है।”³⁹

शरीर को धारण करने वाली आत्मा, जब वासना के वशीभूत हो जाती है, तब उसे अपने स्वरूप की स्मृति नहीं रह जाती और उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है। बुद्धि के नष्ट होने पर वह पुरुष नष्ट हो जाता है, परंतु बाह्यकरण और अंतःकरण को अपने वश में करने वाला “मनुष्य, राग-द्वेष से मुक्त होकर इंद्रियों और उनसे संबंधित विषयों में विचरण करता हुआ भी अपनी आत्मा के आनंद को प्राप्त कर लेता है। आत्मा की शुद्धता में समस्त दुखों की समाप्ति हो जाती है और ऐसे विशुद्ध आत्मा वाले व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही आत्मा में स्थित हो जाती है। जिस पुरुष ने अपने मन और इंद्रियों को नहीं जीता, उसकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती है। जिसकी बुद्धि में एकाग्रता नहीं होती उसे शांति कहाँ ? जिसे शांति नहीं उसे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है?”⁴⁰

मनुष्य का मन जब संबंधित विषयों के पीछे भटकती इंद्रियों के पीछे भागता है, तब मनुष्य की बुद्धि को वैसे ही हर लेता है, जैसे वायु का बहाव नदी में नाव को अपने अनुसार बहा ले जाता है, इसलिए हे महाबाहु उसी मनुष्य की बुद्धि दृढ़ता से स्थिर होती है, जिसकी इंद्रियां अपने संबंधित विषय से सब प्रकार से हटा ली गई है।

मनुष्य की इंद्रियां जब तक अपने विषयों के प्रति व्यग्र होकर इधर-उधर भटकती रहती हैं, तब तक इंद्रियों के पीछे मन भी भटकता रहता है, ऐसी स्थिति में बुद्धि स्थिर नहीं होती, परिणामस्वरूप शांति और सुख की प्राप्ति नहीं होती है। स्थिर बुद्धि से निष्काम कर्म करने पर ही शांति और सुख की प्राप्ति होती है। इस संसार में सकाम कर्म करने के कारण ही व्यक्ति अशांति और दुख को भोगता है, इसलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि

“जब सब प्राणियों की रात होती है तब स्थितिप्रज्ञ जागता है और जब समस्त प्राणी जागते हैं, तब स्थितिप्रज्ञ मुनि के लिए रात होती है।”⁴¹

इच्छाओं के कारण मनुष्य के शरीर और संसार का जन्म होता है तथा उसके चित्त की चंचलता बनी रहती है। अस्थिर चित्त में शांति और सुख की प्राप्ति कैसे संभव है? संयमी पुरुष संसार के अन्य प्राणियों की भांति इच्छाओं के साथ नहीं जागता है, बल्कि इच्छाओं को त्यागकर सभी प्रकार की कामनाओं से मुक्त होकर कर्म करता है। मैं और मेरा की वृत्ति से युक्त होकर संसारी व्यक्ति कार्य करता है और स्थितप्रज्ञ पुरुष की संसार के किसी भी वस्तु के प्रति मैं और मेरा की वृत्ति समाप्त हो जाती है। वह पुरुष मुक्त होकर शांति के साथ कार्य करता है। जिसकी इच्छाएं शांत हो गई हैं उसे शांति और सुख तथा जो इच्छाओं के पीछे भागता है, उसे अशांति और दुख की प्राप्ति होती है।

उपनिषद के अनुसार मनुष्य का मन दो प्रकार का होता है— शुद्ध मन और अशुद्ध मन। अशुद्ध मन जीवन भर इच्छाओं को पूरा करने में लगा रहता है और समस्त इच्छाओं से मुक्त मन शुद्ध होता है। इस जगत में जो मनुष्य शुद्ध मन से काम करता है, उसे ही शांति और सुख मिलता है। “इस प्रकार इस संसार में जो मनुष्य अपनी संपूर्ण कामनाओं का परित्याग करके अहंकार से मुक्त होकर, निर्ममता और स्पृहा से रहित होकर विचरण करता है, वही शांति को प्राप्त करता है। अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने वाले पुरुष की यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त कर लेने के बाद योगी इस संसार में कभी मोहित नहीं होता और अपने जीवन के अंत समय में भी इसी ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर, ब्रह्म—निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।”⁴²

6.3.6 ज्ञान और अधिगम

किसी भी प्रकार का ज्ञान पांच ज्ञानेंद्रियों एवं अंतःकरण चतुष्टय के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। ज्ञान जीवंत तब होता है, जब वह व्यवहार में परिलक्षित होने लगे। ज्ञान का व्यवहार में दर्शन ही अधिगम है। किसी भी शिक्षण का उद्देश्य अधिगम को प्राप्त करना है। ऐसा ज्ञान जो हमारे व्यवहार को परिवर्तित न कर पाए, वह महज एक सूचना है। ज्ञान की सूचना दूसरों के काम तो आ सकती है, पर स्वयं के जीवन में इन सूचनाओं की कोई उपादेयता रह नहीं जाती है। फिर ज्ञान बोझ बन जाता है। ऐसा ज्ञान पीड़ादायक होता है। हम जो जानते हैं उसे जी नहीं पाते, यही जीवन की विडंबना है।

सामान्यतः जीवन में अपने और अपनों के लिए व्यक्ति युद्ध करता है, परंतु कई बार परिस्थितियां ऐसी भी होती हैं कि अपनों के साथ युद्ध करना पड़ सकता है। जब युद्ध अपनों के साथ हो, तब मनःस्थिति सामान्य नहीं रह जाती है। असामान्य मनःस्थिति में ज्ञान काम नहीं आता, यही ज्ञान का अभिशाप है। जब उसकी आवश्यकता होती है, तब वह भूल जाता है। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति कर्तव्य पथ से विचलित होने लगता है। अर्जुन ऐसे ही मानसिक विचलन की दशा में विषादग्रस्त है। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा इस मानसिक विषाद से मुक्ति के लिए गीता के ज्ञान का अधिगम कराया गया है। **अधिगम, मनःस्थिति और परिस्थिति का समायोजन है।** जीवन में संतुलन इसी समायोजन से आता है। असंतुलन के कारण ही मन विषाद ग्रस्त होता है और इस विषाद से मुक्ति ज्ञान के अधिगम से संभव है।

6.3.7 लोक में मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का अधिगम

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा “मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस जगत में दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन किया गया है, जो चिंतनशील प्रकृति के सांख्ययोगी है उनको ज्ञान, योग से और जो कर्मशील प्रकृति के योगी हैं, उन योगियों को कर्मयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है।”⁴³

इस जगत में जन्म लेने वाले जीव की मुक्ति के लिए कर्मयोग के मार्ग की भांति ही ज्ञानयोग का मार्ग भी उतना ही समर्थ है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन दो प्रकार के मार्गों का वर्णन आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अंतर्मुखी और बहिर्मुखी स्वभाव के व्यक्तियों के लिए किया गया है।

“चिंतनशील प्रकृति के व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति, जीवन के सत्य को खोजने की होती है। यथार्थ सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ज्ञानयोगियों का स्वभाव है, इसलिए आध्यात्मिक चिंतन कर आत्म साक्षात्कार करना, सांख्ययोगियों का कर्म है। आत्मसाक्षात्कार के परिणामस्वरूप इस दृश्य जगत में प्रकृति के गुण ही गुणों में क्रियाशील हैं। इस यथार्थ सत्य का ज्ञान, योगी को हो जाता है। ज्ञानयोगी इस समझ के साथ शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से होने वाले संपूर्ण क्रियाओं के कर्तापन से मुक्त होकर, सर्वव्यापी परमात्मा में एकात्म भाव से स्थित हो जाता है। आत्मभाव में स्थित होने को ही ज्ञानयोग कहते हैं। इसी को कर्म-संन्यासयोग भी कहते हैं। बहिर्मुखी अर्थात् कर्मशील प्रकृति के व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति कर्म करने की होती है। दो प्रकार के कर्म होते हैं— सकाम कर्म और निष्काम कर्म।”⁴⁴

6.3.7.1 सकाम कर्म— किसी अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला कर्म, सकाम कर्म कहलाता है। जीवन में सुख और दुख की प्राप्ति इसी कर्म के परिणामस्वरूप होती है। इस जगत में जीव के बंधन का कारण सकाम कर्म है। सामान्यतया इस जगत में जन्म लेने वाले जीव के जन्म, आयु और भोग का कारण, कामना से युक्त कर्म ही होता है। लाभ-हानि, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि की प्राप्ति, फल की इच्छा से प्रेरित होकर किए जाने वाले कर्म के परिणामस्वरूप होती है। अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होने के कारण ही जीव, अज्ञानता के कारण इस प्रकार के कर्म को करता है और सुख को प्राप्त करने की तथा दुख से मुक्त होने की इच्छा में जीवन व्यतीत कर देता है।

6.3.7.2 निष्काम कर्म— फल की कामना और आसक्ति को त्यागकर सफलता और असफलता के प्रति समत्वबुद्धि के साथ किए जाने वाले कर्म को निष्काम कर्म करते हैं। निष्काम कर्म करने की कुशलता को ही योग कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्म को कर्मयोग, समत्वयोग, मदर्थकर्म, बुद्धियोग, तदर्थकर्म आदि संज्ञा से विभूषित किया गया है।

गीता में योग से तात्पर्य कर्मयोग से है। कर्मयोग के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि “हे अर्जुन कर्म के फल में तेरा अधिकार नहीं है। मात्र कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, इसलिए किसी भी कर्म के फल का कारण तू मत बन और न ही कर्म नहीं करने के प्रति तेरी आसक्ति हो।”⁴⁵

इस संसार में तू समस्त आसक्ति को छोड़कर, सिद्धि और असिद्धि में समत्व बुद्धि से युक्त होकर अपने कर्तव्य कर्म को करो। समत्वयोग में समबुद्धि से युक्त पुरुष, इस लोक में पाप-पुण्य से मुक्त होकर कर्म करने में कुशल होता है। कर्म की इस कुशलता को ही योग कहते हैं। गीता में योग का अधिगम ही कर्मयोग है।

इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी, कर्म किए बिना एक पल भी नहीं रह सकता है, क्योंकि प्रकृति के गुणों से निर्मित यह संसार और संसार में जन्म लेने वाला प्राणी सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से परवश होकर कर्म करने के लिए बाध्य है। इस जगत में मनुष्य न तो कर्मों को आरंभ किए बिना कर्मयोग निष्ठा को और न तो कर्मों के त्याग से सांख्य निष्ठा को ही प्राप्त कर सकता है, इसलिए निष्कर्म को प्राप्त करने के लिए पुरुष को उस अवस्था में होना चाहिए जिस अवस्था में कर्म में अकर्म देखने की दृष्टि प्राप्त हो। इस दृष्टि के साथ किए जाने वाले कर्म में कर्मफल का बंधन नहीं होता है।

इस संसार में जो मंदबुद्धि मनुष्य, अपनी कर्मेन्द्रियों से हठपूर्वक कर्म करने से रोक देता है और मन तथा अपनी ज्ञानेन्द्रियों से संबंधित विषयों का चिंतन करता रहता है, वह मिथ्याचारी है। इसलिए “हे अर्जुन, जो मनुष्य मन से अपनी इंद्रियों को वश में करके आसक्ति से रहित होकर समत्व योग में बुद्धि को स्थिर करके कर्म करता है वही श्रेष्ठ कर्मयोगी है। तुम जो शास्त्रविहित कर्म हैं, उन्हें अपना कर्तव्य कर्म समझकर कर्म करो, क्योंकि कर्म नहीं करने की अपेक्षा, कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो व्यक्ति के शरीर का निर्वाह भी संभव नहीं है।”⁴⁶

इस मृत्युलोक में जन्म लेने वाले प्रत्येक प्राणी को कर्म करना ही पड़ता है। कामनाओं से निर्मित इस जगत में जीव के जन्म और मृत्यु का कारण उसकी अनंत इच्छाएं हैं। जिस प्रकार इच्छाओं से प्रेरित होकर और इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही अज्ञानी लोगों द्वारा फलासक्त होकर सकाम कर्म किया जाता है, उसी प्रकार आसक्ति से रहित होकर विद्वानों द्वारा लोक संग्रह के लिए समत्व भाव के साथ अपना कर्तव्य कर्म किया जाता है।

वास्तव में इस जगत में सारे कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जाते हैं, परंतु जिनका चित्त अहंकार से युक्त है ऐसे अज्ञानी लोग ही अपने आप को कर्ता मान बैठते हैं, परंतु हे महाबाहु, इस मायावी जगत में गुण—विभाग अर्थात् पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध यह पांच विषय तथा इनकी परस्पर चेष्टा को कर्म—विभाग कहते हैं। इनको जो यथार्थ में जानने वाला है वह ज्ञानयोगी, गुण ही गुणों में कार्य करते हैं, इस समझ के साथ कभी आसक्त नहीं होते हुए, अपने कर्तव्य कर्म को अनासक्त भाव से करता है। इसलिए “हे अर्जुन, तुम अपने संपूर्ण कर्मों को मुझ परमात्मा में अर्पित करके आशारहित, ममतारहित और शोकरहित होकर अपना कर्तव्य कर्म करो अर्थात् युद्ध करो।”⁴⁷

इस संसार में प्रत्येक वस्तु रजोगुण से आवृत है। यह गुण मनुष्य में काम और क्रोध को उत्पन्न कर बलात् पुण्य और पाप के प्रति प्रेरित करता है। कभी न पूरी होने वाली इच्छाओं के आवरण से ज्ञान आवृत रहता है। मनुष्य का मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अनंत इच्छाओं के रहने के स्थान हैं। आत्मज्ञान को आवृत करने वाली इच्छाएं हैं, जो सत्य, सनातन, शाश्वत, शरीरधारी आत्मा को पथभ्रष्ट करती हैं। इंद्रियां विषयों से बड़ी हैं, इंद्रियों से भी बड़ा मन है, मन से भी बड़ी बुद्धि है, परंतु इन सब से बड़ी आत्मा है, जिसने शरीर को धारण किया है। इसलिए “हे अर्जुन, तुम इस ज्ञान और विवेक के द्वारा आत्मा को

आत्मा में स्थित कर, अपनी इंद्रियों को अपने नियंत्रण में रखकर काम और क्रोध रूपी मनुष्य के शत्रु का विनाश कर दो।”

इस प्रकार गीता में मोक्ष की प्राप्ति के लिए सांख्यनिष्ठा में ज्ञानयोग और योगनिष्ठा में कर्मयोग का वर्णन किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण के मिले-जुले वचनों से अर्जुन की बुद्धि भ्रमित होने लगी और अर्जुन भगवान से कहने लगा कि हे केशव जिस मार्ग से मेरा कल्याण हो, कृपया वही मार्ग निश्चित करके मेरा मार्गदर्शन करें। “यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, तो हे कृष्ण ! मुझे युद्ध जैसे भयंकर कर्म करने के लिए क्यों प्रेरित कर रहे हैं।”⁴⁸

6.3.8 पुरातन योग की परंपरा का वर्णन

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इस लोक में कभी नष्ट नहीं होने वाली, कर्मयोग की परंपरा का वर्णन इस प्रकार किया है कि इस नित्य योग का ज्ञान मैंने विवस्वान को दिया था, विवस्वान अर्थात् सूर्य ने अपने पुत्र मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया था। ज्ञान की इस परंपरा से योग को राजर्षियों ने जाना। दीर्घकाल से यह योग इस लोक में नष्ट हो गया था। तू मेरा भक्त और सखा है इसलिए इस पुरातन योग अर्थात् कर्मयोग जो सबसे उत्तम रहस्य है, को आज मैंने तुझसे कहा है।

योग की इस परंपरा का वर्णन सुनने के पश्चात् अर्जुन के मन में यह प्रश्न उठा कि विवस्वान का जन्म तो बहुत प्राचीन है और तुम्हारा जन्म अर्वाचीन है, तब किस प्रकार यह ज्ञान तुमने विवस्वान को दिया? भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तुम्हारा और मेरा जन्म कई बार हो चुका है। मैं उन सब को जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते। मेरा स्वरूप अजन्मा, अविनाशी है। मैं समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ, फिर भी प्रकृति को अपने अधीन करके, मैं योगमाया से प्रकट होता हूँ। “जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब हे भारत, मैं साकार रूप से जन्म लेता हूँ। साधुओं के परित्राण के लिए और दुष्टजनों के विनाश के लिए मैं प्रत्येक युग में जन्म धारण करता रहता हूँ। मेरा जन्म और मेरा कर्म दिव्य है, जो व्यक्ति मेरे इस दिव्यता को तत्त्व से जान लेता है, वह शरीर को त्यागने के पश्चात्, पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होकर, मुझे ही प्राप्त होता है।”⁴⁹

तत्त्व से मुझे जानने वाले ऐसे लोग जिन्होंने राग, भय और क्रोध से अपने को मुक्त कर लिया है वे ज्ञानरूप, तप से पवित्र होकर अनन्य प्रेम से मुझ में स्थित हो, मेरे ही आश्रित होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। जो लोग जिस भावना के साथ मेरे पास

आते हैं, उन्हें मैं उसी भावना के साथ स्वीकार करता हूँ। इस प्रकार हे अर्जुन सभी मनुष्य, सभी तरह से मेरे ही मार्ग का अनुगमन करते हैं। “मनुष्य के गुण और कर्म अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में मैंने ही चार वर्णों की रचना की है। इनका रचयिता होने के बाद भी, न तो मैं कोई कर्म करता हूँ और न ही मुझ में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन होता है।”⁵⁰

वास्तव में यही मेरा यथार्थ स्वरूप है, इसे तू जान। किसी भी प्रकार के कर्मफल में मेरी कोई स्पृहा नहीं है और न ही कोई कर्म, मुझे दूषित करता है। इस प्रकार तत्व से जो मुझे जान लेता है, वह सभी प्रकार के कर्म बंधनों से मुक्त हो जाता है। पूर्व काल में मोक्ष की इच्छा से प्रेरित होकर मुमुक्षु-जनों ने मेरे इस स्वरूप को जानकर कर्म किए हैं, इसलिए उन पूर्वजों की भांति हमेशा से किए जाने वाले उसी प्रकार के कर्मों को, तू भी कर।

6.3.9 कर्म अकर्म और विकर्म का अधिगम

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस विषय पर विचार कर निर्णय करने में बड़े-बड़े ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं, इसलिए कर्म क्या है? इसका मैं तत्व से विवेचन करूंगा, जिससे कि तुम सब प्रकार के अशुभ कर्म अर्थात् बंधन में बांधने वाले कर्मों से मुक्त हो जाओगे।

6.3.9.1 कर्म— कर्म की गति को समझना आसान नहीं, बहुत कठिन है। मनुष्य को यह जानना चाहिए कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है? साथ ही साथ यह भी जानना चाहिए कि विकर्म अर्थात् गलत कर्म क्या है? क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है। “ज्ञानी मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है। कर्म को देखने की ऐसी दृष्टि जिसके पास है वह योगी है और योग से युक्त होकर, अपने सभी कर्मों को करने वाला है।”⁵¹

गीता में कर्म से तात्पर्य निष्काम कर्म से है। यह कर्म अनासक्त होकर समत्व भाव के साथ किया जाता है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए किए जाने वाले कर्म से निष्काम कर्म अलग है। इस कर्म के परिणामस्वरूप व्यक्ति का मानसिक संतुलन विचलित नहीं होता है और वह भगवान के साथ एकात्मता स्थापित करके, अपने कर्तव्य कर्म का पालन करता है। आत्मशांति के लिए आसक्ति से मुक्त होकर, समत्व भाव में बुद्धि को स्थिर करके निष्काम कर्म करना पड़ता है। इस प्रकार से कार्य करने की कुशलता को ही योग कहते हैं। गीता में योग का अर्थ कर्मयोग है।

6.3.9.2 अकर्म— अकर्म से आशय आसक्ति से रहित होकर किए जाने वाले ऐसे कर्म से है, जिसके परिणामस्वरूप कर्म का बंधन समाप्त हो जाता है। फल की कामना से किया जाने वाला कर्म बंधनकारी होता है और फल की आशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से, जो कर्म किया जाता है उसमें बंधन का अभाव रहता है, इसलिए ऐसे कर्म को अकर्म की संज्ञा दी गई है। गीता की दृष्टि में ऐसे कर्म को सात्विक भी कहते हैं। यह सात्विक कर्म ही अकर्म कहलाता है। अकर्म का अर्थ कर्म—शून्यता कदापि नहीं है, क्योंकि इस जगत में जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत मनुष्य कभी कर्मशून्य हो ही नहीं सकता। जब हम शरीर से कुछ नहीं कर रहे होते हैं, तब भी शरीर से कुछ न कुछ होता ही रहता है। जैसे— सोना, उठना, बैठना, चलना आदि कर्म।

इसलिए अकर्म वह कर्म है, जिसमें अनासक्त होकर निष्काम बुद्धि से कर्म बंधन से मुक्ति दिलाने वाला कार्य किया जाता है। कार्य करने की इस पद्धति को सात्विक कर्म कहते हैं। दूसरे शब्द में इसी को अकर्म कहते हैं। गीता के अनुसार अकर्म के अलावा दो प्रकार के कर्म और होते हैं, जिन्हें राजसिक कर्म और तामसिक कर्म कहते हैं। कर्मफल की कामना से युक्त होकर आसक्ति से किए जाने वाले कर्म को राजसिक कर्म कहते हैं। यह कर्म बंधनकारी होता है। अकर्म में जहां बंधन का अभाव होता है वहीं राजसिक कर्म बंधनकारी होता है।

6.3.9.3 विकर्म— जो कर्म अज्ञानता और मोह के वशीभूत होकर किया जाता है, उसे विकर्म कहते हैं। मोह के कारण कर्म नहीं करने को भी विकर्म ही कहा जाता है। यह कर्म तामसिक गुणों से प्रेरित होकर किया जाने वाला गलत कर्म है, जो मूर्ख लोग अज्ञान, मोह और दुराग्रह से प्रेरित होकर करते रहते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म का वर्णन किया गया है। योग की साधना में रत साधक को योग के अधिगम से भली-भांति इनका अर्थ समझकर कर्मयोग की साधना करनी चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि “हे अर्जुन, जो लोग कामनाओं के संकल्प से मुक्त होकर अपने सभी कर्म करते हैं, जिनके सभी कर्म ज्ञान की अग्नि में भस्म हो गए हैं, उन्हें ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं।”⁵²

पंडित उसे कहते हैं, जिसमें कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने की कुशलता योग के अधिगम से प्राप्त हो गई हो, जिसने अपने सभी कर्मों को ज्ञान की अग्नि में जला

दिया हो, उससे विकर्म कभी नहीं हो सकता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि कर्म की गति बड़ी गहन है, जिसे ज्ञानी लोग ही समझ सकते हैं।

6.3.10 यज्ञार्थ कर्म में ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता का वर्णन

इस संसार में इच्छाओं के कारण व्यक्ति जन्म लेता है और अधूरी इच्छाओं के साथ उसकी मृत्यु होती है। जन्म से लेकर मृत्यु होने तक इच्छाओं की पूर्ति के लिए सकाम कर्म करते हुए, फल की आकांक्षा में मनुष्य अपना जीवन व्यतीत कर देता है। फल की कामना से प्रेरित होकर किया जाने वाला कर्म आसक्ति और बंधन का कारण बनता है। जिस मनुष्य का चित्त ज्ञान में स्थित होकर, देहाभिमान से रहित हो जाता है, उसकी आसक्ति समाप्त हो जाती है और वह मुक्त होकर, कर्म को यज्ञ की भांति करता है।

राग-द्वेष के संग से मुक्त होकर समत्व बुद्धि से युक्त चित्त वाले व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला कर्म यज्ञ है। अनासक्त बुद्धि से जो यज्ञ किया जाता है, वह मोक्ष प्रदान करने वाला होता है क्योंकि उस कार्य के परिणामस्वरूप किसी भी प्रकार के फल की प्राप्ति की आकांक्षा शेष नहीं रहती है, इसलिए वह कर्म यज्ञ हो जाता है और वह यज्ञ मोक्ष प्रदान करने वाला कर्म बन जाता है। “ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए ब्रह्म यज्ञ किया जाता है। इस यज्ञ में यज्ञ कर्म करने वाला कर्ता, हवन की सामग्री, वह अग्नि जिसमें आहुति दी जाती है, सब ब्रह्म रूप हो जाता है।”⁵³ ऐसे ब्रह्म में स्थित योगी द्वारा जो कर्म किया जाता है और उसका जो परिणाम प्राप्त होता है, वह सब का सब ब्रह्म रूप ही हो जाता है।

इस प्रकार इस संसार में योग के साधकों द्वारा विभिन्न प्रकार के यज्ञ कर्म किए जाते हैं। जैसे देवयज्ञ, इंद्रिय संयम और उनके विषयों के हवन के लिए किया जाने वाला यज्ञ, अंतःकरण चतुष्टय के संयम हेतु किया जाने वाला यज्ञ, द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, तपयज्ञ, स्वाध्याय से युक्त ज्ञानयज्ञ इत्यादि। इन विभिन्न प्रकार के यज्ञ कर्मों के लिए योगीजन प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, जिसमें अपानवायु में प्राणवायु का और प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं। कुछ लोग नियमित आहार ग्रहण कर प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों में ही प्राणों का हवन किया करते हैं। ये सभी यज्ञ कर्म के साधक पापों का नाश करने वाले यज्ञ को वास्तव में जानने वाले तथा यज्ञ से बचे हुए अमृत का उपभोग करने वाले हैं, जो लोग यज्ञ कर्म नहीं करते, उन्हें न तो इस लोक में और न ही परलोक में सुख की प्राप्ति होती है।

“हे परंतप पार्थ, द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सभी प्रकार के कर्मों की समाप्ति ज्ञान में हो जाती है। उस ज्ञान को तुम किसी तत्त्वदर्शी ज्ञानी के पास जाकर उन्हें दंडवत करके, उनकी सेवा करके और उनसे प्रश्न करके, तत्त्वज्ञान का उपदेश प्राप्त कर सकते हो।”⁵⁴

हे अर्जुन इस तत्त्वज्ञान को जान लेने के पश्चात तू मोह से मुक्त हो जाएगा और यह ज्ञान ही तुम्हें सबसे पहले संपूर्ण भूतों को अपने में, उसके पश्चात मुझमें देखने की दृष्टि प्रदान करेगा। इस ज्ञान की नौका पर सवार होकर बड़ा से बड़ा पापी भी पापों के पार हो जाता है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि अपने ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि में संपूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं। “इस जगत में ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु कुछ भी नहीं है। योग के द्वारा जो व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, उसके शुद्ध अंतःकरण में आत्मज्ञान अपने आप प्रकट हो जाता है। यह ज्ञान उस श्रद्धावान व्यक्ति को प्राप्त होता है, जो अपनी इंद्रियों को वश में करके ज्ञान की प्राप्ति के लिए तत्पर होकर ज्ञान प्राप्ति के परिणामस्वरूप वह शीघ्र ही परम शांति को प्राप्त कर लेता है।”⁵⁵

अज्ञानता के कारण श्रद्धा से रहित मनुष्य संशय से युक्त स्वभाव वाला होकर नष्ट हो जाता है, जिनका स्वभाव संशय से युक्त है, उसे इस लोक और परलोक में कहीं भी सुख की प्राप्ति नहीं होती है। जिसने योग के अधिगम से कर्मबंधन को त्याग दिया है और ज्ञान के द्वारा समस्त संशय को समाप्त कर आत्म साक्षात्कार कर लिया है, उस पुरुष का कर्म बंधनकारी नहीं होता है, इसलिए “हे अर्जुन अज्ञान के कारण हृदय में उत्पन्न संशय को विवेकज्ञान की तलवार से काटकर, समत्व बुद्धि से युक्त होकर स्वधर्म के लिए कर्म करने हेतु खड़ा हो जा।”⁵⁶

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा यज्ञ के लिए किए गए कर्मों में ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता का वर्णन सुनकर, अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि आपके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्ति के पश्चात कर्मों से सन्यास की प्रशंसा के साथ ही साथ, निष्काम कर्मयोग की भी प्रशंसा की गई है। सांख्ययोग और कर्मयोग में से मेरे लिए जो निश्चित और कल्याणकारी मार्ग हो उसको बताइए।

6.3.11 सांख्ययोग और कर्मयोग से एक समान फल की प्राप्ति तथा कर्मयोग की श्रेष्ठता का वर्णन

धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए अपने विरुद्ध अपने स्वजनों को देखकर आसक्ति के कारण, अर्जुन के मन में युद्ध नहीं करने की अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म से संन्यास की भावना का जन्म हुआ, जिसके परिणामस्वरूप कर्म जिज्ञासा को लेकर मन में अनेक प्रकार के प्रश्न प्रकट हो गए। उन्हीं प्रश्नों में से सांख्ययोग अर्थात् कर्म-संन्यासयोग और कर्मयोग में मेरे लिए क्या करने योग्य है? जिससे मेरा कल्याण हो सकेगा। यह प्रश्न भी अर्जुन के मन में उत्पन्न हुआ। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग को अलग-अलग समझने वाले लोग मूर्ख होते हैं। पंडित लोग ऐसा नहीं समझते हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञात होता है कि सांख्ययोग या कर्मयोग किसी भी एक मार्ग का आचरण करने पर दोनों के फल की प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञानयोग की साधना में रत योगियों द्वारा जिस परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसी स्थान की प्राप्ति कर्मयोग की साधना में रत योगियों को भी होती है। जो पुरुष सांख्ययोग और कर्मयोग को एक ही प्रकार का फल प्रदान करने वाला देखता है, वास्तव में वही देखता है। “परंतु हे महाबाहु कर्मयोग के बिना संन्यास को प्राप्त कर पाना कठिन है। अपने सच्चिदानंद आत्मस्वरूप का मनन करने वाला मुनि, कर्मयोग की साधना से उस ब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।”⁵⁷

योग के अधिगम से जिस योगी ने मन को अपने वश में करके इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर लिया है, ऐसा कर्मयोगी समत्व बुद्धि से युक्त होकर अपने शुद्ध अंतःकरण से सभी प्राणियों की आत्मा में अपनी ही आत्मा का दर्शन करता है। वह कोई भी कार्य करता हुआ पाप-पुण्य कर्म के बंधन में नहीं पड़ता है। यद्यपि कर्म संन्यास और कर्मयोग यह दोनों मार्ग मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले हैं, तथापि कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की साधना करना श्रेष्ठ है।

“हे महाबाहु अर्जुन, जो मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता और न ही किसी प्रकार की आकांक्षा करता है, उसे नित्य संन्यासी ही जानना चाहिए, क्योंकि ऐसा पुरुष सुख-दुख आदि द्वंद्व से मुक्त होकर कर्म के बंधन से मुक्त हो जाता है।”⁵⁸

इस जगत में जन्म लेने वाले प्रत्येक प्राणी को कर्म तो करना ही पड़ता है, कर्म के बिना तो एक क्षण भी शरीरधारी जीव नहीं सकता है, इसलिए निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों मार्ग के साधकों को कर्म करना ही पड़ता है।

द्रष्टा और दृश्य के संयोग से इस दृश्य जगत का निर्माण हुआ है। इस संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या से जन्म लेने वाले अहंकार से युक्त होकर किया जाने वाला कर्म बंधनकारी होता है। योगविद्या के अधिगम से जड़-चेतन के अविद्याजनित संयोग से मुक्ति मिलने के पश्चात्, इस संसार में आसक्ति से रहित होकर योगी समत्व बुद्धि के साथ निष्काम भाव से अपने कर्तव्य कर्म का पालन करता है। इस प्रकार निष्काम कर्म से साधक कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है। कर्मयोगी केवल अपने अंतःकरण की शुद्धि के लिए शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से सभी प्रकार की आसक्ति को त्यागकर अपना कर्तव्य कर्म करता है।

योग से युक्त होकर कर्म के फलों में आसक्ति को त्यागकर, निष्काम कर्म करने से शांति की प्राप्ति होती है और कामनाओं से प्रेरित होकर कर्मफलों में आसक्त होकर किया जाने वाला सकाम कर्म बंधन का कारण बनता है। “अपने सभी कर्मों को ब्रह्म में अर्पित करते हुए आसक्ति को त्यागकर जो पुरुष कर्म करता है, उसे पाप उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते, जिस प्रकार कमल के पत्ते को पानी स्पर्श नहीं करता है।”⁵⁹

इस प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों की साधना से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, परंतु ज्ञानयोग के अधिगम से कर्मों के त्याग की अपेक्षा, कर्मयोग के अधिगम से समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्मों के फलों की आसक्ति से रहित होकर, निष्काम भाव से कर्म करना श्रेयस्कर है। इस जगत में जन्म लेने वाला कोई भी जीव, एक क्षण के लिए भी कर्म के बिना नहीं रह सकता है।

प्रकृति और पुरुष के योग से निर्मित इस दृश्य जगत में गुण ही गुणों में क्रियाशील हैं। ज्ञानी इसे जान लेने के बाद कर्म के बंधन से मुक्त हो जाता है। यहां कर्म बंधन से तात्पर्य कर्म के फलों में होने वाली आसक्ति से है, क्योंकि आसक्ति ही जीव के बंधन का कारण बनती है। कर्मयोगी आसक्ति से रहित होकर समत्व बुद्धि से कर्म करता है। हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि परिणाम ऐसे कर्मयोगी के कर्म बंधन का कारण नहीं बनते हैं।

6.3.12 विज्ञानसहित ज्ञान का वर्णन

विज्ञानसहित ज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान से है, जिसको जान लेने के पश्चात जानने योग्य कुछ शेष नहीं बचता है। इस सृष्टि में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो इस परम ज्ञान को प्राप्त कर परमात्मा के स्वरूप को तत्त्व से जान सकता है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हजारों मनुष्यों में कोई एक मुझे प्राप्त करने का प्रयास करता है और उन प्रयास करने वालों में कोई एक मुझको तत्त्व से जान पाता है।”⁶⁰

अनन्य भाव से अपने मन को परमात्मा में एकाग्र तथा उन्हीं के परायण होकर योग का अभ्यास करते हुए, संशय से रहित होकर समग्र रूप से परमात्मा को जाना जा सकता है। सृष्टि के संपूर्ण भूतों का एकमात्र कारण परमात्मा है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार— यह आठ प्रकार की मेरी अपरा प्रकृति है और इसके अतिरिक्त जिसके कारण यह संपूर्ण जगत धारण किया जाता है वह जीवरूपा अर्थात् चैतन्य रूप मेरी परा-प्रकृति है। अपरा और परा रूप से विभक्त मेरी दो प्रकार की प्रकृतिओं से ही जगत के सारे जीव उत्पन्न होते हैं।

यह जगत मुझसे ही उत्पन्न होता है, मुझ में ही स्थित है और मुझ में ही इसका प्रलय हो जाता है। इस प्रकार से जगत का मूल कारण मैं ही हूँ। हे धनंजय, मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस जगत का परम कारण नहीं है। यह संपूर्ण पंचमहाभूतों से निर्मित सृष्टि मणियों की तरह मुझ में ही गुथी हुई है। संपूर्ण भूतों का सनातन बीज मैं ही हूँ। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रकृति के गुण हैं और इन तीन गुणों से उत्पन्न होने वाले भाव मेरे ही कारण होते हैं, परंतु वास्तव में वे भाव न तो मुझ में हैं और न ही मैं उन भावों में हूँ। प्रकृति के तीन गुणों के कारण ही जगत के जीव सात्विक, राजसिक और तामसिक भावों से मोहित होकर इन तीनों गुणों से रहित, मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानते हैं, “क्योंकि मेरी त्रिगुणात्मक माया बड़ी अद्भुत है, इसको जीत पाना बड़ा कठिन है, परंतु जो लोग मेरी शरणागति को प्राप्त कर लेते हैं वे इस दैवी माया से पार हो जाते हैं, परंतु जिनका ज्ञान माया के द्वारा ही हर लिया गया हो, ऐसे आसुरी स्वभाव के नीच प्रकृति के लोग दूषित कर्म करने में लगे रहते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते हैं।”⁶¹

जगदीश की परा और अपरा प्रकृति से इस जगत में जीवों के जन्म, जीवन और मृत्यु की घटना घटित होती है। इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का एकमात्र कारण जगदीश है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का कार्य रूप यह जगत और इसमें

जन्म लेने वाले जीवों के जीवन में सात्विक, राजसिक और तामसिक भावों का कारण परमात्मा होते हुए भी वह गुणातीत है। प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से मुक्त परमेश्वर को त्रिगुणात्मक प्रकृति से निर्मित शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार से कैसे जाना जा सकता है?

इस संसार में जन्म लेने वाले सारे जीव त्रिगुणात्मक माया से मोहित होकर, प्रकृति के अधीन अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं। इस माया से पार पाना बड़ा कठिन है। परमात्मा की माया से मुक्ति, उनकी शरणागति से ही संभव है। जिस पुरुष ने अपने मन को परमात्मा में एकाग्र करके, योग का अभ्यास करते हुए उनकी शरण को स्वीकार कर लिया है, वह इस त्रिगुणात्मक संसार समुद्र से पार हो जाता है।

6.3.13 भक्तियोग के अधिगम से मुक्ति

भगवान की परा और अपरा प्रकृति से सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त यह पंचभूतात्मक सृष्टि हुई है। यहां जन्म लेने वाले जीव, इन्हीं गुणों से मोहित होकर अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं। जन्म, जीवन और मृत्यु का यह सतत् सांसारिक प्रवाह त्रिगुणात्मक माया के अधीन चलता रहता है, इससे मुक्ति पाना बहुत कठिन है। माया ईश्वर के अधीन है और संपूर्ण सांसारिक प्रपंच माया के अधीन है।

इस संसार में माया से मुक्ति का एकमात्र आधार ईश्वर है, क्योंकि वह माया से मुक्त है। शरीर, संसार और संसार को धारण करने वाला जीव भी परमात्मा की अपरा और परा नामक त्रिगुणात्मक प्रकृति के अधीन कार्य करते हैं। इस संसार का एकमात्र कारण परमात्मा है और परमात्मा माया के अधीन नहीं है, इसलिए इस त्रिगुणात्मक माया से मुक्ति का एकमात्र आधार, परमात्मा की भक्ति है। इस भक्तियोग से जीवात्मा त्रिगुणात्मक प्रकृति से रहित परमात्मा का अधिगम कर सकता है।

जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत जीव के जीवन में अधिगम की प्रक्रिया देखकर, सुनकर, समझकर, पढ़कर इत्यादि तरह से सतत् चलती रहती है। अपनी आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति हर पल कुछ न कुछ सीखता रहता है। व्यक्ति के जीवन व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को ही अधिगम कहा जाता है।

“इस शरीर और संसार का निर्माण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन बुद्धि और अहंकार नामक आठ प्रकार की प्रकृतियों से हुआ है, इनको अपरा प्रकृति कहते

हैं। अपरा प्रकृति को धारण करने वाली जीवात्मा को परा प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार दो प्रकार की प्रकृतियों से शरीर और संसार की सृष्टि हुई है।⁶²

संसार के सभी जीव अपरा और परा प्रकृति के अधीन रहकर अपना जीवनयापन करते हैं। इस जगत में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी जो ज्ञानयोग से प्रकृति के एकमात्र कारण, परमात्मा को जानकर तथा उनकी भक्तियोग के अधिगम से अपने जीवात्म भाव से मुक्त होकर त्रिगुणात्मक प्रकृति के बंधन से मुक्त हो सकता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की कार्य रूप यह सृष्टि और इस सृष्टि में जन्म लेने वाले जीवों का स्वभाव सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति का होता है। अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर मनुष्य परमात्मा की भक्ति करता है।

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन, श्रेष्ठ कर्म करने वाले तथा मेरा भजन करने वाले चार प्रकार के मेरे भक्त होते हैं— अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन सब में से ज्ञानी भक्त जो नित्य ब्रह्म के साथ संयुक्त रहते हुए अनन्य भाव से मेरी भक्ति करता है, वह श्रेष्ठ है। मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी भक्त को मैं अत्यंत प्रिय और वह भक्त मुझे भी अत्यंत प्रिय है। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्त ये सभी उदार हैं, परंतु मेरे मत में ज्ञानी भक्त साक्षात् मेरा ही स्वरूप है, क्योंकि वह योग का अभ्यास करता हुआ, मुझमें ही स्थित हो जाता है।”⁶³

त्रिगुणात्मक माया के इस नश्वर संसार में जीव सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से मोहित होकर इन सबसे परम, शाश्वत, शुद्ध, बुद्ध, सारे गुणों से रहित, परमात्मा को नहीं जानता है। परमात्मा को जान लेने के बाद संसार में जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। भगवान की त्रिगुणात्मक माया के अधीन रहकर माया को जीत पाना कठिन है, परंतु जिन्होंने भगवान की शरणागति ले ली है, वे भक्तजन इस माया से आसानी से पार हो जाते हैं।

द्रष्टा और दृश्य के संयोग से इस जगत का निर्माण हुआ है तथा इस संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या से जन्म लेने वाले इस दृश्य जगत में दुख है। भगवान की अपरा और परा प्रकृति से निर्मित इस जीव जगत में दुखों से मुक्ति पाने के लिए भगवान की भक्ति एक सरल साधन है। अपने स्वभाव और आवश्यकता के अनुसार भक्तियोग की साधना करने वाले भक्तों की चार प्रकार की श्रेणियां श्रीमद्भगवद्गीता में बताई गई हैं।

जीवन में आर्थिक विपन्नता से पीड़ित होकर जब अर्थ की कामना से भगवान की भक्ति की जाये, तब ऐसी भक्ति करने वाले भक्ति करने व्यक्ति को **अर्थार्थी भक्त** कहते हैं। इसी प्रकार जब दुख से पीड़ित व्यक्ति, दुख से मुक्ति पाने की कामना से प्रेरित होकर भगवान की भक्ति करता है, तब ऐसे व्यक्ति को **आर्त-भक्त** कहते हैं। भगवान को जानने की जिज्ञासा से प्रेरित होकर जब व्यक्ति भगवान की उपासना करता है, तब ऐसे व्यक्ति को **जिज्ञासु-भक्त** कहते हैं और जिसने भगवान के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर अपने को योग में स्थित कर लिया है, उसे अब इस संसार में जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता है, ऐसे भगवान की भक्ति करने वाले को **ज्ञानी-भक्त** कहते हैं। ज्ञानी भक्त अन्य तीन प्रकार के भक्तों से श्रेष्ठ है, क्योंकि उसे योग के अधिगम से अपने आत्मस्वरूप के बोध के साथ ही साथ, अपने अंशी परमात्मा का भी बोध हो जाता है। अविनाशी जीवात्मा-परमात्मा का ही अंश है। इस प्रकार चार श्रेणियों में विभक्त भक्तों में ज्ञानी-भक्त श्रेष्ठ है।

6.4 श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की यौगिक तकनीक

धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में युद्ध की आकांक्षा से एकत्रित कौरव और पांडव सेनाओं के मध्य में खड़े अर्जुन के हृदय में चलने वाले द्वंद्वयुद्ध के परिणामस्वरूप गीता प्रकट होती है। मनुष्य की चेतना जब चित्तवृत्तियों के अनुसार विचार और व्यवहार करती है, तब जिस मनः-स्थिति का निर्माण होता है-उसी का प्रतीक अर्जुन है और श्रीकृष्ण शरीरधारी चित्त की वृत्तियों से मुक्त चौतन्यस्वरूप, विशेष पुरुष के प्रतीक हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य संवाद के रूप में भौतिक युद्ध को निमित्त बनाकर, मनुष्य के मन में चलने वाले वैचारिक द्वंद्व-युद्ध का वर्णन गीता में किया गया है। मनुष्य ईश्वर का अंश है और ईश्वर रूप हुए बिना, उसे सुख और शांति का अनुभव नहीं होता है। आत्म-दर्शन से ईश्वरीय रूप की अभिव्यक्ति होती है और इस अभिव्यक्ति के लिए किया गया प्रयत्न ही सच्चा पुरुषार्थ है। गीता का उद्देश्य आत्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील साधक को आत्म दर्शन कराना है। वास्तव में आत्म साक्षात्कार करने का अद्वितीय उपाय निष्काम कर्मयोग अर्थात् कर्मफल का त्याग है। श्रीमद्भगवद्गीता का संपूर्ण प्रतिपाद्य विषय कर्मफल की कामना से मुक्त होकर ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय से युक्त योगशास्त्र का वर्णन है।

मनुष्य एक क्षण के लिए भी कर्म से मुक्त नहीं हो सकता है। जहां शरीर है, वहां कर्म तो निश्चित है और कर्म में कुछ न कुछ दोष भी होता है। जिससे मुक्ति केवल निर्दोष मनुष्य को ही मिलती है। कर्मफल की कामना ही कर्म का दोष है। जिससे मुक्ति पाने के

लिए श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक तकनीक के रूप में निष्काम कर्म, यज्ञार्थ कर्म, ईश्वर को अर्पित करके किया जाने वाला कर्म, फल का त्याग करके किये जाने वाले कर्म का वर्णन विस्तार से किया गया है।

निष्कामता का अधिगम अर्थात् कर्मफल के त्याग का अधिगम मात्र कहने और सुनने से ही संभव नहीं होता है। योग विद्या के अधिगम से जब अविद्या का नाश होता है और जड़-चेतन की ग्रंथि का भेदन होता है, तब शरीर और संसार के नाशवान होने और आत्मा के शाश्वत होने का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के श्रवण, मनन और निधिध्यासन से त्याग की शक्ति उत्पन्न होती है, ज्ञान के साथ भक्ति के योग से युक्त कर्म को गीता में विशेष महत्व दिया गया है। भक्ति रहित ज्ञान कभी-कभी विकृत रूप ले लेता है। इसलिए गीताकार ने कहा कि भक्ति करने से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के लक्षण जैसे ही बताए गए हैं। जो ईर्ष्या-द्वेष से रहित हो, अहंता-ममता से मुक्त हो, करुणा संपन्न हो, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय में जो समभाव रखता हो, जो किसी भी स्थिति में सदा संतुष्ट हो, जिसने शुभ और अशुभ का त्याग कर दिया हो, जो शत्रु और मित्र के प्रति समान भाव रखने वाला हो, जिसने अपना शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब ईश्वर को अर्पण कर दिया हो, जो अपनी प्रशंसा से प्रसन्न नहीं होता और निंदा से दुखी नहीं होता है, जिसकी दृष्टि में मान और अपमान समान हो, जो मौन धारण करने वाला और एकांत प्रिय हो, जिसकी बुद्धि स्थिर हो, वह भक्त है। ऐसी स्थिति में रहने वाला भक्त कभी आसक्त नहीं होता है। आसक्त मनुष्य से ऐसी भक्ति संभव नहीं है। ज्ञान प्राप्त करना या भक्त होना, आत्म दर्शन से भिन्न नहीं है।

ज्ञानी हो या भक्त, कर्म के बिना किसी को सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि “मेरे लिए इस संसार में करने योग्य कुछ भी नहीं है, परंतु फिर भी मैं कर्म करता हूँ, क्योंकि यदि मैं आलस्य रहित होकर कर्म न करूँ तो समस्त लोकों का नाश हो जाए।”⁶⁴

शरीर और मन के द्वारा की जाने वाली प्रत्येक चेष्टा कर्म है। मनुष्य कर्म करते हुए बंधन से मुक्त कैसे रहे? इसके संबंध में गीता कहती है कि प्रत्येक व्यक्ति को फल की आसक्ति को छोड़कर कर्म करना चाहिए, निष्काम कर्म करना चाहिए, आशा से रहित होकर कर्म करना चाहिए। फल की चिंता छोड़कर कर्म करने वाला मनुष्य ऊंचा उठता है और कर्म को छोड़ने वाला मनुष्य ऊंचा उठने के बजाय गिर जाता है।

कर्मफल के त्याग को ही राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी अनासक्ति योग कहते हैं। “गीता के अनुसार जो कर्म आसक्ति के बिना किया ही नहीं जा सके, वह कर्म त्याग देने योग्य है, क्योंकि आसक्ति के कारण ही हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह आदि कर्म किए जाते हैं। अनासक्ति योग से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह कर्म होता है।”⁶⁵

महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र में वर्णित अष्टांग योग के प्रथम अंग यम के अंतर्गत इन पंच कर्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनका क्रमशः पालन करने से मनुष्य का जीवन सरल और शांतिपूर्ण हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के शिक्षण और अधिगम से मनुष्य के जीवन में सत्य का ज्ञान और कर्म में अहिंसा का उदय होता है। कर्मफल की आसक्ति से रहित होने पर मनुष्य के जीवन में न तो झूठ बोलने का लालच होता है और न ही हिंसा करने की इच्छा होती है। कामना से युक्त होकर कर्म करने के परिणामस्वरूप झूठ बोलने और हिंसा करने की प्रवृत्ति विकसित होती है। शरीर के रहते कर्म के बिना एक क्षण भी रहना संभव नहीं है। किसी फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर किया जाने वाला कर्म बंधनकारी और कर्मफल की आसक्ति से रहित होकर किया जाने वाला कर्म मोक्ष प्रदान करने वाला होता है। गीता में योग से तात्पर्य कर्मयोग से है और इसकी सिद्धि कर्मफल की अनासक्ति से होती है। कर्म के बंधन से मुक्ति के लिए गीता में निष्काम कर्मयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है।

6.4.1 श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्ययोग की यौगिक-तकनीक

इस जगत में जीव को यथार्थ ज्ञान के बिना, शोक से मुक्ति नहीं मिलती है। इस मृत्युलोक में जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है, यह यथार्थ ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाता है वह पंडित, जीवित और मृत व्यक्तियों के लिए शोक नहीं करता है। प्रत्येक देहधारी के देह में शैशवावस्था, कुमारवस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था की जैसे प्राप्ति होती है, वैसे ही देह छुटने के बाद, दूसरे देह की भी प्राप्ति होती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष शरीर और संसार में प्राप्त होने वाले सुख-दुख के प्रति व्यथित नहीं होता है। जो सर्वव्यापक, शाश्वत, अव्ययतत्त्व है, उसी में यह सारा जगत व्याप्त है और वही अविनाशी है, दृश्य जगत तो नाशवान है। “सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का अस्तित्व नहीं होता है। शरीर को धारण करने वाला अविनाशी तत्त्व, आत्मा अमर है। न तो यह किसी को मारती है और न ही किसी के द्वारा मारी जा सकती है, क्योंकि आत्मा अजन्मा है इसलिए अमर है।”⁶⁶

जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। शरीर में परिवर्तन और मृत्यु अवश्यंभावी है, परंतु शरीर को धारण करने वाली आत्मा, अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। जिस पुरुष को शरीर और आत्मा का यथार्थ ज्ञान है, वह कैसे किसी को मार अथवा किसी को मरवा सकता है? आत्मा को न किसी शस्त्र के द्वारा वेधा जा सकता है, न आग द्वारा जलाया जा सकता है, न पानी द्वारा भिगोया जा सकता है और न ही वायु द्वारा सुखाया जा सकता है। देहधारी आत्मा, जीर्ण—शीर्ण हो चुके देह को छोड़कर नए देह को वैसे ही धारण कर लेती है, जैसे मनुष्य पुराने कपड़े को छोड़कर, नया वस्त्र धारण कर लेता है। जो बुद्धिमान पुरुष इस सत्य, सनातन, शाश्वत, नित्य, अचल, स्थिर, विकार—रहित और सर्वव्यापी आत्मा को जानता है, वह शोक ग्रस्त नहीं होता है। वह जानता है कि जन्म लेने वाले प्राणी की मृत्यु और मृत्यु को प्राप्त हुए प्राणी का जन्म निश्चित है। अतः जो निश्चित है, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है।

इस जगत् में सभी भूतों के जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् की स्थिति का वर्णन कर पाना संभव नहीं है, क्योंकि वह अज्ञात और अव्यक्त है। जीव के जन्म और मृत्यु के बीच की स्थिति ही प्रकट होती है, इसलिए इसके लिए चिन्ता की क्या आवश्यकता है ? जो आरंभ से पहले और अंत के बाद अव्यक्त है, वह बीच में मात्र व्यक्त जैसा प्रतीत होता है। इस परिवर्तनशील दृश्य जगत् में “द्रष्टा अर्थात् आत्मा को कोई आश्चर्य से देखता है, कोई आश्चर्य से वर्णन करता है, कोई आश्चर्य से इस वर्णन को सुनता है, परंतु देखने, कहने और सुनने मात्र से कोई इसे जान नहीं सकता है।”⁶⁷

सबके शरीर को धारण करने वाली आत्मा, शाश्वत, अपरिवर्तनशील और जन्म—मृत्यु से परे है। बुद्धिमान पुरुष, जन्म और मृत्यु को प्राप्त करने वाले पंचमहाभूतों से निर्मित शरीर और जगत् के प्रति शोक नहीं करते हैं।

सत्य, सनातन, शाश्वत, आत्मा में स्थित रहने वाला व्यक्ति संसार के सुख—दुख आदि द्वंद से मुक्त होता है। उसे जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करने तथा जो प्राप्त है उसकी रक्षा करने अर्थात् योग—क्षेम की चिन्ता नहीं रहती है। जिसे अपने आत्मस्वरूप की अनुभूति हो जाती उस ब्रह्मपरायण मनुष्य को संपूर्ण वेदों का ज्ञान आत्मानुभूति से प्राप्त हो जाता है। ऐसे पुरुष की निश्चयात्मक बुद्धि होती है। यह बुद्धि एकरूप होती है और अनिश्चय वाले पुरुषों की उनकी वासनाओं के अनुसार अनेक प्रकार की बुद्धि होती है।

संसार के विषय वासनाओं में आसक्त भोग और ऐश्वर्य के आकांक्षी पुरुषों की बुद्धि अनंत इच्छाओं के अनुरूप ही अनंत होती है। ऐसे पुरुष वेदों की शाब्दिक चर्चा करते हुए कहते हैं, कि इसके अतिरिक्त दूसरा ज्ञान है ही नहीं। वे संसार में कामनाओं की पूर्ति और स्वर्ग को श्रेष्ठ मानकर कर्म करने में तत्पर रहते हैं। संसार के भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोगों की बुद्धि अंततः नष्ट हो जाती है। “वास्तव में प्रकृति के तीन गुण अर्थात् सत्तोगुण, रजोगुण और तमोगुण ही वेदों के विषय हैं। आत्म-परायण पुरुष को इनसे अलग रहकर, प्रकृतिजनित सुख-दुख आदि द्वंद्वों से मुक्त होकर आत्मानुभूति के लिए तत्पर रहना चाहिए।”⁶⁸

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हे अर्जुन इस कर्मभूमि में व्यक्ति को मात्र कर्म करने का ही अधिकार है, उस कर्म से उत्पन्न होने वाले फलों पर नहीं। किसी कर्मफल का कारण भी व्यक्ति को नहीं बनना चाहिए और कर्म को नहीं करने का आग्रह भी जीवन में नहीं रहना चाहिए।”⁶⁹

मनुष्य के जीवन में प्राप्त होने वाले परिणाम से उत्पन्न किसी भी समस्या के समाधान के लिए कर्म करने की यह तकनीकी पर्याप्त है। किसी भी व्यक्ति को अपनी कामना के अनुरूप प्राप्त परिणाम सुख तथा अपनी इच्छा के प्रतिकूल परिणाम दुख का अनुभव कराती है। सुख की प्राप्ति और दुख से मुक्ति की कामना से युक्त होकर, मनुष्य इस कर्मभूमि में कर्म करता है। सुख-दुख से मुक्त होकर सफलता और असफलता के प्रति समान भाव रखकर समत्व भाव के साथ किए जाने वाले कर्म को योग कहते हैं।

यौगिक तकनीक से योगस्थ रहकर कर्म करने का कौशल विकसित होता है। समत्वबुद्धि का आश्रय ले कर, पुरुष को फल की कामना का त्याग करके कर्म करना चाहिए। सकाम कर्म करने वाले पुरुष तो दया के पात्र हैं। बुद्धि से युक्त पुरुष इस संसार में ही अपने जीवन में पाप-पुण्य से मुक्त होकर समत्व भाव को साधने का प्रयास करता है, क्योंकि समत्व भाव के साथ कार्य करने की कुशलता को ही योग कहते हैं। मुनि लोग समत्व बुद्धि से फल की आसक्ति को त्याग कर कर्म करते हुए, पुनर्जन्म से मुक्त हो कर निष्कलंक मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। “समत्व योग के अधिगम से बुद्धि जब समाधि में स्थिर होती है, तब अनेक प्रकार के ज्ञान से विचलित बुद्धि का विचलन दूर होता है और साधक के योग की सिद्धि होती है।”⁷⁰ विकार रहित, शांतचित्त के साथ सत्-चित् आनंदपूर्ण जीवन जीने के कौशल का विकास होता है।

सांख्ययोगी स्थितप्रज्ञ होता है। वह शरीर और संसार की समस्त कामनाओं का त्याग कर, आत्मा में स्थित रहकर आत्मा से ही संतुष्ट रहता है। जिसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है वह राग, द्वेष, भय और क्रोध से मुक्त होकर निष्काम भाव से कर्म करते हुए सुख-दुख में सम रहता है। जो राग से मुक्त है, वह आकांक्षा रहित पुरुष, जीवन में अनुकूलता की प्राप्ति होने पर उसका स्वागत नहीं करता और जीवन की प्रतिकूलता उसे व्याकुल नहीं करती हैं, क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर होती है। शरीरधारी मनुष्य आहार का परित्याग कर इंद्रियों को उनके विषयों के प्रति होने वाले राग को शिथिल अवश्य कर सकता है, परंतु विषयों के प्रति मन में रहने वाले रस को नहीं मिटा पाता है। मन की शांति अपने आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अर्थात् परब्रह्म के दर्शन के साथ ही संभव है। मनुष्य अपनी बुद्धि से इंद्रियों को वश में करने का प्रयास तो करता है, पर इंद्रियां अपने संबंधित विषयों के प्रति मन को बलात पूर्वक हर लेती हैं। जो स्थितप्रज्ञ है, वह अपनी इंद्रियों को वश में करके आत्मा में स्थित रहता है।

“शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से जो पुरुष विषयों का चिंतन करता है, उसके मन में विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना और कामना से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध उत्पन्न हो जाने पर मुढ़ता और मुढ़ता से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप ज्ञान का नाश हो जाता है। जिस पुरुष का ज्ञान नष्ट हो जाता है वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है।”⁷¹ जिस पुरुष की बुद्धि स्थिर होती है वह राग-द्वेष रहित मन को अपने वश में करके, इंद्रियों द्वारा यथोचित विषयों को ग्रहण कर, चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त करता है। प्रसन्नता से उसके सारे दुख नष्ट हो जाते हैं। “जिसकी बुद्धि में समत्व भाव नहीं है, उसमें विवेक जागृत नहीं होता है और विवेक के अभाव में भक्ति नहीं होती, भक्ति रहित चित्त में शांति नहीं होती है और जहां शांति नहीं है, वहां सुख कहाँ है ?”⁷² जिस पुरुष का मन विषयों में भटकने वाली इंद्रियों के पीछे दौड़ता है उसकी बुद्धि उसी प्रकार हर ली जाती है, जिस प्रकार वायु पानी में चलने वाले नाव को अपने प्रवाह के अनुसार कहीं भी खींचकर ले जाता है। स्थिर बुद्धि पुरुष की इंद्रियां अपने विषयों से मुक्त होकर उसके वश में रहती हैं।

जगत के सभी प्राणी इंद्रियों और उनसे संबंधित विषयों के साथ जागते हैं, पर ज्ञानवान मुनि लोग वहां सोते हैं। जिस समय सभी प्राणी सोते हैं, उस समय संयमी पुरुष जागता है। शरीर और संसार के विषय भोगों में संलिप्त और आसक्त मनुष्य अपने

आत्मस्वरूप को भूलकर भोगों की कामना को बढ़ाता रहता है, परंतु संयमी पुरुष आत्म जागृति के साथ विषय भोगों के प्रति सोया रहता है। जिन विषयों भोगों की लालसा के प्रति लोग जागते रहते हैं ज्ञानवान मुनि उन विषय भोगों के प्रति सोया रहता है, क्योंकि उसे मालूम होता है कि जीवन में शांति, सांसारिक विषयों के भोग की इच्छा के शांत होने से आती है, विषयों के भोग की कामना से नहीं। “शांति उस पुरुष को प्राप्त होती है जो अपनी समस्त कामनाओं का परित्याग करके इच्छा, ममता और अहंकार से मुक्त होकर इस संसार में रहता है।”⁷³

आत्म साक्षात्कार के पश्चात स्थितप्रज्ञ पुरुष को यह स्थिति प्राप्त होती है। वह इस जगत में मोह से मुक्त होकर मृत्यु के समय ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

6.4.2 श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग की यौगिक-तकनीक

जीवन में कई बार ऐसी परिस्थितियों का निर्माण होता है, जिसमें व्यक्ति कर्म नहीं करने का मन से संकल्प ले लेता है, परंतु मात्र कर्म के बाह्य त्याग से इस संकल्प की सिद्धि नहीं होती है। इस जगत में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी कर्म किए बिना एक पल भी नहीं रह सकता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने वाले प्राणी गुणों के वशीभूत होकर कर्म करने के लिए विवश हैं। ऐसा मनुष्य जो इंद्रियों को कर्म करने से रोकता है, किंतु मन से इंद्रियों से संबंधित विषयों का चिंतन करता रहता है, वह निष्कर्म नहीं वरन मिथ्याचारी होता है। श्रेष्ठ मनुष्य वह होता है, जो मन से इंद्रियों का नियमन करते हुए असंग रहकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा अपने कर्तव्य कर्म का निर्वहन करता है। वह कर्मयोगी है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना नियत कर्म करना चाहिए क्योंकि कर्म नहीं करने की अपेक्षा, कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर का व्यापार भी नहीं चल सकता है।

कामनाओं से प्रेरित होकर किए जाने वाले कर्मों से बंधन और निष्काम भाव से किए जाने वाले कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। “इस जगत में यज्ञार्थ कर्म किए जाने योग्य है। आसक्ति से रहित होकर जो कर्म किया जाता है उसे यज्ञार्थ कर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कर्म जगत में बंधन का कारण बनते हैं।”⁷⁴ प्रजा को यज्ञ से उत्पन्न करने वाले प्रजापिता ब्रह्मा ने कहा है कि यज्ञ इच्छानुसार फल देने वाला है। इसके द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त करो। यज्ञ से तुम्हारे द्वारा देवों का पोषण हो और देवों द्वारा तुम्हारा पोषण हो। यज्ञ से संतुष्ट हुए देव तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करेंगे।” इस प्रकार मनुष्य को जो भोग देवताओं द्वारा प्राप्त है, उसका उपभोग बिना बदला चुकाए करना चोरी है। इसलिए जो

मनुष्य केवल अपने लिए भोग तैयार करते हैं वह पाप खाते हैं, और जो यज्ञ कर्म से बचा हुआ भाग खाते हैं, वह पाप से मुक्त हो जाते हैं।

“यज्ञ कर्म से होता है, यज्ञ से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न होता है और अन्न से पंचभूतात्मक प्राणी उत्पन्न होते हैं।”⁷⁵ इस जगत में जो भी कर्म होता है, वह प्रकृति से होता है और प्रकृति अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होती है। इस प्रकार सर्व व्यापक ब्रह्म यज्ञकर्म में प्रतिष्ठित रहता है। मनुष्य को इस चक्र का अनुसरण करना चाहिए। जो इसका अनुसरण नहीं करता है, वह इंद्रिय सुखों में लिप्त रहता हुआ, जीवन को पाप पूर्ण बनाकर व्यर्थ ही गवां देता है। जो मनुष्य आत्मा में स्थित रहकर, आत्मा से ही तृप्त और संतुष्ट रहता है, उसके लिए कुछ करना आवश्यक नहीं रहता है। कर्म करने या नहीं करने में उसका कोई भी स्वार्थ शेष नहीं होता है। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “तुम संग का परित्याग करते हुए अपने कर्तव्य कर्म को करो, क्योंकि संग रहित होकर कर्तव्य कर्म को करने वाला मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है। कर्म के द्वारा ही महाराज जनक आदि जैसे पुरुषों ने परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि प्राप्त की है।”⁷⁶

प्रत्येक मनुष्य को लोक संग्रह का विचार करते हुए अपने कर्तव्य कर्म को करना चाहिए। सामान्य लोग, उत्तम पुरुष जिस प्रकार का आचरण करते हैं, उसी का अनुकरण करते हैं। उत्तम पुरुष जिस आदर्श की स्थापना करते हैं, उसी को प्रमाण मानते हुए सामान्य जन अनुसरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हे पार्थ तीनों लोकों में मेरे लिए करने योग्य कोई भी कर्म शेष नहीं है, और संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मुझे प्राप्त नहीं हो। इसके बाद भी मैं लोक संग्रह के लिए सदा कर्म में लगा रहता हूँ। मैं यदि निरंतर कर्म में प्रवृत्त न रहूँ तो सारे लोक नष्ट हो जाएं और जगत की अव्यवस्था का कारण मैं बन जाऊँ। जिसमें संपूर्ण मानव जाति नष्ट हो जाए।”⁷⁷ जगत के लोग मेरे इस उदाहरण का सभी तरह से अनुसरण करने लगेंगे, इसलिए मैं निरंतर कर्म में लगा रहता हूँ।

हे भारत! ज्ञानी व्यक्ति को आसक्ति से रहित होकर जगत के कल्याण के लिए उसी प्रकार कर्म करना चाहिए, जिस प्रकार अज्ञानी लोग जगत के प्राणी पदार्थों में आसक्त होकर कर्म करते हैं। ज्ञानी पुरुष को, जिसको ज्ञान नहीं है, उसकी बुद्धि को विचलित किए बिना, समत्व स्थापित करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य कर्म को करने की प्रेरणा देनी चाहिए। वास्तव में इस जगत में प्रत्येक कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जाते हैं,

परंतु अविद्या के कारण अहंकार से ग्रसित मनुष्य स्वयं को कर्ता मान लेता है। हे महाबाहो वह पुरुष जो इस गुण और कर्म के विभाग के रहस्य को भली-भांति जानता है, वह आसक्त नहीं होता है, क्योंकि उसे ज्ञात होता है कि गुण ही गुणों पर कार्य करते हैं। “त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों में आसक्त रहने वाले मनुष्य मोह से ग्रस्त हो जाते हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि अज्ञानी मोहग्रस्त पुरुषों की बुद्धि को विचलित न करें।”⁷⁸

मनुष्य को आत्म-वृत्ति के साथ अपने सभी कर्म परमात्मा को समर्पित करते हुए आसक्ति और ममता को छोड़कर राग-द्वेष से रहित होकर, अपने कर्तव्य कर्म को करना चाहिए। जो मनुष्य परब्रह्म परमात्मा में श्रद्धा रखकर, राग-द्वेष को छोड़ कर कर्म करते हैं, वे कर्म के बंधन से मुक्त हो जाते हैं, परंतु जो मनुष्य ऐसा नहीं करते हैं, वे ज्ञान से हीन और मूर्ख है, उनका नाश होना सुनिश्चित है। मनुष्य ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, प्रत्येक प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार ही आचरण करते हैं। इंद्रियों का अपने से संबंधित विषयों के प्रति राग-द्वेष का होना स्वाभाविक है। बुद्धिमान मनुष्य राग-द्वेष के वश में नहीं होता है, क्योंकि उसे ज्ञात होता है कि यह दोनों योग मार्ग के शत्रु हैं। कामनाओं से प्रेरित होकर मनुष्य जब कर्म करता है, तब वह सकाम कर्म बंधन का कारण बन जाता है।

रजोगुण के कारण काम और क्रोध का जन्म होता है और कामनाएं कभी पूरी नहीं होती हैं। इसलिए इस जगत में काम और क्रोध को शत्रु समझना चाहिए। काम और क्रोध रूपी शत्रु मनुष्य के ज्ञान को उसी प्रकार ढक लेते हैं, जिस प्रकार धुआं आग को, धूल दर्पण को और आवल गर्भ को ढक लेता है। ज्ञानी पुरुष का ज्ञान ढक लेने वाली और सदा अतृप्त रहने वाली काम रूपी अग्नि वास्तव में शत्रु है। काम और क्रोध रूपी शत्रु का निवास स्थान इंद्रियां, मन और बुद्धि हैं। इन तीनों के द्वारा आत्मा का स्वरूप ढका होने के कारण जीव मोह में पड़ जाता है। योगी अपनी इंद्रियों को अपने वश में रखकर ज्ञान का नाश करने वाले काम और क्रोध रूपी शत्रु का त्याग कर देते हैं। इंद्रियां सूक्ष्म हैं, मन इंद्रियों से भी सूक्ष्म है और मन से भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि है, आत्मा बुद्धि से भी सूक्ष्म है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हे महाबाहो तुम आत्मा को बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म जानकर, आत्मा के द्वारा अपने मन को वश में करके काम और क्रोध के रूप में अपने दुर्जय शत्रु का संघार करो।”⁷⁹

6.4.3 श्रीमद्भगवद्गीता में ध्यानयोग की यौगिक—तकनीक

वह मनुष्य जो अपने कर्तव्य कर्म का निर्वहन कर्मफल का आश्रय लिए बिना करता है, वह योगी भी है और सन्यासी भी है। अग्निहोत्र का त्याग करने वाला और अपनी क्रियाओं का त्याग करने वाला न तो सन्यासी है और न ही योगी है। जिस पुरुष ने अपने मन से संकल्पों का त्याग नहीं किया हो, वह योगी नहीं हो सकता है। वास्तव में जिसे सन्यास कहते हैं, उसे योग ही समझना चाहिए। योग की साधना करने वाले मनुष्य के लिए कर्म एक प्रकार का साधन है और जिस साधक ने योग सिद्ध कर लिया, उसके लिए उपशम और शांति ही साधन है। योगारूढ़ वह मनुष्य कहलाता है जिसे कर्मों में कोई आसक्ति नहीं होती है और मन से जिसने अपने समस्त संकल्पों को त्याग दिया है। वास्तव में “आत्मा ही आत्मा का शत्रु और मित्र है। जिस मनुष्य ने आत्मबल से अपने आप को जीत लिया है, उसकी आत्मा मित्र है और जिसने अपने आप पर विजय प्राप्त नहीं किया, उसकी आत्मा स्वयं के प्रति शत्रु जैसा बर्ताव करती है।”⁸⁰

मनुष्य को अपनी आत्मा की अधोगति को रोककर आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार करना चाहिए। आत्मबल से अपने मन को जीतने वाला पूर्ण रूप से शांत हो जाता है। उसकी आत्मा सुख—दुख, शीत—उष्ण, लाभ—हानि, जीवन—मरण और यश—अपयश में समान रहती है। “अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान से तृप्त हुआ मनुष्य स्थिर बुद्धि से अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। सोना, मिट्टी और पत्थर में उसके लिए कोई भेद नहीं रह जाता है। ऐसे ईश्वरपरायण पुरुष को योगी कहते हैं। श्रेष्ठ योगी शुभेच्छु, शत्रु, मित्र, प्रिय, अप्रिय, पापी और साधु के प्रति समान भाव रखता है।”⁸¹

योगी अपने चित्त को आत्मा में स्थिर करके समस्त वासनाओं के त्याग तथा अपरिग्रह का पालन करते हुए एकांतवास करता है। ऐसा योगी किसी पवित्र स्थान में जो न अधिक ऊंचा हो और न अधिक नीचा हो पर मृगचर्म, कुशा अथवा वस्त्र बिछाकर स्थिर आसन में बैठकर, एकाग्र मन के साथ अपनी इंद्रियों को वश में करके शुद्ध चित्त से आत्मा में स्थित होने के लिए योग की साधना करता है। इसमें स्थिर शरीर से अपनी ग्रीवा और मस्तक को एक सीध में स्थिर रखकर, अपने नशिकाग्र पर दृष्टि को एकाग्र करते हुए, शांति, भयरहित और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ईश्वर में ध्यान लगाया जाता है।

इस प्रकार जिसका मन नियंत्रित हो जाता है वह अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ते हुए मोक्ष रूपी परम शांति का अनुभव करता है। समत्व योग की सिद्धि न तो

बहुत खाने वाले, न ही भोजन का त्याग कर उपवास करने वाले को, न अधिक सोने वाले को और न ही आवश्यकता से अधिक जागने वाले को सिद्ध होती है। “आहार—विहार, सोने और जागने के साथ ही अन्य कार्यों को यथोचित अनुपात में करने वाले पुरुष को समस्त दुखों का नाश कराने वाले योग की सिद्धि होती है। मनुष्य का चित्त जब आत्मा में स्थिर हो जाता है और समस्त कामनाओं से निस्पृह हो जाता है, तब योग की सिद्धि होती है।”⁸² जिस योगी की आत्मा परमात्मा से जुड़ गई है, उसका चित्त उसी प्रकार स्थिर हो जाता है, जिस प्रकार वायु से रहित स्थान में दीपक की लौ स्थिर हो जाती है। मन जिस स्थिति में शांति का अनुभव करता है, आत्मा के द्वारा आत्मा को पहचान कर आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, अनंत सुख का जिस स्थिति में अनुभव होता है, दुख के संयोग से वियोग की उस स्थिति को ही योग कहते हैं। इस योग की दृढ़ता से साधना करनी चाहिए।

योगी को मन के संकल्प से उत्पन्न समस्त कामनाओं का त्याग करके मन द्वारा इंद्रियों को नियंत्रित करके, स्थिर बुद्धि से शांत होकर मन को आत्मा में स्थिर करते हुए संसार के किसी अन्य वस्तु का विचार नहीं करना चाहिए। जिस पुरुष का चंचल चित्त उसके वश में होकर, भली—भांति शांत हो गया है और उसके विकारों का शमन हो गया है, ऐसा निष्पाप योगी उत्तम सुख को प्राप्त करता है। जो निरंतर आत्म अनुसंधान में लगा रहता है, वह ब्रह्म रूपी अनंत सुख का अनुभव करता है। जिसकी दृष्टि सर्वत्र समभाव से युक्त रहती है, वह सारे भूतों को अपने में और सर्व भूतों में अपने को देखता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “जो मुझे सब में देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह न कभी मेरी दृष्टि से दूर होता है और न ही मैं उसकी दृष्टि से दूर होता हूँ।”⁸³

इस प्रकार जो योगी मुझ में लीन रहता है, वह समस्त भूतों में मुझे ही देखता है तथा सब प्रकार के कर्म करते हुए भी वह मुझ में ही रहता है। वह मनुष्य जो सबको अपने समान ही समझता है, और सब के सुख—दुख को अपने जैसा ही अनुभव करता है वह श्रेष्ठ योगी है।

चंचल मन को अपने वश में कर पाना मनुष्य के लिए बड़ा कठिन है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य की साधना करने से मन को वश में किया जा सकता है। जिसका मन उसके वश में नहीं है, योग की साधना उसके लिए अत्यंत कठिन है, किंतु जिसका मन उसके वश में है और वह योग की साधना के लिए प्रयत्नशील है, उसे एक दिन योग की

सिद्धि हो जाती है। आत्म कल्याण के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति की दुर्दशा कभी नहीं होती है।

पुण्यात्मा पुरुषों की भांति योग की साधना में भ्रष्ट हुए पुरुषों को भी उचित स्थान की प्राप्ति होती है। योग का जिज्ञासु पुरुष भी सकाम वैदिक कर्म करने वाले लोगों की स्थिति के पार चला जाता है। योग की साधना में निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने वाला योगी, पापों से मुक्त होकर अनेक जन्मों के बुद्धि संस्कारों से विशुद्ध होता हुआ, परम गति को प्राप्त कर लेता है।

“हे अर्जुन तपस्वी से श्रेष्ठ श्रेष्ठ योगी है, ज्ञानी से भी योगी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म की साधना में लगे कर्मकाण्ड करने वालों से भी श्रेष्ठ योगी है। इसलिए हे अर्जुन तुम योगी बनो। जो अपने मन को परमात्मा में लीन करके ईश्वर का भजन करता है, वह योगियों में सर्वश्रेष्ठ है।”⁸⁴

6.4.4 श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग की यौगिक-तकनीक

परमात्मा की भक्ति से आत्म स्वरूप के ज्ञान के साथ ही साथ योग के मार्ग में आने वाले विघ्नों का भी नाश होता है। परमात्मा का दर्शन अनन्य भक्ति से ही संभव है, परमात्मा का नित्य ध्यान करते हुए जो पुरुष अपने मन को परमात्मा में लीन करके श्रद्धा से उन्हीं की उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ योगी कहलाते हैं। “अव्यक्त, अचल, सर्वव्यापक, अचिंत्य, धीर, अविनाशी और अनिर्वचनीय परमात्मस्वरूप की उपासना जो पुरुष करता है, वह सर्वत्र समभाव में स्थित रहकर अपनी इंद्रियों को अपने वश में करके, सर्व भूतों के हित में रत रहकर अंततः परमात्मा को ही प्राप्त होता है।”⁸⁵

देहधारी मनुष्य परमात्मा के निराकार स्वरूप की कल्पना कर सकता है, परंतु साकार स्वरूप की सहायता के बिना निराकार स्वरूप तक पहुंचना थोड़ा कठिन अवश्य है। अव्यक्त की उपासना करने वाले देहधारी पुरुषों का चित्त अनेक प्रकार के कष्टों को उठाकर ही अव्यक्त की गति को प्राप्त कर सकता है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “हे पार्थ मेरे परायण होकर अपने सभी कर्मों को मुझे समर्पित करते हुए जो पुरुष एकनिष्ठा से ध्यान करते हुए, मेरी उपासना करते हैं तथा जिनका चित्त मुझमें लीन रहता है, इस प्रकार के पुरुषों को मैं संसार सागर से पार कर देता हूं।” तुम अपने मन को मुझ में एकाग्र करो और अपनी बुद्धि को मुझे समर्पित कर दो, ऐसा कर देने से तुम निश्चित ही अगले जन्म में मुझे ही प्राप्त करोगे। यदि तुम्हारा मन मुझ में स्थिर नहीं होता है, तो तुम

अभ्यास योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की कामना करो। यह अभ्यास करने में भी यदि तुम असमर्थ हो तब अपने समस्त कर्म मुझे अर्पित कर दो। इस प्रकार मेरे परायण होकर निमित्त मात्र से कर्म करते हुए, तुम मोक्ष को प्राप्त करोगे और निमित्त मात्र से कर्म करने की भी शक्ति यदि तुझमें नहीं है तो तुम अपनी समस्त कर्मों के फल का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दो।

“वास्तव में ज्ञान का मार्ग अभ्यास के मार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ है, ध्यान का मार्ग, ज्ञान के मार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ है और कर्मफल के त्याग का मार्ग, ध्यान के मार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्मफल के त्याग से शीघ्र ही शांति प्राप्त हो जाती है।”⁸⁶

जो पुरुष सर्व भूतों के प्रति दयावान, क्षमावान, सबका मित्र है, समस्त प्राणियों के प्रति राग-द्वेष से रहित है, सुख-दुख के प्रति समभाव रखता है, सदा संतुष्ट रहता है, इंद्रिय निग्रही है, अहंता और ममता से रहित है, दृढ़ निश्चय वाला है और जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है। जो न किसी से उद्विग्न होता है और न ही किसी को उद्विग्न करता है। हर्ष, भय, क्रोध, उद्वेग और ईर्ष्या से जो मुक्त है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

वह पुरुष जो इच्छा से रहित है, परम पवित्र है, कुशल है, कर्म के फल के प्रति तटस्थ है, भय और चिंता से मुक्त है, मन से जिसने अपने समस्त संकल्पों को त्याग दिया है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। जो हर्ष से हर्षित नहीं होता, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी प्रकार की चिंता नहीं करता, आशाएं जिसको नहीं बांधती और जिसने शुभ-अशुभ का परित्याग कर दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है। “शत्रु, मित्र, मान, अपमान, शीत, उष्ण, सुख-दुख इन सब के प्रति जिसने समता को धारण कर लिया है, जिसने आसक्ति को त्याग दिया है, जो निंदा और स्तुति में एक जैसा रहता है और मौन को धारण किए रहता है, जो प्राप्त हो जाए उसी में संतोष करता है, किसी भी प्रकार के आश्रय स्थान से जो रहित है, ऐसा स्थिर चित्त वाला भक्त मुझे प्रिय है।”⁸⁷

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मेरे परायण होकर श्रद्धापूर्वक परमपवित्र इस ज्ञानामृत का सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यंत प्रिय हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, पृष्ठ सं. 17।
2. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, पृष्ठ सं. 15।
3. स्वामी तेजोमयानन्द (2006) श्रीमद्भागवत- प्रवचन, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई- 400072 (महाराष्ट्र) पृष्ठ सं. 16-17।
4. जयसवाल डॉ० सीताराम, (2004) भारतीय मनोविज्ञान और शिक्षा, आर्य बुक डिपो करोल बाग नई दिल्ली पृष्ठ सं. 153।
5. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/11,12 पृष्ठ सं. 516।
6. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 2/20-25 पृष्ठ सं. 132-134।
7. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 2/47 पृष्ठ सं. 60।
8. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2/48-50 पृष्ठ सं.
9. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर पृष्ठ सं. 60-61।
10. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/48-50 पृष्ठ सं. 82।
11. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 4.16 पृष्ठ सं. 58।
12. विनोबा (2017), गीता-प्रवचन, सर्व सेवा संध-प्रकाशन राजघाट, वाराणसी- 221001 पृष्ठ सं. 12।
13. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, पृष्ठ सं. 69-70।
14. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, पृष्ठ सं. 38।
15. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, पृष्ठ सं. 39।

16. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर— 440012, पृष्ठ सं. 41—42।
17. विनोबा (2017), गीता—प्रवचन, सर्व सेवा संध—प्रकाशन राजघाट, वाराणसी— 221001 पृष्ठ सं. 34।
18. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर पृष्ठ सं. 61।
19. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली—110003, 3/1,2 पृष्ठ सं. 158—59।
20. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 3/3 पृष्ठ सं. 75—76।
21. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 3/4,5 पृष्ठ सं. 88।
22. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर— 440012, 3/6—8 पृष्ठ सं. 61—62।
23. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली—110003, पृष्ठ सं. 530—31।
24. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 3/33 पृष्ठ सं. 100।
25. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 3/34 पृष्ठ सं. 93।
26. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली—110003, 3/28,28 पृष्ठ सं. 549।
27. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर— 440012, 3/35 पृष्ठ सं. 77।
28. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 3/14 पृष्ठ सं. 543।
29. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 3/15 पृष्ठ सं. 90।
30. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली—110003, 3/20 पृष्ठ सं. 168।
31. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 3/22 पृष्ठ सं. 95।

32. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 3/30 पृष्ठ सं. 550।
33. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 3/38 पृष्ठ सं. 94।
34. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 3/40,41 पृष्ठ सं. 552।
35. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 3/42,43 पृष्ठ सं. 180-81।
36. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 2/48,50 पृष्ठ सं. 61-62।
37. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2/54,55 पृष्ठ सं. 63।
38. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012, 2/56-58 पृष्ठ सं. 46-47।
39. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 2/62,63 पृष्ठ सं. 68-69।
40. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 2/64-66 पृष्ठ सं. 153-54।
41. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/69 पृष्ठ सं. 85।
42. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/71,72 पृष्ठ सं. 535।
43. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 3/3 पृष्ठ सं. 76।
44. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, पृष्ठ सं. 159-61।
45. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012, 2/41 पृष्ठ सं. 40।
46. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 3/7,8 पृष्ठ सं. 88-89।
47. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 3/30 पृष्ठ सं. 91।

48. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर— 440012, 3/1 पृष्ठ सं. 50।
49. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 4/7,8,9 पृष्ठ सं. 109।
50. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 4/13 पृष्ठ सं. 98।
51. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 4/18 पृष्ठ सं. 559।
52. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली—110003, 4/19 पृष्ठ सं. 197।
53. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 4/25 पृष्ठ सं. 113।
54. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर— 440012, 4/33,34 पृष्ठ सं. 105–6।
55. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 4/38,39 पृष्ठ सं. 138।
56. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 4/42 पृष्ठ सं. 104।
57. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 5/6 पृष्ठ सं. 571।
58. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 5/3 पृष्ठ सं. 126–27।
59. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली—110003, 5/10 पृष्ठ सं. 212।
60. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 7/3 पृष्ठ सं. 197।
61. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर— 440012, 7/14,15 पृष्ठ सं. 157–58।
62. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 7/4,5 पृष्ठ सं. 120–21।
63. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली—110020, 7/16,17,18 पृष्ठ सं. 596–97।

64. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 3/22 पृष्ठ सं. 95।
65. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, पृष्ठ सं. 64-65।
66. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 2/16,17 पृष्ठ सं. 518-19।
67. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012, 2/29 पृष्ठ सं. 30।
68. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 2/45 पृष्ठ सं. 144।
69. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/47 पृष्ठ सं. 529।
70. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012, 2/50 पृष्ठ सं. 42।
71. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2/62,63 पृष्ठ सं. 67-68।
72. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 2/66 पृष्ठ सं. 85।
73. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 2/71 पृष्ठ सं. 155।
74. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 3/9,10 पृष्ठ सं. 89।
75. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012, 3/14 पृष्ठ सं. 66।
76. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 3/19,20 पृष्ठ सं. 90।
77. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 3/22,23,24 पृष्ठ सं. 86-87।
78. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 3/29 पृष्ठ सं. 174।
79. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012, 3/43 पृष्ठ सं. 82।

80. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 6/5 पृष्ठ सं. 113।
81. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 6/8,9 पृष्ठ सं. 580।
82. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 6/17,18 पृष्ठ सं. 238।
83. गोयन्दका, जयदयाल (सं. 2066) श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीकासहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 6/30 पृष्ठ सं. 159।
84. स्वामी अपूर्वानन्द, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012, 6/46,47 पृष्ठ सं. 149-50।
85. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर 12/3,4 पृष्ठ सं. 287-88।
86. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020, 6/12 पृष्ठ सं. 158।
87. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003, 12/18,19 पृष्ठ सं. 349-50।

अध्याय 7

पातंजल योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक—तकनीक का समन्वयात्मक अध्ययन

अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। किसी भी शिक्षण का मुख्य उद्देश्य अधिगम कराना ही होता है। अधिगम के पश्चात व्यक्ति के व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थाई परिवर्तन होता है। व्यवहार के परिवर्तन की प्रक्रिया को ही अधिगम कहा जाता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार करना है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करता है। पुरुषार्थ—चतुष्टय की सिद्धि के लिए ही शिक्षा ली और दी जाती है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार “शिक्षा से तात्पर्य मनुष्य के उस पूर्णता की अभिव्यक्ति है जो उसमें पहले से ही विद्यमान है।”

बाहर से हम जो भी सीखते और सिखाते हैं उससे आत्मशक्ति और आत्मज्ञान का विकास नहीं, वरन् चित्तवृत्ति के रूप में बाधाओं का विकास जरूर होता है। शरीर और इंद्रियों से प्राप्त किसी भी प्रकार का ज्ञान चित्तवृत्ति का निर्माण करता है और योग का अधिगम चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात ही संभव है। योग की मान्यता के अनुसार मनुष्य के भीतर ज्ञान और शक्ति के अनंत स्रोत के रूप में पुरुष पहले से ही विद्यमान है। बाहर के किसी भी प्रयास या उपाय के द्वारा उस अनंत ज्ञान एवं शक्ति के स्रोत का हम साक्षात्कार नहीं करा सकते, बल्कि द्रष्टा के ज्ञान और अभिव्यक्ति की बाधाओं को दूर करने के लिए ही प्रयास कर सकते हैं। योगसूत्र के चतुर्थपाद—कैवल्यपाद के तीसरे सूत्र में वर्णित है कि जिस प्रकार किसान अपने खेत में जल ले जाने के लिए जल के मार्ग की बाधाओं को केवल दूर करता है और जल की पूर्ति अपने आप हो जाती है, उसी प्रकार योग के अधिगम के लिए चित्तवृत्ति रूपी बाधाओं को दूर करना पड़ता है। जैसे ही द्रष्टा चित्तवृत्ति के स्वरूप से मुक्त होता है, वैसे ही अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही योग है, जो चित्त की वृत्तियों के निरोध के पश्चात् ही संभव है।

योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में आत्म साक्षात्कार की बाधाओं को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के शिक्षण, अधिगम और यौगिक तकनीकों का विशद् रूप से

वर्णन किया गया है। मनुष्य के जीवन में अधिगम का महत्वपूर्ण स्थान है। अधिगम के पश्चात मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन अभ्यास और अनुभव के परिणामस्वरूप होता है। प्रत्येक अधिगमकर्ता के अभ्यास एवं अनुभव की अपनी एक शैली होती है और उस शैली के अनुसार ही वह सीखता है। अधिगम शैली को सीखने की कला भी कह सकते हैं। अधिगमकर्ता के सीखने की शैली उसके अधिगम प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। जीवन की उपलब्धियों पर अधिगम का प्रभाव साफ-साफ दिखाई देता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति सुनकर, देखकर, अनुमान करके, चर्चा करके, अच्छा कार्य करके इत्यादि माध्यमों से लगातार सीखता रहता है। अधिगमकर्ता की रुचि के अनुसार गुरु विभिन्न प्रकार के अधिगम विधियों का प्रयोग करके अधिगम प्रक्रिया को सफल बनाता है।

अधिगमकर्ता के विभिन्नता के आधार पर विभिन्न प्रकार की अधिगम शैली हो सकती है। जैसे— अधिगम की श्रवण शैली, मनन शैली, चिंतन शैली, दार्शनिक शैली, भावनात्मक एवं संवेदनात्मक शैली, अधिगम की नाम-रूपात्मक शैली, क्रियात्मक शैली इत्यादि। योग के इन ग्रंथों में अधिगम प्रक्रिया को ठीक से संपादित करने के लिए इन विभिन्न प्रकार की अधिगम शैलियों का किसी न किसी रूप में प्रयोग किया गया है, जिससे अधिगम की प्रक्रिया को पूर्णता प्रदान किया जा सके। सीखने की प्रक्रिया में मनुष्य की इच्छा का भी महत्वपूर्ण योगदान है। हम जो सीखना चाहते हैं, वही सीखते हैं और सीखना हमेशा उद्देश्यपूर्ण होता है। कई बार जीवन का उद्देश्य पता न होने के कारण भी सीखना बाधित होता है। गुरु, शिष्य के मनःस्थिति का अध्ययन करने के पश्चात ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है, जिसमें सीखना सरल एवं सुगम हो सके।

योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में सीखने की प्रक्रिया तथा सीखने की शैली का बड़े सुंदर और सरल ढंग से वर्णन किया गया है। मनुष्य जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के उपाय तथा उन उपायों को अंगीकार करने के लिए जिस अधिगम प्रक्रिया की आवश्यकता है, उसका वर्णन प्रभावशाली ढंग से किया गया है। मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक प्रकार के कारक होते हैं और इन कारकों का प्रभाव उसके जीवन पर सहज रूप से परिलक्षित होता है। मनुष्य देह प्राप्त कर लेने मात्र से मनुष्य का जीवन सफल नहीं होता जब तक कि मनुष्यता के संस्कार उसके जीवन व्यवहार में परिलक्षित न हो। मानवीय गुणों के साथ विकसित

मनुष्य ही इस जगत के लिए विवेकशील प्राणी हो सकता है। विवेकशील मनुष्य ही सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण कर सकता है।

मनुष्य का पूर्ण विकास शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक आधार पर ही संभव है। इस चतुर्दिक विकास के अभाव में मानव समाज संघर्ष, असंतोष, प्रतिस्पर्धा, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, हिंसा, भेदभाव, अशांति आदि विकारों से ग्रसित हो जाता है। मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन से इन विकारों को दूर कर सभ्य एवं सुसंस्कृत व्यक्ति तथा समाज का निर्माण करना योग के इन ग्रंथों की शिक्षण प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य है। भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षण एवं अधिगम एक प्रकार की साधना है, जिसके लिए गुरु और शिष्य दोनों को साधक बनना पड़ता है। भारत में ज्ञान अनुभूति—जन्य है। गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान, ग्राह्य तब होता है, जब उस ज्ञान का दर्शन गुरु के व्यवहार में परिलक्षित होता हो। अनुभूति और अभ्यास से प्राप्त ज्ञान व्यवहार परिवर्तन का कारण बनता है।

व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की किसी भी समस्या का समाधान ज्ञान के अधिगम से संभव है। अधिगम के पश्चात ज्ञान से युक्त कर्म और कर्म से युक्त ज्ञान का दर्शन होता है। इसलिए योगवासिष्ठ में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि “मोक्ष, ज्ञान और कर्म के योग से ही प्राप्त हो सकता है, जिस प्रकार पक्षी दो पंखों से उड़ान भरता है उसी प्रकार मनुष्य ज्ञान और कर्म रूपी पंखों के आधार पर आत्म—साक्षात्कार कर सकता है। शरीर से आत्मा की ओर उन्मुख होने के पश्चात आत्मबल, आत्मविश्वास और आत्म—साक्षात्कार की अनुभूति होती है। आत्मिक रूप से विकसित मनुष्य लोक कल्याणकारी हो सकता है। भौतिक ज्ञान और भौतिक साधनों से जहां शारीरिक और मानसिक विकास होता है, वहीं आत्मविद्या से आत्मज्ञान और आत्म—साक्षात्कार होता है।

योग आत्मविद्या है जिसके अधिगम से अविद्या का नाश होता है। अविद्या के कारण ही इस जगत में यत्र—तत्र—सर्वत्र दुख का दर्शन होता है। दुख के कारण ही सुख की चाह हर व्यक्ति में बनी रहती है और उसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति जीवन भर प्रयास करता रहता है। योग के इन ग्रंथों में अधिगम का संबंध चित्त के संस्कारों से है। इन संस्कारों के कारण ही जन्म, आयु और भोग का निर्माण होता है। सकाम कर्म से क्रियात्मक संस्कार का निर्माण होता है, जिसके भोग के लिए जीव, जन्म के पश्चात एक निश्चित आयु तक भोगों को भोगता हुआ, अंततः मृत्यु को प्राप्त करता है। यही इस संसार में जन्म लेने वाले हर जीव के जीवन की यात्रा का परिणाम है।

7.1 योग का अधिगम एवं अधिगम शैली

महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन के समाधिपाद के उनतीसवें सूत्र में अधिगम शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां अधिगम शब्द का अर्थ आत्मस्वरूप के ज्ञान से लिया गया है। इस सूत्र में वर्णन है कि ईश्वर प्राणिधान से योग के मार्ग में आने वाले विघ्नों का अभाव और आत्मस्वरूप का ज्ञान भी होता है।

योग के अधिगम के लिए साधन के रूप में अष्टांगयोग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया गया है। इन योगांगों का क्रमशः पालन करने से साधक की चित्तवृत्तियों का जब निरोध हो जाता है, तब द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। योग के अधिगम का यही लक्ष्य है, इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए अधिगम शैली के रूप में सबसे पहले समाधिपाद उसके पश्चात् साधनपाद तत्पश्चात् विभूतिपाद और सबसे अंत में कैवल्यपाद का वर्णन किया गया है।

किसी भी शिक्षण का मुख्य उद्देश्य अधिगम होता है। योग के अधिगम के लिए जिस अधिगम शैली का प्रयोग योगदर्शन में मिलता है। वह निश्चित ही बोध के लिए परम आवश्यक है। सर्वप्रथम अधिगमकर्ता को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? मनुष्य अपने जीवन में पुरुषार्थ के द्वारा जिस परम लक्ष्य की सिद्धि करता है वह मोक्ष अर्थात् कैवल्य है। योगसूत्र में वर्णित योग के अधिगम की अवधारणा कैवल्यरूपी परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही है।

महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में जिस प्रकार अध्यायों का वर्गीकरण किया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम समाधि का ज्ञान अधिगमकर्ता को कराया जाना चाहिए, क्योंकि योग का परम लक्ष्य समाधि की सिद्धि है, उसके बाद समाधि प्राप्त करने के साधनों का वर्णन किया गया है, तत्पश्चात् विभूतिपाद में धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों के एकत्रित होने को संयम की संज्ञा दी गई है तथा संयम से प्राप्त होने वाली विभूतियों का विशद वर्णन किया गया है और सबसे अंत में कैवल्यपाद का वर्णन किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि योगसूत्र में योग के अधिगम के लिए व्यवस्थित, वैज्ञानिक, बोधयुक्त, सहज, सुगम अधिगम शैली को अपनाया गया है।

महर्षि वसिष्ठ ने “योगवासिष्ठ ग्रंथ को मोक्ष साधन के प्रतिपादक तत्त्वों के सारभूत अर्थों से परिपूर्ण और मोक्ष प्रदान करने वाला संहिता कहा है।” इस ग्रंथ का सम्यक

परिशीलन करने से संसार के समस्त दुखों से मुक्ति के साथ ही साथ, निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस ग्रंथ में मोक्ष के साधन के रूप में यथार्थ ज्ञान अर्थात् सांसारिक बुद्धि का परित्याग कर, आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा से आत्मस्वरूप के ज्ञान को महत्व दिया गया है। जिन साधकों को संसार की दुखरूपता तथा क्षणभंगुरता का ज्ञान हो जाता है, वे इस संसार के बंधन से मुक्त होकर परमब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।

योग के अधिगम का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार है। पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने वाला योगी, द्वंद्वजनित सांसारिक दुखों को सहन करने की शक्ति आत्मज्ञान से ही प्राप्त करता है। आत्मतत्त्व का जिसे यथार्थ ज्ञान है, वह योगी है और ऐसे योगी से योग के अधिगम से संबंधित प्रश्न कर अपनी जिज्ञासा को शांत करना चाहिए। बत्तीस हजार श्लोकों में इस ग्रंथ का वर्णन किया गया है। योगवासिष्ठ में छः प्रकरण हैं, जो इस प्रकार हैं— प्रथम वैराग्य-प्रकरण है, जिसमें पन्द्रह सौ श्लोक का वर्णन मिलता है। इस प्रकरण में संसार के विषयों के दोषों का वर्णन किया गया है, जिसका ज्ञान होने के पश्चात् विवेक का उदय होता है। विवेकपूर्ण वैराग्य से हृदय शुद्ध हो जाता है। दूसरा मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण है, इस प्रकरण में एक हजार श्लोक हैं। मुमुक्षु पुरुषों का स्वभाव कैसा होता है? इसका वर्णन इस प्रकरण में विस्तार से किया गया है। तीसरा उत्पत्ति-प्रकरण है, जिसमें सात हजार श्लोक हैं। सांसारिक संपत्ति का वर्णन किया गया है। यह संसार वास्तव में है नहीं, पर होने जैसा प्रतीत होता है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग से इस संसार का आभास होता है। चौथा स्थिति-प्रकरण है, जिसमें तीन हजार श्लोक हैं। इस प्रकरण में ऐसा वर्णन है कि ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भाव को स्वीकार करके, इस संसार में आभासित हो रहा है। वास्तव में ब्रह्म ही इस नामरूपात्मक जगत में अहंकार रूप से स्थिति को प्राप्त हुआ है। पांचवा प्रकरण उपशम-प्रकरण है, इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। इस संसार में जो भ्रम है उसकी शांति कैसे हो? इसका वर्णन इस प्रकरण में विस्तार से किया गया है। छठवां प्रकरण निर्वाण प्रकरण है, जिसमें चौदह हजार पाँच सौ श्लोक हैं। इस जगत को जानने वाले ज्ञाता पुरुष है और उस पुरुष का ज्ञान होने के पश्चात् संसार का संपूर्ण भ्रम नष्ट हो जाता है। आधि-व्याधि से रहित विज्ञान स्वरूप निर्विषय, चैतन्य पुरुष आकाश मंडल की भांति निर्विकार हो जाता है। तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाने के पश्चात् वास्तव में द्रष्टा में ही यह दृश्य जगत आरोपित हो रहा है, पुरुषार्थ के द्वारा साधक को अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार अपने अंदर ही करना चाहिए, क्योंकि बाहर संसार का प्रपंच है जो

वास्तव में है नहीं, पर होता हुआ दिखाई दे रहा है। यही दृश्य प्रपंच है जो द्रष्टा में आरोपित हो रहा है।

योगी को जब सर्ववृत्तियों से मुक्त अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसका मन इच्छा से रहित होकर शांत हो जाता है। मन के शांत हो जाने के पश्चात कर्मेन्द्रियां अपने स्वभाव के अनुसार कर्म में प्रवृत्त नहीं होती है। वास्तव में यह जागतिक दृश्य प्रपंच मन का ही विलास है। योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्ध में वर्णन किया गया है कि सांख्ययोग और अष्टांगयोग के द्वारा परम पद अर्थात् निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है। इस ग्रंथ में अधिगमकर्ता के लिए जिस प्रकार के अधिगम शैली प्रस्तुत की गई है, निश्चित ही उससे बोध की प्राप्ति हो सकती है। वैराग्य प्रकरण से प्रारंभ होकर निर्वाण प्रकरण तक की व्याख्या योग के अधिगम को सहज, सरल और सुगम बनाती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में योग के अधिगम के संबंध में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को योगी बनने का उपदेश करते हैं, क्योंकि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है। वह ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और योगी, कर्मकाण्डियों से भी श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन तू योगी बन।

सामान्यतया लोग योग की सिद्धि के लिए कठोर तपस्या, व्रत, उपवास, योगाभ्यास के लिए एकांत में चले जाना आदि साधनों का अभ्यास करते हैं। कुछ लोग ज्ञान से ही मुक्ति पाने के लिए कर्म का परित्याग कर ज्ञान के मार्ग में लगे रहते हैं और कुछ लोग फलों की कामना से युक्त होकर वैदिक परंपरा अनुसार कर्मकाण्डों का पालन करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस योग के अधिगम की साधना को बताया है वह तप, ज्ञान और कर्म से श्रेष्ठ है। यहां ज्ञान से आशय शास्त्र ज्ञान से है, न कि आध्यात्मिक बोध से, क्योंकि शास्त्र ज्ञान से चित्तवृत्तियों का निर्माण होता है और जब चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होती हैं, तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है। द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थित होने को ही आत्मबोध कहा जाता है। योग के अधिगम का परम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार ही है, इसलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को योगी बनने का उपदेश करते हैं।

गीता में योग के अधिगम की शैली अधिगमकर्ता की मनःस्थिति के आधार पर विकसित हुई है। अर्जुन विषाद ग्रस्त होने के कारण अपना कर्तव्य कर्म करने से मना कर रहा है, इसलिए सर्वप्रथम भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्मयोग का अधिगम कराया, तत्पश्चात् छः से बारह अध्यायों में भक्तियोग का अधिगम कराया गया है और बारह से अठराह अध्याय तक ज्ञानयोग का अधिगम कराया है। योग के अधिगम के

लिए जिस अधिगम शैली का प्रयोग श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है वह अद्भुत एवं अनूठी है। वास्तव में यह ग्रंथ ब्रह्म विद्या के साथ ही साथ योग के अनुशासन को भी प्रस्तुत करता है। यह संपूर्ण योगशास्त्र को प्रतिपादित करता है, जिसमें आत्मा के विकास तथा ब्रह्म तक पहुंचने के मार्गों का विशद वर्णन किया गया है। मनुष्य यदि ब्रह्म का अंश है तो उसे अपने उद्धार करने की अपेक्षा अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचानने की आवश्यकता है। उसे इस तत्व का बोध कराने की आवश्यकता है कि वह ईश्वर का अंश है और इसके विपरीत कोई भी अनुभूति केवल एक भ्रांति मात्र है।

महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन के समाधिपाद के उनतीसवें सूत्र में वर्णित है कि ईश्वर की भक्ति से योग के मार्ग में आने वाले विघ्नों का नाश होने के साथ ही साथ अपने आत्म-स्वरूप का भी ज्ञान होता है। योग-विद्या, आत्म-स्वरूप की अनुभूति कराती है। योग के अधिगम प्रक्रिया में साहचर्य का विशेष महत्व है। ईश्वर का साहचर्य करने से अधिगमकर्ता को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। इस ईश्वर साहचर्य के अनुशासन से संबंधित कोई भी क्रिया योग कहलाती है, जैसे— ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग।

योग की अधिगम प्रक्रिया में अर्जुन उस आत्मा का प्रतिनिधित्व कर रहा है जो जागतिक विषाद से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्णता और शांति तक पहुंचने का प्रयास कर रहा है, परंतु तत्कालिक परिस्थितियों में उसकी मनःस्थिति विचलन को प्राप्त होकर विषादग्रस्त हो गई है। जीवन में अस्वीकार करने योग्य परिस्थितियां और उनके परिणाम संपूर्ण चेतना को अंधकार के गर्त में डुबा देती हैं। ऐसे में व्यक्ति आत्मविश्वास खोकर जब संदेह और निषेधात्मक वृत्ति से ग्रस्त होकर निराश और हताश हो जाता है, तब ईश्वर का साहचर्य ही योग के मार्ग के विघ्नों को दूर कर अपने वास्तविक स्वरूप का अधिगम करा सकता है। अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ईश्वर के अंश की विस्मृति हो जाने के पश्चात् जीव, इस जगत के दृश्य प्रपंच में फंसकर नाना प्रकार के दुखों को भोगता रहता है, जिसका एकमात्र कारण अज्ञानता है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने के पश्चात् अविद्या से जन्म लेने वाले सभी प्रकार के सांसारिक दुखों का नाश हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में योग के अधिगम और अधिगम शैली का जिस प्रकार प्रयोग किया गया है वह निश्चित ही मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कराकर, संसार के दुखों से पूर्णरूपेण मुक्ति दिलाने सहयोगी सिद्ध होगी।

7.2 योगसूत्र में अधिगम

योगसूत्र में वर्णित योग के अधिगम से तात्पर्य चित्त-वृत्तियों के निरोध से है। मनुष्य अपने शरीर और इंद्रियों के माध्यम से चित्त की वृत्तियों का अधिगम करता है। मनुष्य को अपने आत्मस्वरूप का अधिगम चित्त-वृत्तियों के निरुद्ध होने पर होता है।

अधिगम का अर्थ सीखना है। सीखना एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति के अनुभव कोष में वृद्धि होती है। अनुभव और अभ्यास के परिणामस्वरूप होने वाले अपेक्षाकृत स्थाई व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहते हैं। अधिगम के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन एवं परिमार्जन होता है। अधिगम से व्यक्ति के अनुभवों में वृद्धि होती है। व्यक्तित्व के विकास में परिपक्वता एवं अधिगम दोनों का योगदान होता है। किसी भी व्यक्ति का स्वाभाविक रूप से विकास परिपक्वता द्वारा होता है। अधिगम से मनुष्य सामाजिक उद्दीपनों के प्रति होने वाली अनुक्रियाएं सीखता है। किसी उद्दीपन के प्रतिकूल अनुक्रिया करके, व्यक्ति गलत करना सीखता है और उद्दीपन के अनुकूल अनुक्रिया करके सही करना सीखता है।

प्रत्येक अधिगम उद्देश्यपूर्ण होता है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। किसी व्यक्ति के द्वारा अधिगम तभी संभव है, जब उसे सुख की प्राप्ति होती हो। जीवन के अनुभव और अभ्यास द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की कुशलता के लिए सामाजिक उद्दीपनों के अनुकूल अनुक्रिया करके सतत् अधिगम करता रहता है।

मनुष्य का सामाजिक विकास आत्मज्ञान से होता है और आत्मज्ञान, अध्यात्म विद्या से संभव है। आत्मबोध के साथ विकसित मनुष्य, अपने मूल्यवान जीवन की भांति, जगत के जीवन को मूल्यवान समझता है। विवेकवान मनुष्य, अपनी सुख और शांति के लिए जगत के जीवन की रक्षा करना, अपना धर्म समझता है। यह धर्म मनुष्य के जीवन के अर्थ को प्रकट करता है। योग के अधिगम से विवेक जागृत होता है। विवेकवान मनुष्य अपने जीवन की कामनाओं को सिद्ध करके पूर्णकाम हो जाता है।

चित्तवृत्ति के रूप में संकलित शरीर और संसार के ज्ञान से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान, विवेक से जन्म लेता है। इस संसार में सबको सब प्रकार से जानने वाला तथा शरीर और संसार के बंधन से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान, विवेकजनित है। इस ज्ञान से चित्त की वृत्तियों को ही अपना रूप समझने वाली बुद्धि और पुरुष, दोनों की समान भाव से शुद्धि हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप कैवल्य घटित होता है।

योग के अधिगम से मनुष्य को अपने पुरुषार्थ से जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। पुरुषार्थ—चतुष्टय की साधना करने से मनुष्य का निर्माण होता है। विवेकज ज्ञान से मनुष्य को आत्मानुभूति होती है और वह, लोक कल्याणकारी प्राणी के रूप में विकसित होता है। अनेकता में एकता का दर्शन आत्मज्ञान से होता है। आत्मज्ञान से मनुष्य को जीवन और पर्यावरण के गहरे संबंध का अधिगम होता है। जीवन और पर्यावरण के अभाव में अधिगम संभव नहीं है।

मनोविज्ञान में अधिगम को लेकर अधिकतर प्रयोग पशुओं पर किए गए हैं। सामान्यता पशु, सीखने की प्रक्रिया में प्रयत्न एवं भूल के सिद्धांत को अपनाते हैं। अंतर्दृष्टि द्वारा वही जीव अधिगम कर पाते हैं, जिनमें बुद्धि पाई जाती है।

मनुष्य की अधिगम प्रक्रिया में चिंतन और बुद्धि का महत्वपूर्ण योगदान है। मनुष्य किसी भी प्रकार का ज्ञान, बाह्य करण और अंतःकरण के माध्यम से प्राप्त करता है। ज्ञान प्रदान करने के इन साधनों में बाह्य करण के अंतर्गत पांच ज्ञानेन्द्रियां और अंतःकरण के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार आते हैं। मनुष्य ज्ञान के इन्हीं साधनों के द्वारा अधिगम करता है। शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान को करण—सापेक्ष ज्ञान कहते हैं और आत्मज्ञान को करण—निरपेक्ष ज्ञान कहते हैं। योगसूत्र में वर्णित योग का अधिगम करण—निरपेक्ष ज्ञान है, जो चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध होने के पश्चात होता है।

मनुष्य के अधिगम में बाह्य करण और अंतःकरण के योग से निर्मित चित्त की **प्रथम वृत्ति—प्रमाण वृत्ति**, सही अनुभूति पर आधारित होती है। इसके आधार पर ही उद्दीपनों के अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुक्रियाओं के परिणामस्वरूप मनुष्य को सुख—दुख का अनुभव होता है। मनुष्य अपनी अनुभूति और अभ्यास के आधार पर जो कुछ भी अधिगम करता है, वह—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण पर आधारित होता है। गलत समझ और मिथ्या ज्ञान के कारण चित्त की **दूसरी वृत्ति—विपर्यय** का जन्म होता है। मन अपने चंचल स्वभाव के कारण संकल्प—विकल्प के सागर में गोते लगाता रहता है। चित्त की **तीसरी वृत्ति—विकल्प** का जन्म, मन के स्वभाव के कारण ही होता है। जब चित्त की सारी वृत्तियों का पूर्णतया अभाव हो जाता है तब, **निद्रा नामक वृत्ति** का जन्म होता है। अनुभव से प्राप्त ज्ञान का किसी निमित्त के साथ प्रकट हो जाना **स्मृति नामक वृत्ति** कहलाता है। अधिगम से होने वाले अनुभव कोष की वृद्धि में स्मृति सहायक होती है।

अधिगम के लिए स्मृति परम आवश्यक है। मनुष्य प्रमाण, विपर्यय और विकल्प द्वारा जागृत अवस्था में अनुभव से जो अधिगम करता है, उसके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। चित्त के संस्कारों की ही स्मृति होती है। जैसा हम अनुभव करते हैं, उसी के अनुरूप संस्कार बनते हैं, और संस्कारों के सदृश स्मृति बनती है। स्मृति की सहायता से ही व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों का जीवन में उपयोग करता है। मनुष्य को सामान्यतः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था का बोध होता है। जाग्रत अवस्था में जब किसी विषय की स्मृति होती है, तब विषय सामने नहीं होने पर भी, व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि वह स्मरण कर रहा है। इसे वास्तविक स्मृति कहते हैं। स्वप्न की अवस्था में जागृत अवस्था के अनुभूत विषयों की स्मृति होती है। यह स्मृति की स्मृति है। स्वप्न की अवस्था में यह स्मरण नहीं होता है कि हम स्मरण कर रहे हैं।

वास्तव में स्मृति चित्त की वह वृत्ति है जो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अनुभवजन्य संस्कारों से प्रकट होती है। मनुष्य के अधिगम तथा अधिगम शैली पर पूर्वजन्म के संस्कार, गर्भावस्था के संस्कार, ज्ञानात्मक संस्कार, भावात्मक संस्कार और क्रियात्मक संस्कार का गहरा प्रभाव होता है। वास्तव में स्मृति, केवल ज्ञानज संस्कार की ही होती है, भवनाओं, संवेगों और कर्मों के भी संस्कार होते हैं परंतु उनकी स्मृति नहीं होती है। ज्ञानज संस्कार अवचेतन अवस्था में होते हैं, परंतु उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न होने पर चेतन अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य भावनाओं एवं संवेगों के संस्कार से प्रेरित होकर कर्म करता है। कर्म के संस्कार भी चित्त पर अंकित होते हैं, जिन्हें कर्माशय कहते हैं। सामान्य मनुष्य अपने जीवन में सुख की प्राप्ति के लिये पुण्य कर्म, पाप कर्म और पुण्य-पाप मिश्रित कर्म करता है। कर्मों के इन संस्कारों के कारण ही जन्म, आयु और भोग उत्पन्न होता है। जीवात्मा अपने कर्माशय के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है।

चित्त के संस्कार कभी नष्ट नहीं होते हैं। मन के अवचेतन अवस्था में पड़े रहते हैं और उद्दीपन की परिस्थिति उत्पन्न होते ही, चेतन अवस्था में अभिव्यक्त हो जाते हैं। मनुष्य के जीवन में अधिगम की प्रक्रिया संस्कार सिद्धांत के आधार पर सतत् चलती रहती है।

योग के अधिगम में चित्त की वृत्तियां साधक और बाधक की भूमिका निभा सकती हैं। चित्त एक नदी की भांति है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह निरंतर चलता रहता है। शरीर तथा संसार के विषयों की ओर उन्मुख वृत्तियां बाधक, तथा विवेक मार्ग से अपने

आत्मस्वरूप के साक्षात्कार की ओर बहती हुई वृत्तियां, योग के अधिगम में साधक होती हैं। साधक वृत्तियों से भी निवृत्त होने के पश्चात् ही योग घटित होता है।

मनुष्य अनुभव और अभ्यास के माध्यम से अधिगम करता है। जिस संसार का हम अपनी इंद्रियों से अनुभव करते हैं, वह प्रकृति और पुरुष के संयोग का परिणाम है। अविद्या के कारण यह संयोग हुआ है। अविद्या से जन्म लेने वाली अस्मिता, जिसमें चेतन-पुरुष और जड़-प्रकृति की एकता का अनुभव होता है, और इसी भ्रामक अनुभव के माध्यम से मनुष्य सीखता है। सीखने की इस प्रक्रिया में राग, द्वेष और मृत्यु का भय जीवन भर बना रहता है।

इस संसार के देखे अथवा सुने गए किसी भी विषय में जब तक तृष्णा का अभाव नहीं होता, तब तक मनुष्य को अविद्या से जन्म लेने वाला ज्ञान ही होता है। इस ज्ञान में—दुख में सुख, अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र और अनात्म में आत्म भाव की अनुभूति होती है। इसलिए विवेक ज्ञान से जिसे अपने स्वरूप का अधिगम हो जाता है, उसे इस संसार में सर्वत्र दुख ही दिखाई देता है। यह त्रिगुणात्मक संसार, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों के विरोध के परिणामस्वरूप निर्मित हुआ है। इसलिए इस संसार के अधिगम से चित्त की वृत्तियों का ही निर्माण होता है। अभ्यास और वैराग्य से चित्त-वृत्तियों का निरोध करने के पश्चात्, योग का अधिगम होता है।

अविद्या से अस्मिता का जन्म होता है और अस्मिता से युक्त चित्त सभी प्रकार के अर्थों को प्रकट करने वाला हो जाता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के कारण चित्त की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। तमोगुण की प्रबलता से चित्त मूढ़ अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था वाले चित्त में इंद्रिय और उनके विषयों का ही चिंतन अनवरत चलता रहता है, इसके अतिरिक्त और किसी भी तरह के ज्ञान में **मूढ़ चित्त** वाले व्यक्ति की अभिरुचि नहीं होती है।

रजोगुण की प्रबलता वाले चित्त को **क्षिप्त चित्त** कहते हैं। ऐसा चित्त किसी एक जगह पर केंद्रित नहीं होता है, हमेशा उसमें चंचलता बनी रहती है। इस चित्त का व्यक्ति बिना विचार किए अनवरत कुछ न कुछ करने के लिए तत्पर रहता है।

रजोगुण के साथ सतोगुण के मिश्रण से जिस चित्त का निर्माण होता है, उसे **विक्षिप्त चित्त** कहते हैं। ऐसा चित्त क्रियाशील होने के साथ ही साथ किसी एक विषय पर केंद्रित

होने में भी सक्षम होता है। इस चित्त का व्यक्ति कोई कार्य करने के साथ ही साथ उसके परिणाम पर भी विचार करने का प्रयास करता है।

सतोगुण की प्रधानता वाले चित्त को **एकाग्र चित्त** कहते हैं। किसी एक विषय पर बहुत देर तक एकाग्र करने की शक्ति, इस चित्त में होती है। योग के अधिगम में चित्त की एकाग्रता परम आवश्यक है। जिस चित्त में वृत्तियों की गति को रोक दिया गया हो, उसे **निरुद्ध चित्त** कहते हैं। चित्त की इस अवस्था के पश्चात् ही द्रष्टा को अपने स्वरूप का बोध होता है।

योग का अधिगम चित्त की एकाग्रता के अभ्यास और वैराग्य की साधना से होता है। चित्त की चंचलता से राग और एकाग्रता से वैराग्य घटित होता है। शरीर और संसार के परिवर्तन का सत्य जान लेने पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। जब मनुष्य को इस परिवर्तनशील शरीर और संसार के सत्य का वास्तविक ज्ञान होता है तब उसे वैराग्य हो जाता है। वैराग्य से ही व्यक्ति इस संसार में अनासक्त होकर कर्म करने की कुशलता को सीखता है। वास्तव में वैराग्य का अर्थ, यथार्थ सत्य का ज्ञान है, जिसके पश्चात् व्यक्ति कर्म से पलायन नहीं करता, बल्कि कर्म करने में कुशल हो जाता है।

एकाग्र चित्त में जब इस क्षणभंगुर जगत का सत्य प्रगट होता है, तब वैराग्य घटित होता है, परिणामस्वरूप इस संसार में देखे और सुने हुए सभी प्रकार के विषयों से तृष्णा मिट जाती है। इस तृष्णा के कारण ही चित्त में वृत्तियों के संस्कार बनते हैं और पुरुष को वृत्तियों के अनुरूप ही अपने स्वरूप का आभास होने लगता है तथा वह चित्त की वृत्तियों को अपना रूप समझने लगता है। वास्तव में पुरुष का स्वभाव अविद्याजनित कलेशों, सकाम कर्म, कर्मफल तथा किसी भी प्रकार के आशय निर्लिप्त है। पुरुष को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने के पश्चात् सांसारिक वृत्तियों से परम वैराग्य हो जाता है। चित्त की साधक वृत्तियों के अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, जिसके पश्चात् द्रष्टा को अपनी स्वरूप का बोध होता है।

चेतन—पुरुष और जड़—प्रकृति के संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या से जन्म लेने वाले राग, द्वेष और अभिनिवेश के कारण, जीव को इस संसार में दुख का अनुभव होता है। दुख की इस अनुभूति के कारण जीव, सुख को खोजने और प्राप्त करने के लिए शरीर और इंद्रियों के माध्यम से अभ्यास करते हुए जीवनपर्यंत अधिगम करता है।

योग के अधिगम से उत्पन्न विवेकज्ञान से अविद्या का अभाव होते ही, जड़-चेतन के संयोग का भी अभाव हो जाता है। परिवर्तनशील प्रकृति और अपरिवर्तनशील पुरुष के स्वरूप का अनुभूतिपरक वास्तविक ज्ञान ही विवेकज्ञान है। विवेकज्ञान प्राप्त योगी के चित्त से वृत्तियों का आवरण हट जाता है और चित्त निर्मल हो जाता है। ऐसे योगी की प्रज्ञा कार्यविमुक्त हो जाती है। उसके लिए इस अनित्य और परिणामी संसार में करने योग्य कुछ शेष नहीं रह जाता है।

संसार में दुख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है। अविद्याजनित इस संयोग का अभाव, विवेकज्ञान से हो जाता है। पुरुष और प्रकृति शुद्ध होकर अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य का जीवन जिस विवेकज्ञान को प्राप्त करने के लिए मिला था, वह प्राप्त हो जाने के बाद, इस जगत में करने योग्य कुछ शेष नहीं रहता है। ऐसे योगी पुरुष का चित्त, अपना कार्य-भोग और अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध करके, अपने गुणों में लीन हो जाता है। गुणातीत पुरुष अपने आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। अपने स्वरूप की अनुभूति से पुरुष को परम वैराग्य की प्राप्ति होती है। वैराग्य के अभ्यास से साधक पंच-क्लेशों से मुक्त होकर, इस जगत में आनंदपूर्ण जीवन जीने की कुशलता का अधिगम करता है। अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करके, योग का अधिगम किया जाता है।

7.3 योगवासिष्ठ में अधिगम

अधिगम से आशय सीखने से है। किसी कार्य को सीखने से, अधिगमकर्ता के अनुभव कोष में एक नई वस्तु की वृद्धि होती है। अधिगम, अनुभव से प्राप्त ज्ञान वह है, जो स्मृति कोष में बने रहने के साथ ही साथ, मनुष्य के बाद के कार्यों में पुनः दिखाई देता है। मनुष्य जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए विचार करता है, और अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए अंतर्दृष्टि के माध्यम से अधिगम करता रहता है। वह व्यक्ति, वस्तु और परिस्थितियों को उनकी विशेषताओं के अनुसार प्रेक्षण करता है, क्योंकि वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रेक्षक है। अपनी सीखने की प्रक्रिया में नाम, रूप, अंक तथा भाषा आदि का प्रयोग करता है। जीवन के किसी समस्या से संबंधित तथ्यों के अभाव में भी, भाषा की सहायता से संबंधित समस्या का समाधान करने के लिए मनुष्य, सोच-विचार करता रहता है।

मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी है और बुद्धि का अधिगम से घनिष्ठ संबंध है। व्यक्ति ऐसी बातें सीखने के लिए बुद्धि का प्रयोग करता है, जिससे जीवन की आवश्यकताएं पूरी होती हैं।

मनुष्य अपने स्वभाव के कारण सुख को चाहता है और दुख से दूर रहने का प्रयास करता है। योग के अधिगम से जब विवेक जागृत होता है, तब सुख-दुख में सम रहकर कर्म करने का कौशल विकसित होता है। कर्म की इस कुशलता से शांति मिलती है, और शांति से सुख की प्राप्ति होती है।

मनुष्य के जीवन में दुख का कारण अविद्या से उत्पन्न होने वाले क्लेश हैं। अविद्या के कारण जड़-चित्त और चेतन-पुरुष की चिति में भेद ज्ञान नहीं रह जाता है। जड़-चेतन के अभेद ज्ञान के कारण ही, अस्मिता का जन्म होता है। इस अस्मिता के कारण चित्त में सुख की वासना के संस्कार से राग और सुख में विघ्न उत्पन्न होने पर, दुख के संस्कारों से द्वेष का जन्म होता है। जीवन में दुख प्राप्त न हो इस भय से शरीर को बचाने की वासना से उत्पन्न संस्कार अभिनिवेश नामक क्लेश को जन्म देते हैं। इन पंचक्लेशों के कारण ही कर्म की वासनाएं उत्पन्न होती हैं। कर्म की वासनाओं से जीव का जन्म होता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत जीव को जाति, आयु और भोग रूपी फलों को भोगना पड़ता है। इन्हीं कर्मफलों में जीव को सुख और दुख का अनुभव होता है। इस अनुभव से प्राप्त अभ्यास द्वारा जीव जीवनभर अधिगम करता रहता है।

महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित योगवासिष्ठ बत्तीस हजार श्लोकों में वर्णित, योग का विशालतम एवं अतिप्राचीन ग्रंथ है। योग का सामान्य अर्थ है—युक्त होना। महर्षि वसिष्ठ ने श्रीराम को जीव के परम सत्य से युक्त होने अर्थात् ब्रह्म से युक्त का उपदेश दिया। इसलिए इस ग्रंथ को योगवासिष्ठ कहते हैं।

गुरुकुल से आध्यात्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के ज्ञान में पारंगत होने के उपरांत, श्रीराम ने अपने भाइयों, मित्रों एवं ब्राह्मणों के साथ तीर्थयात्रा किया। तीर्थयात्रा से लौटकर श्रीराम अंतर्मुखी हो गए। उनका मन, संसार के किसी भी विषय में न तो आकर्षित होता था और न ही संसार में कुछ करने के लिए तैयार था। इसलिए वे अधिकतर एकांतप्रिय और मौन होकर जीवन व्यतीत करने लगे। मुनि विश्वामित्र और महर्षि वसिष्ठ के समक्ष श्रीराम ने अपने मन के द्वंद्व को व्यक्त करते हुए कहा कि तीर्थयात्रा के दौरान धनी, निर्धन, युवा, वृद्ध सबको मैंने कष्ट पाते हुए देखा। संसार की हर चीज हर क्षण नष्ट हो

रही है। यहां कुछ भी स्थाई नहीं है, फिर भी मनुष्य नश्वर वस्तुओं के पीछे भागता है। मुझे इस जगत में जीवन का कोई भी उद्देश्य दिखाई नहीं दे रहा है। मैं कौन हूँ? मनुष्य के जन्म का उद्देश्य क्या है? संसार क्या है? इन अनेक प्रश्नों का मुझे कोई उत्तर नहीं मिल रहा है। इसलिए मेरा मन इस संसार में कोई कार्य करने के लिए तैयार नहीं है। श्रीराम की यह बातें सुनकर महर्षि वसिष्ठ और मुनि विश्वामित्र को बहुत प्रसन्नता हुई। मन की यह दशा सच्चे वैराग्य के उदय होने के पश्चात ही होती है। वैराग्य से विवेक उत्पन्न होता है, और विवेकज्ञान, सत्य के साधक के लिए परम आवश्यक है।

योगवासिष्ठ के प्रथम प्रकरण में वैराग्य का वर्णन किया गया है। दूसरे प्रकरण में बंधन से मुक्त होने की इच्छा का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसलिए इसे मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण कहते हैं। तीसरे प्रकरण में सृष्टि की रचना को विस्तार से समझाया गया है, इसे उत्पत्ति-प्रकरण कहते हैं। यह जगत किस प्रकार स्थित है, इसका वर्णन चौथे प्रकरण-स्थिति-प्रकरण में किया गया है। संसार का विलय किस प्रकार होता है, इसका वर्णन उपशम-प्रकरण में किया गया है। मनुष्य जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष के संबंध में निर्माण-प्रकरण में विस्तार से बताया गया है। इस प्रकार योगवासिष्ठ ग्रंथ के छः अध्यायों में योग के मुख्य विषय आत्मज्ञान की व्याख्या की गई है।

आत्मज्ञान से बड़ा कोई ज्ञान नहीं है। संसार का जन्म तो अज्ञान से होता है। वास्तव में चैतन्य आत्मा से भिन्न, अन्य किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। आत्मज्ञानी के लिए यह जगत, स्वप्न के समान है। जिस प्रकार स्वप्न से जागने के पश्चात स्वप्न का संसार स्वतः मिट जाता है, उसी प्रकार मन में वस्तुओं का विचार न करने से मन स्वतः नष्ट हो जाता है। इसी को योग कहते हैं।

महर्षि वसिष्ठ श्रीराम से बाहें उठा कर कहते हैं कि संकल्प से बड़ा अकल्याणकारी इस जगत में कुछ भी नहीं है। योग के अधिगमकर्ता को अपने भीतर असंकल्प को पोषित करना चाहिए। समस्त संकल्पों को त्याग कर जो शांति में स्थित है, उसके समक्ष संसार का बड़ा से बड़ा साम्राज्य भी, तिनके के समान है। संकल्प करना ही जीव का सबसे बड़ा बंधन है और संकल्प का अभाव मुक्त की स्थिति है।

मन का स्वभाव वस्तुओं का ध्यान करना है और योग में ध्यान का अर्थ, मन का निर्विषय होना है। समस्त संकल्पों के त्याग से मन का नाश हो जाता है। मन की अमनी अवस्था को योग कहते हैं। साधक को इस संसार में योग में स्थित होकर कर्म करना

चाहिए और निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुए, बंधन के भय से अकर्म में आसक्त नहीं होना चाहिए। ज्ञान और कर्म के योग से व्यक्ति उसी प्रकार मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार दो पंखों के योग से पक्षी, आकाश में उड़ान भरते हैं।

मनुष्य के अधिगम प्रक्रिया में संस्कारों का महत्वपूर्ण योगदान है। किसी भी व्यक्ति में उत्पन्न होने वाली इच्छा से संस्कारों का गहरा संबंध है। अपने संस्कारों के अनुरूप ही सुख-दुख, राग-द्वेष, शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि के संदर्भ में हम अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। संस्कारों की भिन्नता के कारण एक ही वस्तु, किसी के लिए सुख और किसी के लिए दुख का कारण बन जाती है।

मानव चेतना की अभिव्यक्ति ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक रूप में होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी आधार पर ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का वर्णन किया गया है। जीवन में कोई भी अनुभव हो, उसके पीछे संवेदन का होना आवश्यक है। अनुभव से संबंधित संवेदन के प्रभाव से भावना उत्पन्न होती है। चित्त रूपी सरोवर में उठने वाली लहरों को भावना कहते हैं। भावना के द्वारा व्यक्ति को सुख-दुख की अनुभूति होती है। अनुभूति और अभ्यास के द्वारा अधिगम की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है।

प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के आधार पर मनुष्य का स्वभाव निर्धारित होता है। सात्विक भाव से सकारात्मक और राजसिक तथा तामसिक भाव से नकारात्मक दृष्टिकोण विकसित होता है। सकारात्मक भाव से सुख तथा नकारात्मक भाव से दुख की अनुभूति होती है। अविद्या के कारण जीव अपने सत्, चित्, आनंदमय स्वरूप को भूलकर, आनंद की खोज, नाशवान भौतिक जगत में करता है। ईश्वरीय आनंद की अनुभूति अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होने पर होती है, क्योंकि प्रत्येक जीव अविनाशी ईश्वर का ही अंश है। अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने के पश्चात् मन में संसार के समस्त वस्तुओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

इस संसार में मनुष्य शरीर और इंद्रियों के माध्यम से अधिगम करता है। मानव शरीर में पंच-ज्ञानेन्द्रियों, पंच-कर्मेन्द्रियों और मन को मिलाकर ग्यारह इंद्रियां हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य की अधिगम प्रक्रिया संपन्न होती है। आधुनिक मनोविज्ञान में मन को चेतन, अवचेतन और अचेतन तीन भागों में विभक्त किया गया है। अंतःकरण-चतुष्टय की भारतीय अवधारणा के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के रूप में मन को विभक्त किया गया है। संकल्प-विकल्प करने की प्रवृत्ति के कारण मन, किसी पदार्थ के प्रति

निश्चयात्मक दृष्टिकोण के कारण बुद्धि, अपना चिंतन करने वाली वृत्ति के कारण चित्त और स्वीकार अथवा अस्वीकार भाव की अहम् वृत्ति के कारण के कारण अहंकार की संज्ञा दी गई है।

अविद्या से अहंकार और अहंकार के कारण चित्त में वृत्तियों का निर्माण होता है। मनुष्य के बंधन का कारण वासनाएं हैं, और वासनाओं का संपूर्ण नाश होना ही मोक्ष है। अपने पुरुषार्थ से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करना मनुष्य का कर्तव्य है। शुभ और अशुभ दो प्रकार की वासनाएं होती हैं, जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य जीवनपर्यंत अधिगम करता है।

योग के साधक को शुभ वासनाओं से प्रेरित होकर अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त कर लेना चाहिए और अशुभ वासनाओं को अभ्यासपूर्वक प्रयत्न करके, जीत लेना चाहिए। शुभ संकल्प द्वारा अच्छे-बुरे मार्गों में बहती हुई वासनाओं की नदी को साधक सन्मार्ग की ओर निर्दिष्ट करता है। वैराग्य के अभ्यास से जब आसक्ति मिट जाती है, तब मन के समस्त उद्वेग शांत हो जाते हैं। यथार्थ सत्य के स्वभाव को जान लेने के पश्चात, समस्त उद्वेगों से मुक्त होकर, अन्ततः शुभ वासनाओं की धारा से भी साधक मुक्त हो जाता है।

मनुष्य जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए योगवासिष्ठ में मुक्ति के द्वार पर स्थित चार द्वारपालों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार हैं— शम, विचार, संतोष और साधु-संगम। अपने सच्चिदानंद स्वरूप का अनुभव इन चार गुणों के अभाव में संभव नहीं है।

शम से तात्पर्य मन की शांति से है। मन के शांत रहने पर ही व्यक्ति का अपने ऊपर आत्मनियंत्रण रहता है। अधिगम के लिए जिज्ञासा का होना परम आवश्यक है। जिज्ञासा मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। सत्य के अनुसंधान में यह विचार करना चाहिए कि मैं कौन हूँ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? यह संसार कैसा है? संसार का निर्माता कौन है? इस प्रकार के प्रश्नों की जिज्ञासा से ही आत्मा अनुसंधान संभव है।

आध्यात्मिक साधना के लिए साधक में संतोष का होना परम आवश्यक है। भौतिक जगत में असंतोष बना रहता है, और असंतोष के कारण ही व्यक्ति को दरिद्रता की अनुभूति होती है। दरिद्रता से बड़ा दुख इस संसार में नहीं है। इस दुख से मुक्ति साधु संगम से होती है। संतोष वह धन है जिसकी प्राप्ति के पश्चात संसार की सारी संपदा तिनके के

समान हो जाती है। संतोष, उत्तम सुख का प्रदाता है। भौतिक रूप से संतुष्ट हुए बिना किसी भी व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है।

मनुष्य के सद्गुणों के विकास में सज्जन पुरुषों का संग परम सहयोगी है। साधक वृत्तियों की सहायता से अपने आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिए व्यक्ति प्रवृत्त होता है और अंततः वृत्तियों से निवृत्ति के पश्चात्, आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है। विवेकज्ञान से प्रकृति और पुरुष की शुद्धता की अनुभूति होती है और विवेक, सत्संग से जागृत होता है। **साधु संगम से सत्संग और सत्संग से विवेक की प्राप्ति होती है।** सत्संग से मन की शांति, सत्य विचार करने का सामर्थ्य और परमसुख प्रदान करने वाला संतोष सहजता से प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष का स्वरूप जानने के लिए, बंधन के स्वभाव का अधिगम, परम आवश्यक है। वास्तव में बंधन की स्थिति का जन्म, द्रष्टा और दृश्य दोनों के अस्तित्व के कारण होता है। दृश्य जगत से प्रभावित होने के कारण ही द्रष्टा बंधन में पड़ता है और दृश्य के मिटते ही मुक्त हो जाता है। द्रष्टा और दृश्य का द्वैत ही व्यक्ति को बंधन में डालता है। जीवन में राग, द्वेष और भय द्वैत के कारण होते हैं।

जगत, तुम, मैं इत्यादि भ्रामक तथ्यों का निर्माता दृश्य कहलाता है। जब तक यह भ्रम बना रहता है, तब तक मुक्ति संभव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो इंद्रियों का विषय बनता है, वह असत्य तथा भ्रामक है। सत्य वह है, जिसका कभी निषेध नहीं हो सकता है। यह जगत हमारे अनुभव में, शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से नहीं, अपितु चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व के कारण आता है। अनुभव से पूर्व, अनुभव के समय और अनुभव के बाद भी यह आत्मतत्त्व, निरंतर बना रहता है इसलिये सत्य है, क्योंकि सत्य का कभी अभाव नहीं होता है। सत्यस्वरूप आत्मतत्त्व का निषेध कभी संभव नहीं है। इसलिए इस दृश्य जगत का अनुभवकर्ता द्रष्टा ही सत्य है, और दृश्य का स्वभाव भ्रमात्मक है।

स्थावर और जंगम रूप में दिखाई देता यह भ्रमात्मक दृश्य जगत, सृष्टि चक्र की समाप्ति पर, वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे, जाग्रत-अवस्था स्वप्नावस्था में और स्वप्नावस्था सुषुप्ति की अवस्था नष्ट हो जाता है। दृश्य जगत की समाप्ति पर, प्रकाश और अंधकार से रहित, अनाम, अव्यक्त, स्थिर और गहन अस्तित्व की सत्ता ही शेष रह जाती है। इस जगत में व्यवहार करने के लिए बुद्धिमान पुरुषों द्वारा महान आत्मा को ऋत, आत्मतत्त्व, पर, ब्रह्म,

सत्य आदि संज्ञा दी गई है। आत्मतत्त्व सत्य है और सत्य परिवर्तनशील नहीं है। ऐसे में अपरिवर्तनशील सत्य से यह परिवर्तनशील दृश्य जगत कैसे उत्पन्न होता है?

इस प्रश्न के उत्तर का वर्णन करते हुए वसिष्ठ जी कहते हैं कि यद्यपि आत्मतत्त्व सत्-चित्-आनंद स्वभाव वाला है, तथापि चिंतन के माध्यम से आत्मतत्त्व ही मानो स्थूल हो जाता है और अपने आप से अपने को अलग प्रतीत करते हुए, जीव भाव को प्राप्त कर लेता है। समुद्र में उठने वाली तरंगों की भांति मन, इस दृश्य जगत में जीव का रूप धारण कर लेता है। मन ही सांसारिक मायाजाल को फैलाता रहता है। अविद्या, बंधन, माया, मोह, मल, तम, संसृति आदि नाम माया शक्ति के ही कल्पित किए गए हैं। जिस प्रकार स्वर्ण से निर्मित कंगन को स्वर्ण से अलग नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार परम सत्य आत्मतत्त्व के चिंतन के माध्यम से निर्मित इस जगत को आत्मतत्त्व से अलग नहीं किया जा सकता है।

निर्विचार अवस्था में मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। सभी प्रकार के संकल्पों का त्याग हो जाने के पश्चात् ही मनुष्य योग में स्थित होता है। सृष्टि के प्रारंभ से पूर्व और महाप्रलय के पश्चात् शांति और स्थिरता के साथ परमात्मा की सत्ता ही शेष रहती है। परमात्मा के दर्शन मात्र से साधक के हृदय की सारी ग्रंथियां टूट जाती हैं और संशय नष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा में व्यक्ति के समस्त कर्मों का नाश हो जाता है। योग के साधक को अनुभूति से जब अकर्ता आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है, तब वह अपने समस्त कर्मफलों का अभोक्ता हो जाता है। ऐसा साधक सुख-दुख से मुक्त अपने सत्-चित्-आनंद स्वरूप में स्थित रहता है।

इस जीवन में ही विदेहमुक्ति की अवस्था उसे प्राप्त होती है, जिसका एकमात्र लक्ष्य ज्ञान होता है। निरंतर आत्मज्ञान का चिंतन-मनन करते रहने से इस अवस्था की प्राप्ति होती है। जिसके मुख की प्रभा, सुख प्राप्त होने पर न तो बढ़ती है और न ही दुख के समय लुप्त होती है, जो अपने जीवन में उपस्थित परिस्थितियों के अनुरूप रहता है, उसे जीवनमुक्त कहते हैं। जिसने वासनाओं से मुक्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है और सुषुप्ति में रहते हुए भी जो जगा रहता है, उसके लिए कोई जाग्रत अवस्था नहीं है, वही जीवनमुक्त है।

यह संसार कर्मभूमि है। यहां जन्म लेने वाले जीव को कर्म करना ही पड़ता है। कर्ताभाव के साथ किया जाने वाला कर्म ही बंधनकारी होता है। जिसमें अहंकार का भाव नहीं है, उसकी बुद्धि कर्म करने अथवा कर्म न करने में लिप्त नहीं होती है। वह शरीर में

रहते हुए भी मुक्त अवस्था में रहता है। अहंकार के कारण ही व्यक्ति को राग, द्वेष और भय की अनुभूति होती है। योग विद्या से अविद्या की ग्रंथि टूटने पर व्यक्ति हर्ष, असहिष्णुता और भय से मुक्त हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति से न संसार को डर लगता है और न ही वह व्यक्ति संसार से डरता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त जीवनमुक्त पुरुष के शरीर की मृत्यु हो जाने पर, उसे विदेहमुक्ति की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

मनुष्य के जीवन में बंधन का कारण अज्ञान है। अज्ञान इच्छाओं के रूप में अभिव्यक्त होता है। इच्छाएं जीव भाव को, वासनाओं को और व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करने कर साथ ही साथ, पुनर्जन्म का भी कारण बनती हैं।

अधिगम का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करके, ऐसी बातों को सीखना है, जिससे जीवन की आवश्यकताएं पूरी होती हैं। ज्ञान की प्राप्ति के लिए अधिगमकर्ता में लक्ष्य के अनुकूल बुद्धि का होना आवश्यक है। योगवासिष्ठ में बुद्धि और ज्ञान संबंधी संकल्पनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। मनुष्य के अधिगम की भारतीय अवधारणा का आध्यात्मिक लक्ष्य आत्मा का ज्ञान है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए योगवासिष्ठ में साधकों को लाभ पहुंचाने के दृष्टिकोण से आध्यात्मिक उन्नति के लिए ज्ञान के सात सोपानों का वर्णन किया गया है। महर्षि वसिष्ठ ने श्रीराम से कहा कि अब मैं ज्ञान प्राप्ति के सोपानों का निर्वचन कर रहा हूं, उसे तुम ध्यान से सुनो। इस संसार में मैं मोहग्रस्त व्यक्ति की भांति क्यों रहता हूं? क्यों न मैं शास्त्रों और सज्जन पुरुषों की सहायता से परम सत्य को जानू। वैराग्यपूर्वक इस प्रकार उत्पन्न इच्छा को विद्वानों द्वारा **शुभेच्छा** नाम दिया गया है।

वैराग्य के अभ्यास और शास्त्र तथा सज्जनों के संग से सदाचार के प्रति जो झुकाव होता है उसे **विचारणा** कहते हैं। शुभेच्छा और विचारणा के साथ इंद्रियों की उनसे संबंधित विषयों में, जो अनासक्ति उत्पन्न होती है, उसे **तनुमानसा** कहते हैं।

ज्ञान प्राप्ति के इन तीन सोपानों के अभ्यास और इंद्रियों के विषयों से मन को वापस खींच लेने की शक्ति से जब मन की शुद्धि हो जाती है, तब अपने सच्चे स्वरूप की स्थिति का बोध होता है। इसे ही **सत्वापत्ति** कहते हैं। उपर्युक्त ज्ञान के चार सोपानों के अभ्यास से अनासक्ति के परिणामस्वरूप जब शुद्ध स्वरूप स्फूर्त होता है, तब उस स्थिति को **असनसक्ति** कहते हैं। उपर्युक्त ज्ञान की पांच भूमिकाओं के अभ्यास से अपने आत्मस्वरूप में आनंदित रहने के कारण, बाह्य एवं आंतरिक विषयों के चिंतन का अभाव हो जाता है। इसके बाद

दूसरों के द्वारा लंबे प्रयास के बाद ही संसार का अनुभव होता है, क्योंकि बाह्य जगत की समस्त वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। यह **पदार्थाभावना** नाम की ज्ञान की छठी भूमिका है।

ज्ञान प्रप्ति के इन छह सोपानों का दीर्घकालीन अभ्यास हो जाने पर जब भेद दृष्टि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, तब अपनी स्वरूप में निरंतर स्थित रहने की अवस्था को चतुर्थ अवस्था अर्थात् **तुरीयावस्था** कहते हैं।

हे राम, ज्ञान की सातवीं भूमिका तुर्यगा तक जो पहुंच गए हैं, वह बड़े भाग्यशाली हैं। ऐसे आत्मतत्त्व में रमण करने वाले पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। सामान्य मनुष्य को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति का बोध होता है, परंतु यह चौथी अवस्था उन्हें उपलब्ध होती है, जो जीवनमुक्त होते हैं। इस चतुर्थ अवस्था से परे एक और अवस्था है, जिसे विदेहमुक्ति कहते हैं। ज्ञान की इन सात भूमिकाओं की अनुभूति केवल सच्चे ज्ञानी को ही हो सकती है।

शरीर और संसार को सत्य मानकर जीने वाला व्यक्ति, जन्म-मृत्यु के चक्र से तब तक मुक्त नहीं हो पाता है, जब तक उसके हृदय में ज्ञान के पहले सोपान अर्थात् शुभेच्छा का जन्म नहीं होता है। मनुष्य के जीवन में वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर ज्ञान के अन्य सोपानों का उदय होना सुनिश्चित है। यही समस्त शास्त्रों का सार है। वह व्यक्ति जो योग के सोपानों का अभ्यास करते हुए जिस सोपान पर जहां तक पहुंचा है, उसके अनुसार उसके पूर्व जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।

शरीर और संसार में राग होने के कारण मनुष्य अपने सत्य स्वरूप के प्रति सोया रहता है। सद्शास्त्रों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अभ्यास से व्यक्ति अज्ञान की नींद से जागता है। अज्ञान ही जीव के बंधन का कारण है। यह दृश्य जगत भ्रमात्मक है, जब इसका ज्ञान होता है, तब जगत के प्रति वैराग्य हो जाता है। वैराग्य से विवेक जन्म लेता है और विवेकजनित ज्ञान से जीव को संसार बंधन से मुक्ति मिलती है। विवेक से ही, सबको सब प्रकार से, बिना क्रम के जाना जा सकता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के साथ अज्ञानता के कारण पुरुष का जो संबंध बना है उसका विच्छेद, विवेकज ज्ञान से होता है। प्रकृति और पुरुष दोनों की शुद्धि के पश्चात् योग के साधक को कैवल्य की अनुभूति होती है।

इस जगत में इच्छाओं के रहते हुए मनुष्य को योग के सोपानों में कभी प्रगति नहीं मिल सकती है। कामना, वासनाएँ, मन, संकल्प, स्मृति, कल्पना, स्पृहा आदि नाम इस इच्छारूपी हथिनी के ही हैं।

इच्छाओं को पूर्ण रूप से जीत लेने का एकमात्र अस्त्र “धैर्य” है। धैर्य को धारण करके अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य अपने जीवन में उसे चाहता है, जो उसके पास नहीं है, उसी को पाने के लिए प्रयास करता है। यह वस्तु मेरी हो जाए, इस प्रकार का विचार कल्पना कहलाता है। किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के संबंध में विचार न करना ही कल्पना का त्याग है।

इस संसार में किसी भी प्रकार के संकल्प का नहीं होना, सबसे अधिक कल्याणकारक है। जीव के सभी प्रकार के बंधनों का कारण संकल्प है और संकल्प का अभाव ही मुक्ति है। सभी संकल्पों से मुक्त, शांति में स्थित पुरुष के लिए संसार का बड़ा से बड़ा साम्राज्य भी तिनके के समान हो जाता है। किसी भी प्रकार का विचार न करने से मन स्वतः ही नष्ट हो जाता है। मन के नाश को ही योग कहते हैं। वसिष्ठ जी कहते हैं कि हे राम केवल ब्रह्म सत्य है। उस सत्य, सनातन, शांत, अजन्मा, विशुद्ध ज्ञान का ध्यान करना, सभी प्रकार के कर्मों का त्याग माना गया है। इसलिए योगी अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करते हुए, इस कर्मभूमि में अशुक्ल और अकृष्ण कर्म द्वारा, कर्म बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

7.4 श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम

यह संसार जड़-चेतन के संयोग से निर्मित है। यहां जन्म लेने वाले जीव की मृत्यु निश्चित है, इसलिए इसे मृत्युलोक भी कहते हैं। जन्म के पश्चात और मृत्यु से पूर्व, प्रत्येक जीव को इस जगत में कर्म करना ही पड़ता है। यह संसार कर्मभूमि है, यहां शरीर को धारण करने वाला जीव, कर्म से मुक्त नहीं हो सकता है। परमात्मा के अतिरिक्त यह संपूर्ण जीव जगत गुण-दोष युक्त है। गुण और दोष के कारण ही व्यक्ति के चित्त में साधक और बाधक वृत्तियों का निर्माण होता है। इन्हीं वृत्तियों के अनुसार मनुष्य इस संसार में तीन प्रकार के कर्म— पुण्य-कर्म, पाप-कर्म और पुण्य-पाप-मिश्रित कर्म, करता रहता है। फल की कामना से प्रेरित होकर जब कर्म किया जाता है, तब कर्म इन्हीं तीन श्रेणियों के अंतर्गत संभव है। इस प्रकार के कर्म को सकाम कर्म कहते हैं। सकाम कर्म बंधनकारी होता है। बंधन के कारण ही मनुष्य को दुख होता है। शरीर और संसार के दुख से मुक्ति के लिए मोक्ष की कामना का जन्म होता है। कामना संसार की हो या संसार से मुक्त होने की, दोनों ही व्यक्ति के बंधन का कारण बनती हैं। अज्ञानता के कारण बन्धन का आभास होता है और बंधन ही दुख का मूल कारण है।

श्रीमद्भगवद्गीता में दुख के संयोग से वियोग कराने वाली विद्या को योग कहते हैं। विद्या उसे कहते हैं जो, बंधन से मुक्ति दिलाए। अविद्या जड़-चेतन के संयोग का कारण है। द्रष्टा और दृश्य की एकता का आभास होने के कारण अहंकार का जन्म होता है। सुख-दुख का अनुभव अहंकार के कारण ही जीव को होता है। सुख को प्राप्त करने के लिए और दुख से मुक्त होने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति इस जगत में कर्म करता है। कामना से युक्त कर्म राग-द्वेष से प्रेरित होता है। सुख की कामना आसक्ति को जन्म देती है और आसक्ति बन्धनकारी है। यदि सकाम कर्म बन्धनकारी है, तो फल की आसक्ति से मुक्त होकर किया जाने वाला निष्काम कर्म मोक्ष प्रदायी है। गीता में व्यक्ति को केवल कर्म करने का अधिकार है। न तो किसी कर्मफल का कारण बनने और न ही कर्म से उत्पन्न होने वाले फलों पर उसका अधिकार है। कर्म न करने का भाव भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि कर्म के बिना तो इस संसार में कोई भी शरीरधारी एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोग शास्त्र है। जिसमें कर्म की कुशलता को ही योग कहते हैं। अहंकार वश मनुष्य राग-द्वेष से प्रेरित होकर, सुख की प्राप्ति और दुख से मुक्ति के लिए कर्म करता है। जीव को पाप कर्म की ओर ले जाने वाले शत्रु, काम और क्रोध हैं। इनके वशीभूत होकर दुख से मुक्त होने के लिए मनुष्य पाप कर्म करता है। अज्ञानतावश त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही अपना स्वरूप मानने वाला जीव, रजोगुण के कारण काम और क्रोध के वशीभूत हो जाता है। योग के अधिगम से जब तक मन में उठने वाले समस्त कामनाओं का त्याग नहीं होता, तब तक जीव को आत्मानंद की अनुभूति नहीं होती है। आत्मा द्वारा आत्मा में ही संतुष्ट रहने वाला मनुष्य, स्थितप्रज्ञ कहलाता है। जिसको अपने वास्तविक स्वरूप का बोध है, वह दृश्य से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है। सुख-दुख से मुक्त, अपने आनंदस्वरूप की अनुभूति के पश्चात ही, जीव को राग-द्वेष और भय से मुक्ति मिलती है।

अविद्या के आवरण से ढका जीव, अपने ब्रह्मस्वरूप की विस्मृति के कारण अहंकार वश सकाम कर्म करता है। देहात्मभाव के साथ निरंतर विषयों का चिंतन करते रहने से, आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति के कारण कामना और कामना से ही क्रोध उत्पन्न होता है। कामनाएं कभी पूरी नहीं होती हैं। इसलिए कामना के साथ क्रोध का होना अनिवार्य है। क्रोध ही व्यक्ति के मूढ़ता की जड़ है। मूढ़ता से स्मृति भ्रांत हो जाती है। भ्रांत-स्मृति

आत्मज्ञान को नष्ट कर देती है। जिस मनुष्य का आत्मज्ञान नष्ट हो गया वह मरणधर्मा शरीर और संसार की वस्तुओं को अपना मानते हुए, मृतक के जैसा हो जाता है।

आत्मज्ञान से समस्त आसक्तियों को त्यागकर, सफलता और विफलता के प्रति समान भाव रखकर, कर्म करने को योगस्थ कर्म कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में समता को ही योग की संज्ञा दी गयी है। फल की कामना से प्रेरित होकर कर्मफल के लिए कर्म करने वाले लोग दया के पात्र हैं। प्रत्येक व्यक्ति को समत्व बुद्धि का आश्रय लेकर कर्म करना चाहिए, क्योंकि यह कर्म ही व्यक्ति को कर्म-बंधन से मुक्ति दिलाता है। योग में स्थित होकर, समत्व बुद्धि से किए जाने वाले निष्काम कर्म की तुलना में सकाम कर्म बहुत तुच्छ है। समता बुद्धि वाले पुरुष को पुण्य-पाप का स्पर्श नहीं होता है। इसलिए मनुष्य को समत्व बुद्धि के साथ कर्म करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। समता ही कार्य कुशलता है और कर्म की कुशलता को ही योग कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में अनासक्त कर्म करने की कुशलता को योग की संज्ञा दी गई है। अज्ञानता के कारण मनुष्य शरीर और संसार को अपना मानते हुए, जीवनभर इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करता है और अपूर्ण इच्छाओं के साथ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अपूर्ण इच्छाएं ही पुनर्जन्म का कारण बनती हैं। जन्म और मृत्यु का चक्र कामनाओं के कारण सतत् चलता रहता है। इस भवचक्र के बंधन से मुक्ति का मार्ग ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म है। ज्ञान से सत्य का साक्षात्कार होता है। इस दृश्य जगत की नश्वरता का ज्ञान, सत्य ज्ञान है। इस ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न होता है। जीव का इस जगत से राग तभी मिटता है, जब दृश्य जगत के भ्रामक सत्य का साक्षात्कार हो। वास्तव में वैराग्य सत्य का साक्षात्कार है। प्रकृति से मुक्त पुरुष का ज्ञान परम वैराग्य से ही सिद्ध होता है। चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् द्रष्टा को अपने स्वरूप का बोध होता है। अनासक्त कर्म, भ्रमात्मक दृश्य जगत के ज्ञान के परिणामस्वरूप ही होता है। समत्वभाव के साथ पुण्य-पाप से मुक्त होकर, स्थिर बुद्धि से किया जाने वाला निष्काम कर्म ही योग है। गीता में वर्णित कर्म अनसक्तियोग है। यह कर्म जीव को भवसागर से पार कराने वाला तथा बंधन से मोक्ष दिलाने वाला है।

इस सृष्टि में आरंभ से ही दो मार्ग चलते आ रहे हैं— जिनका व्यक्ति अपनी वृत्तियों के अनुसार अनुसरण करता है। एक मार्ग में ज्ञान की प्रधानता है, तो दूसरे मार्ग में कर्म की प्रधानता है। इस जगत में जन्म लेने वाला जीव एक पल के लिये भी अकर्म नहीं हो

सकता है, इसलिए ज्ञान भी बिना कर्म के नहीं आता है। ज्ञान जब कर्म में परिलक्षित होता है तब अधिगम की प्रक्रिया पूरी होती है। मनुष्य स्वभाव से एक जिज्ञासु प्राणी है। जिज्ञासा के कारण ही स्वयं को जानने के साथ ही संसार को जानने की इच्छा, मनुष्य में सतत् बनी रहती है। इसलिये अपने जीवन के अर्थ को खोजते हुए कर्म के द्वारा जीवन की पहली को सुलझाने के लिए, मनुष्य के जीवन में अधिगम की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है।

उत्पत्ति, स्थिति और विनाश जगत का नियम है। इस नियम के अनुपालन में प्रकृति की क्रियाशीलता बनी रहती है। जगत में जन्म लेने वाला जीव, कर्म का त्याग नहीं कर सकता है। मनुष्य के जीवन में बंधन, कर्म से नहीं वरन् कामना से होता है। आसक्ति के साथ किया जाने वाला कर्म, परिणाम से प्रेरित होता है। जीवन में राग, द्वेष और भय नामक दुख, परिणाम केंद्रित मानस के कारण उत्पन्न होते हैं। सकाम कर्म से बुद्धि अस्थिर होती है। स्थिर बुद्धि से युक्त होकर योगस्थ कर्म किया जा सकता है। अपनी कामनाओं को त्याग कर शुचिता के साथ अपने अंतर में ही जो मनुष्य संतोष को प्राप्त करता है, उसे स्थिरचित्त, स्थिरबुद्धि, समाधिस्थ अथवा स्थितप्रज्ञ कहते हैं। ज्ञान और कर्म के योग से मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मन सभाव से चंचल है। मन की स्थिरता के लिए सतत् आत्मचिंतन की आवश्यकता है। आत्मचिंतन के आधार पर ही मनुष्य सब जीवों को अपने में और अपने को सबमें देखता है। “वसुधैव कुटुंबकम्” का बोध आत्मचिंतन से ही होता है। आत्मा से ही आत्मा का उद्धार किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा ही स्वयं का बंधु और आत्मा ही स्वयं का शत्रु है। जिसने अपने मन को जीत लिया, उसकी आत्मा उसकी बंधु तथा जिसके द्वारा उसका मन नहीं जीता गया, वह स्वयं के साथ शत्रु जैसा व्यवहार करता है। सुख—दुख, सदी—गर्मी, लाभ—हानि, मान—अपमान आदि जीवन के द्वन्द्वों में जिसने अपनी इंद्रियों को जीत लिया है, वह जितात्मना समभाव को प्राप्त होता है। जो सब में समान भाव रखता है, वही श्रेष्ठ है। मनुष्य का मन जब सभी प्रकार की कामनाओं से निस्पृह हो जाता है, तब आत्मा में स्थिर होता है। ऐसे स्थिरबुद्धि वाले व्यक्ति को योगी कहते हैं। योगी अपने मन को अंकुश में रखकर परम शांति को अनुभव करता है।

मनुष्य को आत्मा द्वारा आत्मा को पहचान कर, आत्मा में ही संतोष की अनुभूति होती है। संतोष से इंद्रियों के अनुभव में आने वाले सुख से परे, अनंत सुख का अनुभव होता है। संतोष से मिलनेवाले सुख में चित्त चलायमान नहीं होता है। जहां चित्त की चंचलता जीवन

में दुख का कारण है, वहीं आत्मा में स्थित चंचलता से मुक्त चित्त, दुख के संयोग से वियोग की अवस्था है। इस अवस्था को योग कहते हैं। योग के अधिगम से जिसने समत्व भाव को प्राप्त कर लिया है, वह समस्त भूतों में अपने को और अपने में समस्त भूतों को देखता है। जो मनुष्य सुख—दुख में समान भाव रखकर अपने जैसा ही सब को देखता है, वही वास्तव में श्रेष्ठ योगी है।

यह संपूर्ण जगत परा और अपरा प्रकृति से संबंधित है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूपी पंचमहाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार को अपरा प्रकृति एवं जीव को परा प्रकृति कहते हैं। अज्ञान के कारण जीव को अहंकारवश राग, द्वेष और भय का अनुभव होता है। वास्तव में प्रकृति के गुण ही गुणों में क्रियाशील हैं। इस पूरी जगत का एकमात्र आधार ब्रह्म है। जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की क्रिया का मूलभूत कारण, परम सत्य है। सत्य सनातन है और सनातन ही ब्रह्म है। आत्मानुसन्धान करते हुये अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करना, मनुष्य का सनातन धर्म है। इस धर्म से जीवन का अर्थ प्रकट होता है और आत्मानुभूति से व्यक्ति पूर्णकाम हो जाता है। समस्त कामनाओं से मुक्ति को ही मोक्ष कहते हैं। सत्य का ज्ञान मनुष्य को लोक—कल्याणकारी प्राणी के रूप में विकसित करता है। इसलिए सत्य ही शिव है और शिव ही सुंदर है। मनुष्य के जीवन में सौंदर्य की अभिव्यक्ति सत्य के ज्ञान से ही संभव है। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का अभ्यास विवेक को उत्पन्न करने वाले हैं और विवेक से ही सत्य का ज्ञान होता है।

इस संसार में कोई मनुष्य अपने दुख को दूर करने के लिए सत्यस्वरूप ब्रह्म को भजता है। कोई अपनी कामनाओं को सिद्ध करने के लिए परमात्मा का भजन करता है, कोई जिज्ञासा वश समझने—बुझने के लिए परमात्मा का चिंतन करता है और कोई ऐसा ज्ञानी होता है, जो सत्य स्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त, इस जगत में दूसरा कुछ भी नहीं देखता है। अद्वैत का बोध ज्ञानी भक्त को ही होता है, वास्तव में परम सत्य को देखने वाला ही द्रष्टा है। ऐसा अपने स्वरूप को उपलब्ध हुआ ज्ञानी भक्त, भगवान को सबसे अधिक प्रिय है।

मनुष्य का स्वभाव उसे कुछ न कुछ करने के लिए बाध्य अवश्य करेगा। इसलिए व्यक्ति को अपनी इंद्रियों को वश में करके राग—द्वेष से रहित होकर, अनासक्त भाव से कर्मयोग का आचरण करना चाहिए। मनुष्य को इस जगत में यज्ञ कर्म करना चाहिए। यज्ञ कर्म से तात्पर्य जगत के जीवन के लिए राग—द्वेष से मुक्त होकर जीवन के हेतु, सेवा भाव

से किया जाने वाला कर्तव्य—कर्म है। चिन्तन करने पर यह ज्ञात होता है कि जगत के जीवन से ही मनुष्य का जीवन है। इस संसार में यज्ञ से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से जीवों का निर्वाह होता है। यज्ञ—कर्म से मनुष्य इस जगत में उत्पन्न हुए पर्यावरण एवं जैव विविधता के संकट से विश्व समुदाय को मुक्ति दिला सकता है।

निर्गुण, निराकार, चैतन्य—पुरुष का जब त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति से संयोग होता है, तब वह सगुण—साकार हो जाता है। इस जगत में अज्ञानतावश जीव को अपने सगुण—साकार रूप का ही दर्शन होता है। इसलिए मनुष्य को निर्गुण—निराकार—ब्रह्म की उपासना से सरल सगुण—साकार—ब्रह्म की उपासना लगती है। प्रकृति के गुणों में क्रियाशीलता, रजोगुण के कारण बनी रहती है। मनुष्य के महान शत्रु— काम और क्रोध को जन्म देने वाला, रजोगुण है। जिस प्रकार अग्नि के प्रज्वलित होने में धुआं बाधा उत्पन्न करता है, उसी प्रकार काम और क्रोध मनुष्य के सत्य, सनातन, आत्म—स्वरूप के ज्ञान में बाधा उत्पन्न करते हैं। कामनाओं की अग्नि इतनी विकराल है कि यह शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार, सब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेती है। अज्ञानता के कारण मनुष्य कामनाओं को पूरा करने में ही अपने आत्मस्वरूप की विस्मृति के साथ जीवन व्यतीत कर देता है।

इंद्रियां प्रमथनशील स्वभाव की हैं। इंद्रियों द्वारा विषयों का लगातार चिंतन करने के कारण, आसक्ति का जन्म होता है और आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामनाएं कभी तृप्त नहीं होती, इसलिए कामना वाले मनुष्य में क्रोध का होना अनिवार्य है। अज्ञान के कारण मन के अधीन रहने वाले पुरुष में काम और क्रोध से जन्म लेने वाली मूढ़ता बनी रहती है और उन्हें अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। अपने स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से जिन्होंने मन को अपने वश में कर लिया है, उनकी इंद्रियां राग—द्वेष से रहित होकर चित्त की प्रसन्नता का कारण बनती हैं।

चित्त की प्रसन्नता से संपूर्ण दुख दूर हो जाते हैं और बुद्धि स्थिर हो जाती है। समत्व रूप योग का दर्शन स्थिर बुद्धि से ही होता है।

प्रकृति के तीन गुणों से निर्मित चित्त, स्वभाव से चंचल है। अभ्यास और वैराग्य से चित्त की चंचलता को दूर किया जा सकता है। तमोगुण की निवृत्ति अभ्यास से, रजोगुण की निवृत्ति वैराग्य से और सतोगुण की निवृत्ति आत्मज्ञान से होती है। आत्मज्ञान का अधिगम योग विद्या से अविद्या की ग्रंथि से निर्ग्रन्थ होने के परिणामस्वरूप विवेक से होता

है। जहां समत्व नहीं होता है, वहां विवेक भी नहीं होता है। बिना विवेक के भक्ति भी नहीं होती और भक्ति के बिना शांति कैसे संभव है? जहां शांति नहीं होती, वहां सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

इस संसार में सुख की चाह में मनुष्य को विषयों के पीछे भटकाने वाली उसकी इंद्रियां हैं। इंद्रियों के पीछे जिस पुरुष का मन दौड़ता है, उसकी बुद्धि, मन अपनी दिशा में वैसे ही खींच लेता है जैसे, वायु नदी के जल से नाव को अपने प्रवाह की दिशा में खींच लेता है। अतृप्त रहने वाली कामनाएं आत्मज्ञान का शत्रु हैं। इंद्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार इस शत्रु के निवास का स्थान हैं। शरीरधारी पुरुष को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान, कामनारूपी शत्रु को धारण करने वाले अहंकार के कारण नहीं होता है। राग-द्वेषात्मक स्वभाव वाली इंद्रियों में कामना उत्पन्न होने पर मन मलिन हो जाता है और विवेकशक्ति मंद हो जाती है, जिसके कारण आत्मस्वरूप की विस्मृति हो जाती है। इंद्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे आत्मा है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा को पहचान कर, आत्मा के द्वारा मन को वश में करके, कामनारूपी शत्रु का संहार करना चाहिए।

अभ्यास और वैराग्य की साधना से जिस संयमी पुरुष ने, अपनी इंद्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में कर लिया है, उसकी बुद्धि समत्व योग में स्थिर हो जाती है। जहां संसार के समस्त प्राणी इंद्रियों के साथ जागते हैं, वहां अपने स्वरूप में स्थित मुनि सोता है। जहां संसार के सभी प्राणी सोते हैं, वहां संयमी जागता है। भारतीय अध्यात्मिक अधिगम प्रक्रिया में अभ्यास और वैराग्य के बिना, यथार्थ अधिगम करा पाना संभव नहीं है।

पश्चिमी मनोविज्ञान रूचि और और ध्यान को अधिगम के संदर्भ में विशेष महत्व प्रदान करता है। मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक द्वारा बताए गए अधिगम के नियमों में से एक नियम अभ्यास का भी है। मनुष्य भूल एवं अभ्यास के सिद्धांतों के अनुसार जीवन-पर्यंत सीखता रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन जब भगवान श्री कृष्ण से पूछता है कि चंचल मन को साधने के लिए किस प्रकार की साधना की जाए? तब भगवान कृष्ण कहते हैं कि मन स्वभाव से चंचल है और इसे वश में करना कठिन है, परंतु अभ्यास और वैराग्य से इसे वश में किया जा सकता है।

मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले अधिगम प्रक्रिया में चिंतन और बुद्धि का प्रमुख स्थान है। इसके आधार पर सीखने की प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती रहती है। मनुष्य के जीवन में

शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक इत्यादि स्तर पर सीखने की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। जीवन के विभिन्न स्तरों पर परिवर्तन लाने के प्रयास को सीखना कहते हैं।

जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण नया सीखने का भाव मनुष्य में निरंतर बना रहता है। कोई कार्य सीखने का अर्थ है, अनुभव कोष में नई वस्तु की वृद्धि होना, जिसको स्मृति में धारण करके पुनः समय और परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति उसका उपयोग करता है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी धारणा पुष्ट होती है। बाल्यावस्था में जैविक आवश्यकताओं की प्रधानता होती है, परंतु जैसे-जैसे मनुष्य का बौद्धिक विकास होता है वैसे-वैसे, सीखने की प्रवृत्ति के कारण उसके अनुभव कोष में वृद्धि होती रहती है। इस प्रक्रिया में स्मृति सहायक होती है, क्योंकि बिना स्मृति की सहायता के पूर्व में प्राप्त अनुभवों का उपयोग नहीं किया जा सकता है। अनुभव से प्राप्त ज्ञान को अनुभूत ज्ञान कहते हैं। अनुभूत दृष्ट अथवा श्रुत ज्ञान अर्थात् नामरूपात्मक ज्ञान का संस्कार चित्त में पड़ता है। संस्कार जब चित्त में स्थापित हो जाता है तब वही वृत्ति बन जाता है।

अधिगम से अनुभवों में वृद्धि होती है और व्यक्ति का विकास होता है। अनुभव द्वारा व्यक्ति के विकास को अधिगम कहते हैं। अधिगम और परिपक्वता के योग से विकास होता है। परिपक्वन द्वारा मनुष्य का स्वाभाविक रूप से विकास होता है, परंतु अनेक ऐसे कार्य और व्यवहार हैं जिनके लिए अधिगम की आवश्यकता होती है। अधिगम उद्देश्यपूर्ण होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के विकास, प्रगति और सुख के लिए अधिगम करता है। जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अधिगम की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। भारतीय मानस शास्त्र में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को अधिगम की उत्प्रेरण का आधार माना जा सकता है।

योग के अधिगम का अर्थ व्यक्ति को पुरुषार्थ चतुष्टय से युक्त बनाना है। महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र का प्रारंभ सीखने के प्रथम सिद्धांत योगानुशासन से होता है। सीखना एक अनुशासन है, जिसमें वैकल्पिक वृत्तियों का जब निरोध होता है, तब ध्यान देने पर नई वस्तु के ज्ञान से अनुभव कोष में वृद्धि होती है। अनुभूति से प्राप्त ज्ञान व्यक्ति की स्मृति के आधार पर बाद के कार्यों में पुनः दिखाई देता है। सीखना अनेक प्रकार से हो सकता है। अधिगम के परिणामस्वरूप व्यवहार में परिष्कार होता है।

मनुष्य शरीर और मन के योग से अधिगम करता है। आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही संभव है। शरीर जड़ है और आत्मा चैतन्य स्वरूप है। यद्यपि ये दोनों

विजातीय हैं, परंतु अधिगम की प्रक्रिया इन दोनों के संयोग से ही पूरी होती है। आत्मा चेतन है और उसका प्रकाश चित्त पर पड़ता है जिससे चित्त चैतन्य प्रतीत होता है। चित्त और शरीर एक दूसरे से संबंधित होते हैं। चित्त, शरीर को और शरीर, चित्त को प्रभावित करता है।

प्रकृति और पुरुष के संयोग का प्रथम विकार बुद्धि है, बुद्धि का विकार अहंकार और अहंकार का विकार मन है। अहंकार के विकारों में ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नामक पंचतन्मात्राएँ, पांच ज्ञानेंद्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूपी पंचमहाभूतों से भौतिक जगत तथा शरीर का निर्माण हुआ है। ये पंचमहाभूत पंचतन्मात्राओं के ही विकृत रूप हैं। इससे स्पष्ट होता है कि चित्त और शरीर प्रधान प्रकृति के विकार हैं। जीव के जीवन में अधिगम की प्रक्रिया इनके योग से ही संपन्न होती है।

मनुष्य के विकास के साथ ही साथ उसके अधिगम कोष में वृद्धि होती है। इस कार्य को सिद्ध करने में स्मृति सहायक होती है। मन का स्वभाव संकल्प—विकल्प करना है। जब मन के वैकल्पिक वृत्तियों का निरोध होता है, तब चित्त एकाग्र होता है। एकाग्र चित्त से ध्यानपूर्वक अभ्यास द्वारा व्यक्ति सीखता है। सीखना, अनुभव और अभ्यास के माध्यम से होता है। अनुभव के द्वारा जानी गई वस्तु को अनुभूत विषय कहते हैं। अनुभूत पदार्थ विषयक ज्ञान को स्मृति वृत्ति कहते हैं।

प्रमाण, विपर्यय और विकल्प द्वारा जिस किसी भी वस्तु या विषय के ज्ञान को हम जाग्रत अवस्था में अनुभव करते हैं, उस अनुभूत विषय—वस्तु का संस्कार चित्त पर पड़ता है। चित्त के संस्कारों से स्मृति होती है। जाग्रत अवस्था में जैसा हम अनुभव करते हैं, उसी के सदृश संस्कार होते हैं और जैसे संस्कार होते हैं, उसी के अनुरूप स्मृति होती है। निद्रा की अवस्था में अभाव का अनुभव होता है। इस अभाव के अनुभव के सदृश निद्रा नामक वृत्ति की स्मृति होती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि स्मृति के संस्कार भी चित्त पर पड़ते हैं और चित्त के संस्कारों के अनुरूप स्मृति होती है। स्वप्न की अवस्था में जागृत अवस्था के अनुभूत विषयों की स्मृति होती है।

जागृत अवस्था में स्मृति में आने वाले विषय दिखाई देते हैं और स्वप्न की अवस्था में दिखाई देने वाले विषय मन के द्वारा कल्पित होते हैं। स्वप्नावस्था स्मृति के स्मृति की अवस्था है। प्रत्येक मनुष्य को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था का ज्ञान होता है। ज्ञान के अनुभवजन्य संस्कारों के अधिगम से प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति वृत्ति

उत्पन्न होती है। किसी भी प्रकार के नए ज्ञान को सीखने में पूर्व के संस्कारों से सहायता मिलती है। पूर्व के अनुभवों का उपयोग स्मृति के बिना नहीं किया जा सकता है। महर्षि पतंजलि चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। योग के सीखने का अर्थ है— व्यक्ति को युक्त बनाना। वह अपने स्वरूप से भी युक्त हो सकता है और चित्त की वृत्तियों से भी युक्त हो सकता है।

चित्त के संस्कारों का संबंध मानव के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से होता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुणों से चित्त प्रभावित होता है। इन गुणों के आधार पर ही श्रीमद्भगवद्गीता में व्यक्ति के सात्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धि का विभाजन एवं विवेचन किया गया है। भारतीय मानस शास्त्र में अंतःकरण चतुष्टय के अंतर्गत, मन और बुद्धि का संबंध सूक्ष्म शरीर से और चित्त एवं अहंकार का संबंध कारण शरीर से माना गया है।

पंचकोशीय अवधारणा के अंतर्गत मनोमय कोश मन से संबंधित है। मन के साथ जब बुद्धि का संयोग हो जाता है, तब मन ही विज्ञानमय कोश का रूप धारण कर लेता है। मानव शरीर के दस इंद्रियों और पंच तन्मात्राओं के आधार पर ज्ञान का आदान-प्रदान, मन ही करता है। जहाँ पांच ज्ञानेंद्रियां ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती हैं, वहीं पांच कर्मेन्द्रियों के द्वारा व्यक्ति क्रिया और व्यापार का अधिगम करता है। ये सभी इंद्रियां मन की सहायता के बिना कुछ भी करने में अक्षम हैं, क्योंकि वृत्तियां मन की होती हैं और अधिगम वृत्तियों के द्वारा ही संपन्न होता है।

योगवासिष्ठ में मन का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि “जब चेतन आत्मा स्पंदनयुक्त होकर कल्पनात्मक रूप धारण कर, विभिन्न विषयों की ओर आकर्षित होता है, तब वह मन कहलाता है।” मन में शुद्ध और अशुद्ध वासनाओं का जन्म होता रहता है। साधक को शुद्ध वासनाओं का अभ्यास करके अशुद्ध वासनाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में भी साधक और बाधक रूप में चित्त की वृत्तियों का विभाजन किया गया है। साधक वृत्तियों का अभ्यास करके योग का अधिगम किया जाता है।

मन की साधक और बाधक वृत्तियों का निर्माण गुणों के आधार पर होता है। सतोगुण से प्रभावित मन में सौम्यता और शांति की प्रधानता होती है। रजोगुण से प्रभावित मन, चंचल और चपल प्रकृति का होता है। तमोगुण से प्रभावित मन में आलस्य, निष्क्रियता,

प्रमाद, निद्रा तथा जड़ता की प्रधानता होती है। तमोगुण के प्रभाव से राक्षसी प्रकृति, रजोगुण के प्रभाव से आसुरी प्रकृति और सतोगुण के प्रभाव से दैवी प्रकृति का दर्शन व्यक्ति के व्यक्तित्व में होता है। तमोगुण के प्रभाव से प्रभावित मन को अभ्यास से, रजोगुण के प्रभाव से प्रभावित मन को वैराग्य से तथा सतोगुण से प्रभावित मन को आत्मानुभूति से मुक्त किया जा सकता है। आत्मानुभूति को ही मोक्ष कहते हैं। योगसूत्र में योग चित्तवृत्तियों का निरोध है। योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ, मन के नाश को योग कहते हैं और श्रीमद्भगवद्गीता में राग, द्वेष और भय से मुक्त होकर अनासक्ति पूर्वक समत्व भाव से निष्काम कर्म करने के कौशल को योग कहते हैं।

योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम अभ्यास और वैराग्य के बिना संभव नहीं है। पाश्चात्य मनोविज्ञान अधिगम के संबंध में रुचि और ध्यान को महत्व देता है। मन के द्वारा मन की वृत्तियों का अधिगम किया जा सकता है। मन स्वभाव से चंचल है। अभ्यास और वैराग्य की सहायता से मन को वश में किया जाता है। कोई भी नया कार्य सीखने के लिए मन को पूरी एकाग्रता के साथ लगाना होता है। एकाग्र मन से निरंतर अभ्यास के द्वारा अधिगम की प्रक्रिया संपन्न होती है। संकल्प और विकल्पों में विचरण करना मन का स्वभाव है। मन से वैकल्पिक वृत्तियों का निरोध होने के पश्चात् ही संकल्पित विषय में ध्यान केंद्रित होता है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सीखता है।

योगसूत्र में चित्तवृत्ति की स्थिति के लिए प्रयत्न करने को अभ्यास की संज्ञा दी गई है। इस स्थिति की दो दशाएं होती हैं। एक स्थिति में चित्त की सारी वृत्तियों का आभाव हो जाने के परिणामस्वरूप परम शांति की अनुभूति होती है। दूसरी स्थिति में चित्त की प्रशांतवाहिनी वृत्तियां होती हैं। जिसमें राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी अविद्याजनित क्लेशों के द्वन्द्व, योग विद्या के अभ्यास से चित्त में नहीं होते हैं। इस स्थिति को पाने के लिए यत्न करना अभ्यास है। इस अभ्यास के परिणामस्वरूप चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।

वैराग्य से आशय परिवर्तनशील दृश्य जगत् के प्रत्येक वस्तु की क्षणभंगुरता का यथार्थ ज्ञान है। इस ज्ञान के परिणामस्वरूप जगत् में दुख का दर्शन होता है। मनुष्य जीवन भर शांति और सुख की तलाश में लगा रहता है, परंतु दृश्य जगत् की क्षणभंगुरता के वास्तविक सत्य के साक्षात्कार के बिना यह संभव नहीं है। जगत् की नश्वरता का ज्ञान होने के पश्चात् जगत् में किसी भी प्रकार की विषय-वस्तु के प्रति तृष्णा नहीं रह जाती है। तृष्णा से रहित अवस्था को वैराग्य कहते हैं। जब तक संसार के विषय वस्तुओं में निःसारता

का बोध नहीं होता है, तब तक तृष्णा का मिटना संभव नहीं है। मनुष्य की जाग्रत और स्वप्नावस्था में देखे और सुने गए विषयों की चित्त में स्मृति होती है। सुषुप्ति की अवस्था में अभाव की स्थिति होती है। अभाव के स्मृति की स्मृति के अवस्था को निद्रा कहते हैं। सामान्यतया व्यक्ति को इन तीन अवस्थाओं की ही अनुभूति होती है। मनुष्य जो भी नया सीखता है, उसकी स्मृति का संस्कार चित्त में स्थापित हो जाता है। स्मृति से संस्कार और संस्कार, चित्तवृत्तियों के निर्माण में सहायक होते हैं।

योगसूत्र में देखे और सुने गए विषयों के प्रति तृष्णा का सर्वथा अभाव वाली वशीकार नामक चित्त की स्थिति को वैराग्य कहते हैं। वास्तव में वैराग्य दृश्य जगत की क्षणभंगुरता के सत्य का साक्षात्कार है। संसार के सारे विषय—भोग, दुख और दोष से परिपूर्ण हैं। योग के अधिगम से जब मनुष्य का निरंतर विवेक जागृत रहता है, तब इस सत्य का पूर्णरूपेण अनुभव होता है। संसार के विषय—वस्तुओं में दोष दर्शन हुए बिना, वैराग्य की अनुभूति नहीं होती है। चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् जब प्रकृति से मुक्त पुरुष का ज्ञान हो जाता है, तब गुणों से भी तृष्णा की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था को पर—वैराग्य कहते हैं। अपर—वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि और पर—वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। भारतीय मनोविज्ञान में योग का अधिगम, अभ्यास और वैराग्य के बिना संभव नहीं है।

इस संसार में प्रत्येक शरीरधारी को कर्म करना ही पड़ता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं— निषिद्ध कर्म और विहित कर्म। जिस कर्म का निषेध किया जाता है उसे पाप कर्म तथा इसके विपरीत जो कर्म श्रुति प्रमाण से करने योग्य हो उसे, पुण्य कर्म कहा जाता है। योगसूत्र में इन कर्मों के संग्रह को **कर्माशय** कहते हैं। मनुष्य के जीवन में मोह, अहंकार, काम, क्रोध और आसक्ति से कर्म उत्पन्न होते हैं। इन कलेशों के कारण ही सारे कर्म जन्म लेते हैं और कर्म के अभ्यास से अधिगम होता है।

आज के जीवन अथवा आगे आने वाले जीवन में व्यक्ति को अपने किए गए कर्मों के फल को भोगना पड़ता है। मनुष्य रात—दिन मन, वचन और इंद्रियों से कर्म करता है। इन समस्त कर्मों का मूल अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पंच क्लेश हैं। जिनसे प्रेरित होकर प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करना पड़ता है। जब तक कर्मों का जड़ विद्यमान रहता है, तब तक पाप—पुण्य कर्मों का आशय बना रहता है। जिसके परिणामस्वरूप जीव को जन्म लेकर अपनी आयु तक, सुख—दुख का अनुभव होता रहता है।

अज्ञान के कारण जीव अपने जीवन में जन्म, आयु और भोग की यात्रा करता रहता है। जीव के जन्म और मृत्यु की यात्रा का कारण पुण्य और पाप कर्म हैं, जिसके परिणामस्वरूप हर्ष और शोक रूपी फल की प्राप्ति होती है। इन कर्मफलों से प्रेरित होकर मनुष्य के जीवन में अधिगम की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।

अवचेतन मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के समस्त क्रियाओं, विचारों और उद्देश्यों का कारण उसके अवचेतन मन की अवस्थाएं हैं। भारतीय मानस शास्त्र में अवचेतन मन का निर्माण करने वाले घटक को **संस्कार** कहते हैं। चित्त की वृत्तियां, चित्त पर अपने ही अनुरूप अपना छाप छोड़ती हैं, जिसका संस्कार चित्त पर स्थापित हो जाता है। संस्कारों के आधार पर व्यक्ति सीखता है। सीखना शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक इत्यादि स्तरों पर होता है। संस्कार तीन प्रकार के होते हैं— ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक संस्कार। इन तीन प्रकार के संस्कारों के अतिरिक्त, पूर्वजन्म के संस्कार के साथ ही साथ बच्चे में गर्भावस्था के संस्कार भी होते हैं। जिन्हें **वासनाएं** कहते हैं। व्यक्ति के रुचियों एवं प्रवृत्तियों को प्रेरित करने वाली वासनाएं होती हैं। इस जन्म में प्राप्त होने वाले अनुभव से **ज्ञानात्मक संस्कार**, उद्देश्य और भावनाओं से **भावात्मक संस्कार** तथा जो क्रियाएं हम करते हैं, उनसे **क्रियात्मक संस्कार** का निर्माण होता है। ज्ञानज संस्कार अवचेतन अवस्था में होते हैं, जो उपायुक्त समय और परिस्थितियों को पाकर चेतन अवस्था में प्रकट हो जाते हैं।

व्यक्ति जो कुछ भी सीखता है, उसके स्मृति का कारण ज्ञानज संस्कार ही हैं। संवेग और भावनाओं के भी संस्कार होते हैं, जो क्रियाओं के प्रेरक होते हैं। हम जो भी कर्म करते हैं उसके भी संस्कार चित्त पर स्थापित हो जाते हैं, जिन्हें **कर्माशय** कहते हैं। पुण्य कर्म से धर्म और पाप कर्म से अधर्म उत्पन्न होता है। पुण्य—पाप रूप कर्माशय ही जन्म, आयु और भोग को उत्पन्न करते हैं। कर्माशय के संस्कार से युक्त चित्त ही, जीवात्मा के एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करने का कारण बनता है।

ज्ञानात्मक संस्कार स्मृति को, भावनात्मक संस्कार क्लेशों और संवेगों को तथा क्रियात्मक संस्कार जाति, आयु और भोगों को उत्पन्न करने का कारण बनते हैं।

मनुष्य जो भी कर्म करता है उसके संस्कार चित्त में तीन प्रकार से स्थापित होते हैं— **संचित कर्म** के संस्कार चित्त में केवल विद्यमान होते हैं, **प्रारब्ध कर्म** के संस्कार से जन्म, आयु और भोग की प्राप्ति हुई है और **क्रियमाण कर्म** का संस्कार इस जन्म में नया कर्म करके व्यक्ति अपने चित्त में संग्रह करता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में पुनर्जन्म और कर्म

सिद्धांत, जीवात्मा के **कर्म संस्कारों** पर आधारित है। मनुष्य के अधिगम की संपूर्ण प्रक्रिया इन संस्कार सिद्धांतों पर आधारित है।

भारतीय मनोविज्ञान में मनुष्य की शिक्षा, शिक्षण और अधिगम प्रक्रिया का मूलाधार **संस्कार सिद्धांत** हैं। संस्कारों के आधार पर ही बालक का शारीरिक मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। अर्वाचीन मनोविज्ञान में अधिगम के सिद्धांतों का निर्धारण चूहों, बिल्लियों, कुत्तों आदि पशुओं पर प्रयोग करके किया गया है। भारतीय ज्ञान परंपरा में मनुष्य के सीखने की प्रक्रिया में विकसित अधिगम के समस्त सिद्धांत, इन संस्कार सिद्धांतों पर आधारित हैं। जिसके आधार पर मनुष्य जीवन-पर्यंत अधिगम करता है।

मनुष्य जो कुछ भी सीखता है, वह किसी न किसी प्रकार से चित्तवृत्तियों के रूप में ही संकलित होता है। स्मृति वृत्ति के माध्यम से ही अधिगम की प्रक्रिया पूरी होती है। योगसूत्र में वर्णित योग चित्तवृत्तियों का निरोध है, परंतु इस अवस्था की प्राप्ति के लिए जो अभ्यास किया जाता है, वह चित्तवृत्तियों के साथ ही होता है। योग की साधना में वृत्तियां साधक और बाधक दोनों प्रकार की हो सकती हैं। साधक वृत्तियों का अभ्यास करके योग का अधिगमकर्ता योग के बाधक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करता है।

अज्ञानतावश जीव अहंकार के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के चित्तों का निर्माण करता रहता है। संकल्प और विकल्प के कारण चित्त में अनेक प्रकार की वृत्तियों का निर्माण होता रहता है। द्रष्टा और दृश्य के योग का आभास अविद्या के कारण होता है और अहंकार के वशीभूत होकर जीव, चित्त की वृत्तियों को ही अपना रूप समझने लगता है। द्रष्टा और दृश्य के रंग में रंगा हुआ चित्त, सभी प्रकार के अर्थों वाला आभासित होता है। इस भ्रम के कारण ही कुछ लोग चित्त को ही चेतन मानते हैं, परंतु यह सत्य नहीं वरन्, सत्याध्यास है।

दृश्य जगत की क्षणभंगुरता के सत्य का ज्ञान होने के पश्चात्, जीव को जगत से वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य से विवेक जागृत होता है। विवेकज ज्ञान से योग का अधिगम होता है। योग सीखने का अर्थ चित्त की वृत्तियों से मुक्त अपने सत्य-सनातन-स्वरूप का साक्षात्कार है।

मनुष्य **जागृत अवस्था** में जो कुछ भी सीखता है वह चित्त की वृत्तियों के रूप में संकलित होता है। इस अवस्था में चित्त बहिर्मुखी होता है तथा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प,

निद्रा और स्मृति नामक वृत्तियों को ही अपना स्वरूप समझता है। सत्त्व चित्त में त्रिगुणात्मक प्रकृति का तमोगुण, सतोगुण के यथार्थ स्वरूप को प्रकट होने से रोकता है और रजोगुण की प्रधानता के कारण चित्त बहिर्मुखी होकर, स्थूल शरीर और इंद्रियों के माध्यम से अनेक प्रकार की क्रियाएं करता है। जागृत अवस्था में पुरुष को पांचों वृत्तियों के अनुरूप ही अपने स्वरूप की प्रतीति होती है।

स्वप्न की अवस्था में सत्त्व गुण चित्त में तमोगुण, रजोगुण पर इतना प्रभावी होता है कि स्थूल शरीर और इंद्रियों का बाह्य विषयों से योग नहीं हो पता है, परंतु रजोगुण सूक्ष्म रूप से क्रियाशील होने के कारण चित्त को स्मृति रूपी वृत्ति के संस्कारों के साथ बनाए रखता है। स्वप्न की अवस्था में स्थूल शरीर की इंद्रियों के अंतर्मुखी होने से और सूक्ष्म शरीर में मन के सक्रिय होने से स्वप्न का निर्माण होता है। इस अवस्था में भी पुरुष को वृत्तियों के अनुरूप ही अपने स्वरूप का आभास होता है।

सुषुप्ति अर्थात् निद्रा की अवस्था में चित्त का सत्त्व गुण दबा रहता है और तमोगुण द्वारा रजोगुण की सूक्ष्म क्रियाएं भी अवरुद्ध हो जाती हैं। जिसके परिणामस्वरूप तमोगुण पूर्णरूपेण चित्त पर आच्छादित हो जाता है। इस अवस्था में सूक्ष्म शरीर में सभी प्रकार की क्रियाएं बंद हो जाती हैं और कारण शरीर में निद्रा की अवस्था बनी रहती है। इस अवस्था में भी पुरुष को वृत्ति के अनुरूप ही अपने स्वरूप की प्रतीति होती है।

चित्त की प्रलयावस्था सुषुप्ति की अवस्था के जैसी ही होती है, परंतु इन दोनों अवस्थाओं में अंतर मात्र इतना है कि निद्रा की अवस्था व्यष्टिचित्त की अवस्था है और प्रलयावस्था समष्टिचित्त की अवस्था है। इस अवस्था में अविद्या से युक्त सारे जीव सुषुप्ति में रहते हैं।

सामान्यतया मनुष्य को इन तीन अवस्थाओं का ज्ञान होता है। सामान्य अधिगम की प्रक्रिया चित्त की इन्हीं अवस्थाओं में संपन्न होती है।

चित्त में **योग के अधिगम की अवस्था** का प्रारंभ तब होता है, जब चित्त में सतोगुण की प्रधानता हो। तमोगुण के गौड़ होने और रजोगुण द्वारा चित्त को चंचल बनाने का सामर्थ्य कमजोर हो जाने के कारण, सत्य के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कराने का सामर्थ्य इस अवस्था में होता है। इस अवस्था में चित्त की सर्वार्थता की शक्ति दब जाती है और एकाग्रवृत्ति का उदय होता है। पुरुष को इस अवस्था में भी वृत्ति के अनुरूप ही, अपने स्वरूप की प्रतीति होती है।

चित्त के **एकाग्रता की अवस्था** में सतोगुण, रजोगुण को दबाकर अपने स्वरूप के अनुसार, चित्त को प्रकाशित करता है। जिसके परिणामस्वरूप स्थूल शरीर के कार्य बंद होकर, सूक्ष्म शरीर में एकाग्रवृत्ति का उदय होता है। इस अवस्था में पुरुष को एकाग्रवृत्ति के अनुरूप ही अपने स्वरूप की प्रतीति होती है।

विवेकख्याति की अवस्था में चित्त से रजोगुण और तमोगुण के संस्कार का आवरण पूरी तरह से हट जाता है और चित्त सतोगुण के प्रकाश से प्रकाशित रहता है। इस अवस्था में पुरुष चित्त से अलग दिखाई देता है। निद्रा की अवस्था में जहां तमोगुण की प्रधानता रहती है, वहीं इस अवस्था में सतोगुण की प्रधानता रहती है। सुषुप्ति की अवस्था में कारण शरीर के अभाव की प्रतीति होती है और विवेकख्याति से पुरुष, प्रकृति से अलग दिखाई देता है।

असम्प्रज्ञात अवस्था में सत्त्व चित्त में प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से निर्मित प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति वृत्ति रूपी परिणाम प्राप्त होने बंद हो जाते हैं। इस अवस्था में त्रिगुणात्मक प्रकृति के तीनों गुणों का नितांत अभाव हो जाने के कारण पुरुष को, चित्त से अलग अनुभव कराने वाली वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। परिणामस्वरूप द्रष्टा, चित्तवृत्तियों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। चित्त की इस अवस्था में केवल निरोध परिणाम ही शेष रह जाते हैं।

चित्त की **प्रतिप्रसव अवस्था** में निरोध परिणाम के संस्कारों से भी चित्त, निवृत्त हो जाता है। चित्त का निर्माण करने वाले सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण हैं। जो पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करके अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेने के पश्चात, अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। यही व्यवस्था वास्तव में कैवल्य की अवस्था है, जहां द्रष्टा और दृश्य के अविद्याजनित संयोग का वियोग हो जाता है। पुरुषार्थ से शून्य गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना और द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही कैवल्य है।

योग के अधिगम का यही परिणाम है। वास्तव में योग सीखने का अर्थ स्थूलता से सूक्ष्मता की यात्रा है। योग के अधिगम से चित्त बहिर्मुखी न होकर, अंतर्मुखी हो जाता है। चित्त में जब किसी भी प्रकार की वृत्ति शेष नहीं रह जाती है, तब द्रष्टा को अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है। सत्य—सनातन—स्वरूप का साक्षात्कार ही योग के अधिगम की प्रक्रिया और परिणाम है।

इस जगत में मनुष्य अपने कर्म संस्कारों से प्रेरित होकर जीवनभर कर्म करता रहता है। नया सीखने की प्रवृत्ति और कर्मों के संग्रह की प्रक्रिया जीवन में सतत् चलती रहती है। कर्मों के संग्रह को ही कर्माशय कहते हैं। शरीर के जन्म, आयु और भोग का निर्धारण करने वाला हेतु, पुण्य-पाप कर्मों की वासना है। इस वासना के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में हर्ष और शोक रूपी फल की प्राप्ति होती हैं। फल की आसक्ति में किया जाने वाला कर्म वासनायुक्त होता है। इन कर्मों को उत्पन्न करने वाले क्लेश हैं। अविद्या से जन्म लेने वाले अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेश ही वासनायुक्त कर्मों के मूल हैं। योग के अधिगम अर्थ है— युक्त होना। जीव जब अविद्या से युक्त होकर कर्म करता है, तब अनित्य, अशुचि, दुख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख एवं आत्म-बुद्धि के साथ अधिगम करता है।

मनुष्य अपने जीवन में इसी बुद्धिवृत्ति के साथ युक्त होकर सीखता है, जिसके परिणामस्वरूप दुख की प्राप्ति होती है। इस दुख का कारण अहंकार है। जिसके वशीभूत होकर जीव को अपने शुद्ध, चैतन्य, ज्ञान स्वरूप की दृश्य जगत से असंगतता और निर्मलता का बोध नहीं होता है। सात्विक अहंकार से शरीर और इंद्रियों के अधिष्ठाता देवता और मन की उत्पत्ति होती है।

योगवासिष्ठ के अनुसार मन से ही जगत की रचना होती है। मन स्वयं ही पुरुष बन जाता है। मन में सब कुछ करने का सामर्थ्य है, क्योंकि मन में सब प्रकार की शक्तियां हैं। मन जिस किसी भी विषय वस्तु को प्राप्त करना चाहे, उसे प्राप्त कर लेता है। मन में जिस प्रकार की भावना उत्पन्न होती है, क्षणभर में वह वैसा ही हो जाता है। चित्त में जिस प्रकार की कल्पना का उदय होता है, वही बाहरी जगत में स्थिर और फलयुक्त होकर प्रकट होती है। इस व्यक्त जगत में मन से अधिक शक्तिशाली अन्य कोई वस्तु नहीं है।

संकल्प करना मन का स्वभाव है। जहां संकल्प है, वहां मन है। मन जिस प्रकार की कल्पना करता है, अपनी संकल्प शक्ति के द्वारा वैसा ही जगत निर्मित कर लेता है। मन के अहंभाव को ही इस दृश्य जगत का बीज समझना चाहिए। जगत रूपी वृक्ष की उत्पत्ति मन के इस अहंभाव से ही होती है। इस जगत का उत्पादक चित्त है। चित्त में जिस-जिस प्रकार के संकल्प का उदय होता है, उसी के अनुरूप सद्-असद् जगत की उत्पत्ति होती रहती है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था मन के ही रूपांतर हैं। मन में अपार शक्ति है। वह कल्प को क्षण और क्षण को कल्प बना देता है।

महर्षि वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि आत्मतत्त्व ही चिंतन करते हुए मानो स्थूल सा हो जाता है और अपने आपसे अलग सा प्रतीत होने लगता है। आत्मतत्त्व स्वयं ही चिंतन के माध्यम से जीवत्व भाव को प्राप्त कर लेता है। समुद्र में जिस प्रकार तरंगे उठती हैं, उसी प्रकार मन संसार में जीव का रूप धारण कर लेता है। इसी तरह मनोवृत्ति के अनुसार सांसारिक चकाचौंध का मायाजाल विस्तार लेता रहता है। इन सब का मूल कारण अविद्या है। वास्तव में यह जगत स्वप्न के समान है, जिसमें सत्य का अणु मात्र भी नहीं है। संसार का जन्म अज्ञान से होता है। आत्मबोध से यह ज्ञान होता है कि चैतन्य से भिन्न, अन्य किसी वस्तु की सत्ता है ही नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जब मनुष्य सारे संकल्पों का त्याग कर, इंद्रियों के विषयों या किसी कर्म में आसक्त नहीं होता है, तब उसे योगारूढ़ कहा जाता है। योगी, कर्मफल की इच्छा का त्याग कर अपने कर्तव्य कर्म को करता रहता है। इसे ही यज्ञार्थ कर्म कहते हैं। सन्यास का अर्थ कर्तव्य कर्म का त्याग नहीं, वरन कर्म फल की इच्छा का त्याग ही सन्यास है। सन्यासी और योगी वह नहीं है, जिसने यज्ञ की अग्नि जलाना बंद करके धार्मिक क्रियाओं का त्याग कर दिया है। सन्यासी और योगी वह है, जिसने कर्म फल की इच्छा का त्याग करके राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करना सीख लिया है। कोई भी व्यक्ति संकल्प को त्यागे बिना योगी नहीं हो सकता है। योग अनासक्त कर्म का अनुशासन है। अनुशासित कर्म सीखना तथा उसे करते रहना योग है।

वास्तव में आत्मा ही आत्मा का स्वामी तथा आत्मा ही आत्मा का लक्ष्य है। मनुष्य को संकल्पों का त्याग करके अपने आप को ऊपर उठाना चाहिए। संकल्पों के साथ अपने को नीचे नहीं गिराना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही अपनी मित्र है और आत्मा ही अपनी शत्रु है। जिसने अपनी संकल्पों से युक्त आत्मा को जीत लिया, उसकी आत्मा मित्र होती है, परंतु जिसने अपनी संकल्पों से मुक्त आत्मा को नहीं पा लिया, उसकी आत्मा शत्रु के समान होकर शत्रुतापूर्ण व्यवहार करती है।

संकल्प से युक्त आत्मा मन बन जाती है और मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। उस मनुष्य की आत्मा सदैव समाधि में स्थित रहती है, जिसने अपने मन को जीत लिया अर्थात् संकल्प से युक्त आत्मा को जीत लिया। वह आत्म प्रभुत्व की शांति को अनुभव करता हुआ शीत, उष्ण, सुख, दुख, मान और अपमान में शांत रहता है।

आत्मा अर्थात् द्रष्टा और दर्शन-शक्ति में भिन्नता के बाद भी, एकत्व के समान आभासित होना, अहंकार कहलाता है। द्रष्टा में ज्ञानशक्ति के साथ ही साथ भोगने की शक्ति है और दर्शनस्वरूपा बुद्धि में ज्ञेयशक्ति एवं भोगे जाने की शक्ति है। आत्मा चित्तवृत्ति के साथ ही जगत के विषय-वस्तुओं का भोग करता है। द्रष्टा चैतन्य, शुद्ध एवं ज्ञान स्वरूप है, और बुद्धि, जड़ तथा विकारी है। अहंकार के कारण आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप असंगता को न समझ कर बुद्धिवृत्ति से मिल जाता है। इसी के कारण जीवों को दुख का अनुभव होता है। जीव को सुख के अनुभव के पीछे राग और दुख के अनुभव के पीछे द्वेष की अनुभूति होती है। जन्म लेने वाले शरीर के साथ मृत्यु का संस्कार अनादिकाल से चला आ रहा है। स्वभाव वश प्रत्येक शरीरधारी में मृत्यु का भय विद्यमान रहता है। इस भय को ही अभिनिवेश कहते हैं। योग सीखने वाले साधक को ध्यान के अधिगम से इन क्लेश रूपी वृत्तियों को नष्ट करना चाहिए।

सभी प्रकार के कर्म वासनाओं की जड़ यह क्लेश ही हैं, जो वर्तमान और भविष्य के जीवन में जीव को भोगने पड़ते हैं। अविद्या से ग्रसित मन के द्वारा पुण्य, पाप और पाप-पुण्य मिश्रित कर्म होते हैं। इन्हीं कर्मों का संग्रह कर्माशय कहलाता है। जिसके फल के रूप में जीव को जन्म, आयु और सुख-दुख के भोग की प्राप्ति होती है। विवेकवान व्यक्ति की दृष्टि में संसार के समस्त कर्मफल और भोग दुख से ही भरे हैं, क्योंकि किसी भी प्रकार के भोग में परिणामदुख, तापदुख, संस्कारदुख और गुण-वृत्ति-विरोधदुख, किसी न किसी रूप में बने ही रहते हैं। अज्ञानता के कारण जीव अहंकार के वशीभूत होकर देहात्मवृत्ति के कारण, दृश्य जगत के दुखों को भोगता है।

अविद्याजनित जड़-चेतन के संयोग को विवेक से त्याग देना ही मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन से होता है। जिसमें पुरुष के शाश्वत और नित्य-स्वरूप का पूर्ण बोध होता है। विवेक द्वारा मनुष्य को वासनायुक्त कर्मों का संग्रह अर्थात् कर्माशय से आने वाले जन्मों के दुख को नष्ट करना चाहिए।

वास्तव में व्यक्ति के जीवन में दुख का कारण, द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही है। इस संयोग का अनुभव अविद्या के कारण होता है। योग विद्या के अधिगम से प्राप्त अविचल विवेकख्याति, प्रकृति और पुरुष के इस संयोग के वियोग का कारण बनता है। यही जागतिक दुःख से मुक्ति है। विवेक ज्ञान ही जीव को संसार-सागर से तारने वाला है। संसार की सभी विषयों को सब प्रकार से बिना क्रम के जानने वाला विवेक ज्ञान ही है।

विद्या के समान पवित्र और कोई दूसरा साधन नहीं है, जिससे बुद्धिवृत्ति और पुरुष की समान भाव से शुद्धि होती है। इन दोनों की शुद्धि ही पुरुष का कैवल्य है। अविप्लव विवेकख्याति से स्वरूपज्ञान पूर्वक वैराग्य की धारा चित्त में निरंतर प्रवाहित होती रहती है। वैराग्य संपन्न चित्त, दृश्य जगत के राग-द्वेष से पूर्णतः विरक्त होकर सतत् आत्माभिमुख रहता है।

जिस चित्त में रजोगुण और तमोगुण के संस्कार पूरी तरह से धुल गए हो और सत्व गुण चित्त में निश्चल विवेक ज्ञान की धारा प्रवाहित रहती हो, उसमें राग-द्वेष के संस्कार उत्पन्न नहीं होते हैं। ऐसे योगी की प्रज्ञा सात प्रकार की अंतिम स्थिति वाली हो जाती है।

जिसे इस क्षणभंगुर दृश्य जगत के सत्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। उसे यह सारा दृश्य जगत अनित्य, अनात्म और दुख से युक्त ही दिखाई देता है। यहां जो जानना था उसे जान लिया, बुद्धि की इस दशा को **परिज्ञातप्रज्ञा** कहते हैं।

यह जगत दुखपूर्ण है और उसका कारण अविद्या है। संसार में माया-मोह के कारण ही जीव दुख भोगता है। अहंकार का त्याग कर देने से त्यागने योग्य कुछ शेष बचता ही नहीं है। बुद्धि की इस अवस्था को **हेयशून्यप्रज्ञा** कहते हैं।

योग का अधिगमकर्ता समाधि के अभ्यास से जब चित्त के सारे बंधनों को काटकर कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है, तब उसे इस जगत में प्राप्त करने योग्य कुछ शेष नहीं रह जाता है। बुद्धि की इस अवस्था को **प्राप्यप्राप्तिप्रज्ञा** कहते हैं।

यह संसार कर्मभूमि है। यहां जन्म लेने वाले जीव को कर्म करना ही पड़ता है। विवेकज्ञान से संसार के समस्त दुखों का नाश किया जा सकता है। जिस साधक ने विवेक ज्ञान को सिद्ध कर लिया, उसे अब इस जगत में कुछ करने योग्य शेष नहीं रहा। बुद्धि की इस दशा को **कार्यशुद्धिप्रज्ञा** कहते हैं।

उपर्युक्त बुद्धि की इन चारों अवस्थाओं को **कार्यविमुक्ति** अवस्था कहते हैं। इसके पश्चात् **चित्तविमुक्ति** की अवस्था आती है—

प्रकृति और पुरुष का संयोग पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिए हुआ है। चित्त का काम भोग और मोक्ष प्रदान करना था। वह काम पूरा कर लेने के पश्चात् चित्त, कृतकृत्य हो जाता है। परिणामस्वरूप चित्त की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इस अवस्था को **चित्ताधिकारप्रज्ञा** कहते हैं।

यह दृश्य जगत त्रिगुणात्मक प्रकृति का विस्तार है। द्रष्टा जब तीनों गुणों के प्रति उदासीन हो जाता है, तब तीनों गुण प्रकृति में लीन हो जाते हैं। अब उनका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। विवेकवान पुरुष गुणातीत भाव में स्थित रहते हैं। बुद्धि की इस अवस्था को **गुणातीतप्रज्ञा** कहते हैं।

दृश्य जगत के गुणों से, द्रष्टा के गुणातीत होने पर निर्विकार, निर्गुण, निराकार, असंग, मुक्तरूप से स्थित, ज्ञानस्वरूप, चेतन सत्ता ही शेष रह जाती है। इस प्रज्ञा को **स्वरूपमात्रज्योतिःप्रज्ञा** कहते हैं।

किसी भी प्रकार का अधिगम उद्देश्यपूर्ण होता है। मनुष्य ऐसी बातें सीखना चाहता है, जो उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो। मनुष्य के जीवन का महती पुरुषार्थ आत्मा का ज्ञान है। आत्मबोध से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अधिगम का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना है। योगवासिष्ठ में भी ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—

विवेक ज्ञान से दृश्य जगत की नश्वरता का बोध होने के पश्चात् जगत से वैराग्य उत्पन्न होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं अज्ञानी क्यों रहूँ? सदशास्त्रों के सेवन और साधु पुरुषों की सहायता से क्यों न मैं भी सत्य को जानूँ? मन में इस तरह की इच्छा के उत्पन्न होने को **शुभेच्छा** कहते हैं।

सदशास्त्रों के स्वाध्याय और संतो के संग से होने वाले सत्संग के परिणामस्वरूप, विवेक से उत्पन्न वैराग्य और अभ्यास की प्रवृत्ति को **विचारणा** कहते हैं।

शुभेच्छा और विचारणा का अभ्यास करने से इंद्रियों का उनके संबंधित विषयों के प्रति राग-द्वेष का भाव क्षीण होने लगता है। इससे मन की स्थूलता कम होने लगती है। ज्ञान की इस अवस्था को **तनुमानसा** कहते हैं।

ज्ञान की इन तीनों भूमिकाओं का अभ्यास करने से मन विषयों से विरक्त हो जाता है और मन की चंचलता समाप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में चित्त आत्मा में स्थिर होने लगता है। ज्ञान की इस अवस्था को **सत्वापत्ति** कहते हैं।

उपर्युक्त ज्ञान के इन चारों भूमिकाओं का अभ्यास करने से संसार के विषयों में असंसक्ति उत्पन्न हो जाती है। मन चेतन की सत्ता के प्रकाश में स्थिर हो जाता है। इस अवस्था को **असंसक्ति** कहते हैं।

ज्ञान के इन पूर्वोक्त पांचों भूमिकाओं का अभ्यास करने से, आत्मा में दृढ़ स्थिति उत्पन्न हो जाती है और चित्त में पदार्थों का अभाव हो जाता है। ज्ञान की इस अवस्था को **पदार्थाभावनी** अवस्था कहते हैं।

ज्ञान के पूर्वोक्त भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर आत्मभाव में जो अविचलित स्थिति उत्पन्न होती है, उसे **तुर्यगा** कहते हैं। इस अवस्था को ही जीवनमुक्ति की अवस्था कहते हैं।

योगसूत्र और योगवासिष्ठ में वर्णित विवेक ज्ञान से प्राप्त प्रज्ञा की सात उच्चतम स्थिति वाला साधक कुशल कहा जाता है। ऐसा कुशल साधक ही बुद्धि से युक्त होकर पुण्य—पाप कर्म में समत्व भाव के साथ कर्म करने की कुशलता को प्राप्त करता है।

योग सीखने वाले साधक की प्रज्ञा श्रुत और अनुमान बुद्धि से भिन्न होती है। ऋतंभरा प्रज्ञा से योग का अधिगम होता है, क्योंकि इस प्रज्ञा से संस्कार का निर्माण नहीं होता है। इसमें सत्य को धारण करने का सामर्थ्य होता है। चित्त से जब संस्कार की वृत्तियों का निरोध होता है, तब निर्विचार की अवस्था प्राप्त होती है। निर्विचार अवस्था में कुशल होने के पश्चात् अध्यात्म प्रसाद से ऋतंभरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इस प्रज्ञा द्वारा प्रकृति से पुरुष के वियोग का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को ही योग कहते हैं। योग को सीखने के लिए व्यक्ति को अष्टांगयोग का अभ्यास करना चाहिए। योग के अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों से युक्त चित्त से निवृत्ति होती है और अपने आत्मस्वरूप का बोध होता है। इस बोध को ही बुद्धत्व कहते हैं।

योग का अधिगम मनुष्य को कुशल बनाता है। कुशल व्यक्ति वह है, जो विभिन्न उद्दीपनों के अनुकूल अनुक्रियाएँ करता है। अधिगम का संबंध उद्दीपनों और अनुक्रियाओं के साथ ही साथ व्यक्ति के संस्कारों से भी है। अपने संस्कारों के अनुरूप सुख—दुख, राग—द्वेष और भय के संदर्भ में प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है। योगसूत्र में इसे क्लेश की संज्ञा दी गई है। मनुष्य की चेतना के तीन आयाम होते हैं— ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक। इन्हीं के आधार पर संस्कारों का भी निर्माण होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का निरूपण, मानव चेतना के आधार पर किया गया है। अपने जीवन में सुख को चाहना और दुख से दूर रहने के लिए प्रयास करना मनुष्य का स्वभाव है। सुख का मूल शांति में है, परंतु मनुष्य के जीवन में अशांति का कारण सुख की चाह है। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णन मिलता है कि जिसमें समत्व भाव नहीं है, उसमें विवेक नहीं

है। विवेक के बिना भक्ति नहीं होती और भक्ति के बिना शांति की अनुभूति नहीं होती है। जहां शांति नहीं है, वहां सुख कहां से हो सकता है?

इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के जीवन में दुःख के कारण, सुख खोजने की प्रवृत्ति बनी रहती है। सुख की प्राप्ति, समत्व योग के बिना संभव नहीं है। योग का अधिगम विवेक के बिना नहीं हो सकता है। भक्ति विवेक से होती है और भक्ति से शांति मिलती है। जीवन में शांति ही सुख का मूल है।

मनुष्य के जीवन में दुख का मूल कारण अविद्या है। समस्त कलेशों का जन्म अविद्या से होता है। जड़—चेतन का संयोग और इससे प्राप्त होने वाला दुख अज्ञानता के कारण ही होता है। अष्टांगयोग के अभ्यास से समाधि की सिद्धि होती है। मनुष्य के जीवन में समाधि की भावना को पुष्ट करने तथा कलेशों को क्षीण करने के लिए योगसूत्र में वर्णित यौगिक तकनीक के रूप में क्रियायोग का अधिगम कराया गया है।

तप, स्वाध्याय और प्रणिधान को **क्रियायोग** कहते हैं। क्रियायोग का अभ्यास करने से व्यक्ति में समाधि की भावना दृढ़ होती है तथा अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश के रूप में वर्णित पंच क्लेश क्षीण होते हैं। कलेशों से कर्म की वासनाएं उत्पन्न होती हैं। कर्म वासनाओं से जीव का जन्म होता है। जाति, आयु और भोग की प्राप्ति कर्म के फल हैं। जिसमें सुख—दुख रूपी स्वाद की अनुभूति होती है।

सुख—दुख की अनुभूति में चित्त में समत्व भाव बनाए रखना तप है। व्यक्ति के आहार—विहार और व्यवहार में संतुलन तथा मन में संयम बनाए रखने को तप कहते हैं।

अपने आत्मस्वरूप की स्मृति के साथ ही साथ अपने स्वभाव का निरीक्षण करते रहना स्वाध्याय है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को पुष्ट करने वाले सदग्रंथों का चिंतन—मनन करना भी **स्वाध्याय** कहलाता है।

ईश्वरप्रणिधान से आशय ईश्वर की शरणागति से है। योगदर्शन में ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से मुक्त, विशेष—पुरुष है। मुक्त पुरुष की भावना करने से स्वयं के मुक्ति की भावना पुष्ट होती है। ईश्वर का साहचर्य योग के अधिगम में परम सहयोगी है। इस प्रकार योग का अधिगमकर्ता क्रियायोग का अभ्यास करके अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।

सांख्य दर्शन और योग दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो तत्वों की अनादि और अनंत सत्ता को स्वीकार किया गया है। चौबीस तत्वों वाली प्रकृति जड़ है तथा इनसे पृथक् पुरुष

चेतन है। इन पच्चीस तत्वों के योग से जगत का सृजन हुआ है। महर्षि पतंजलि ने प्रकृति और पुरुष के योग के साथ ही साथ एक विशेष पुरुष कहकर, ईश्वर की अवधारणा को स्थापित किया है। इस प्रकार योगदर्शन को छब्बीस तत्वों की मान्यता वाला दर्शन कहना सीमित अर्थों में ही ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि ईश्वर कोई नया तत्व नहीं वरन्, एक विशेष पुरुष ही है, जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सर्वथा मुक्त है। इस विशेष पुरुष की शरणागति से योग के अधिगम में सफलता मिलती है।

पुरुष के, भोग और अपवर्ग के लिए ही प्रकृति और पुरुष का संयोग हुआ है। इस संयोग का कारण अविद्या है। अज्ञानता के कारण मनुष्य पुण्य, पाप और पुण्य-पाप मिश्रित कर्म करता है। इन कर्मों के संस्कार चित्त में संग्रहित होते रहते हैं। जिन्हें वासना कहते हैं। वासना ही व्यक्ति के जन्म और मृत्यु का कारण बनता है। ईश्वर इन समस्त संस्कारों से मुक्त विशेष पुरुष है, जिसमें सब कुछ जानने का अद्वितीय ज्ञान है। ईश्वर कालातीत है, इसलिए सबका गुरु है। वह सब पुरुषों में श्रेष्ठ है, इसलिए पुरुष-विशेष है।

ईश्वर का नाम प्रणव है। प्रणव का अर्थ ॐ (ओं) होता है। ओंम पूर्ण, अक्षर एवं नाद ब्रह्म है। ब्रह्म अनाहत नाद है। इस ब्रह्म से ही सृष्टि हुई है। इसलिए ब्रह्म सत्य एवं सर्वज्ञ है। एक ओंकार ही सतनाम है। यही युग का आदि और युगादि सच है। इस सतनाम का जप करने से मनुष्य को अपने चेतन स्वरूप का अधिगम होता है, तथा योग के मार्ग में आने वाले विघ्नों का निवारण भी होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि यज्ञों में मैं, जप यज्ञ हूं। मनुष्य को यज्ञकर्म करना चाहिए।

योग सीखने वाले साधक को योग के मार्ग में आने वाले चौदह प्रकार के विघ्नों और विक्षेपों को दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए। इससे चित्त एकाग्र होता है और चित्त के एकाग्रता की अवस्था में योग के मार्ग में आने वाले विघ्न और विक्षेप शांत हो जाते हैं।

मनुष्य एक जिज्ञासु प्राणी है। ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा व्यक्ति का स्वाभाविक गुण है। समस्त संवेगों का मूल इच्छा ही है। संवेगों के कारण व्यक्ति कर्म करने की ओर अग्रसर होता है। पुण्य कर्म से सुख और पाप कर्म से दुख का अनुभव होता है। इन भावनाओं को नियंत्रित करने के लिए योगसूत्र में यौगिक तकनीक के रूप में **भावना-चतुष्टय** का वर्णन किया गया है। जिसमें सुख, दुख, पुण्य और पाप के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त शुद्ध होता है।

अज्ञानता और अहंकार के कारण अपने से अधिक सुखी एवं संपन्न व्यक्ति को देखकर, मनुष्य में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होती है। तुलनात्मक और सापेक्ष बुद्धि के कारण मनुष्य को अपने से सुखी और संपन्न व्यक्ति को देखकर ही, अपने दुखी और विपन्न होने का भान होता है। सुख की प्राप्ति, सुखी व्यक्ति से द्वेष करके नहीं हो सकती है। इसलिए सुखी और संपन्न व्यक्ति के प्रति **मित्रता का भाव** रखकर ईर्ष्या और द्वेष भाव से सहजता से मुक्ति पाई जा सकती है।

राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति के कारण दीन और दुखियों को देखकर मनुष्य में घृणा का भाव उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में संपन्न और सुखी होना चाहता है, अपनी चाह के विपरीत दृश्य का दर्शन मन में घृणा और अपने लिए श्रेष्ठ होने का अहंकार भाव उत्पन्न करता है। दुखी और दीन व्यक्तियों के प्रति **करुणा और दया** भाव के अभ्यास से घृणा और अहंकार भाव से सहजता से मुक्ति पाई जा सकती है।

मनुष्य श्रेष्ठ और पुण्यात्मा होना चाहता है, परंतु अपने से श्रेष्ठ, ज्ञानी, विवेकवान, पुण्यात्मा को देखकर उसके प्रति मन में असूया भाव उत्पन्न होता है। असूया भाव से दोष दर्शन एवं निंदा की प्रवृत्ति विकसित होती है। किसी के गुणगान से मन में उसके दोष देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न होना, असूया भाव का परिणाम है। चित्त का यह मल पुण्यात्माओं एवं ज्ञानियों की प्रशंसा से मुदित होने पर दूर हो जाता है। **मुदिता भाव** के अभ्यास से यह असूया भाव स्वतः ही नष्ट हो जाता है।

पाप करने वाले, अनीति और अमर्यादित कर्म करने वाले व्यक्ति के प्रति, मन में क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कोई भी व्यक्ति अपने प्रति, दूसरे व्यक्ति से पाप युक्त और अमर्यादित व्यवहार की अपेक्षा नहीं करता है। अपेक्षा के विपरीत कर्म, क्रोध का कारण बनता है। क्रोध के इस प्रबंधन के लिए **उपेक्षा भाव** का अभ्यास करना चाहिए। उपेक्षा भाव का अर्थ उन क्रियाओं के प्रति उदासीन हो जाना है, जिन क्रियाओं से मन की शांति भंग हो। शांति के बिना सुख संभव नहीं है। योग के अधिगमकर्ता को सुख और शांति की प्राप्ति के लिए **भावना-चतुष्टय** का अभ्यास करना चाहिए।

इस प्रकार सुख, दुख, पुण्य और अपुण्य विषयों के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाओं का अभ्यास करने वाले व्यक्ति का चित्त निर्मल होता है। निर्मल मन से योग सीखने पर योग का शीर्ष लक्ष्य, **समाधि** सहज उपलब्ध हो जाती है।

प्राण वायु को बाहर अथवा भीतर रोककर बहिर्कुम्भक अथवा अन्तरकुम्भक की क्रिया का अभ्यास करने से भी चित्त एकाग्र होता है।

किसी पवित्र विषय में मन को एकाग्र करने से चित्त स्थिर हो जाता है। इसे मन की **विषयवती प्रवृत्ति** कहते हैं। ज्योति, नाद, बिंदु या किसी महापुरुष के चित्र का आलंबन लेकर पवित्र भाव के साथ उस विषय में ध्यान करने से, चित्त की वैकल्पिक वृत्तियों का निरोध होता है। मन की यह विषयवती प्रवृत्ति मन की चंचलता को दूर कर स्थिरता को बढ़ाती है। योग सीखने वाले व्यक्ति को मन के विषयवती प्रवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए।

दृश्य जगत के प्रति वैराग्यपूर्वक किसी शुद्ध विषय का आलंबन लेकर ध्यान करने से चित्त में स्वच्छता का प्रकाश विकसित होता है। ऐसी स्थिति में मन का शोक विसर्जित हो जाता है। यहां प्रकाश का अर्थ मन की निर्मलता है। मन की **विषयवती और ज्योतिषमति** प्रवृत्ति में धारणा करने से मन के मल से निर्मित समस्त सांसारिक शोक मिट जाते हैं। यही मन के समस्त सांसारिक दुखों को दूर करने वाली **विशोका अवस्था** है।

अपने यथार्थ स्वरूप की अज्ञानता के कारण अहंकारवश जीव को राग, द्वेष और भय का अनुभव होता है। जब चित्त के सारे क्लेश मिट जाते हैं, तब वीतराग की अवस्था प्राप्त होती है। वीतरागी चित्त एकाग्र हो जाता है। वीतरागी महात्माओं का संग और उनसे प्राप्त सत्संग से विवेक जागृत होता है। विवेक से ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की सिद्धि होती है। निर्मल चित्त में समत्व—योग, योग से विवेक, विवेक से भक्ति और भक्ति से चित्त में शांति होती है। शांति में ही सुख की अनुभूति होती है। इसलिए योग के अधिगमकर्ता को वीतराग का अभ्यास करना चाहिए।

मनुष्य को सामान्यतः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था का ज्ञान होता है। जागृत अवस्था में अनुभव में आने वाले दृश्य जगत को हम लोग सत्य मानते हैं, परंतु जागृत अवस्था की अनुभूति स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था में नहीं होती है। मनुष्य को विचार करना चाहिए कि जागृत अवस्था का सत्य, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में कहां चला जाता है?

सत्य वह है, जिसका कभी अभाव नहीं होता है और जिसका किसी अवस्था में अभाव होता है, वह सत्य नहीं है। जागृत अवस्था में चित्त स्थिर नहीं होता है। उसमें चंचलता बनी रहती है। स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था के ज्ञान का आलंबन करने से भी चित्त स्थिर होता है।

दृश्य जगत से वैराग्य उत्पन्न करने के लिए **स्वप्न और निद्रा** की अवस्था पर भी चिंतन और मनन आवश्यक है। वास्तव में निद्रा दृश्य की अनुपस्थिति है। योग सीखने वाले साधक को नींद को याद करके चित्त को शांत करना चाहिए।

योग के अधिगम के लिए यौगिक तकनीक के रूप में वर्णित एक तत्व का अभ्यास, भावनाचतुष्टय, प्राणवायु को बाहर और भीतर स्थिर करके, मन की विषयवती या ज्योतिषमति प्रवृत्ति, वीतराग, स्वप्न और निद्रा का अभ्यास योग का अधिगमकर्ता अपनी रुचि के अनुसार कर सकता है। इसका अभ्यास करने से चित्त की वैकल्पिक वृत्तियों का निरोध होता है और योग के अधिगम से अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है।

मनुष्य के सीखने की प्रक्रिया में चिंतन और बुद्धि का प्रमुख स्थान है। हम जिस विषय-वस्तु का निरन्तर चिंतन करते हैं, बुद्धि उसी के अनुरूप निश्चयात्मक होकर कार्य करती है। किसी एक विषय पर लगातार चिंतन करने से चित्त उससे बंध जाता है। किसी एक विषय-बिंदु पर चित्त के एकाग्र होने हो जाने को धारणा कहते हैं। धृति का संबंध धारणा शक्ति से और बुद्धि का संबंध ज्ञान शक्ति से है। बुद्धि को ज्ञान प्रदान करने में धारणा का महत्वपूर्ण योग है। आचार्य शंकर के अनुसार “ज्ञान बुद्धि की वृत्ति है और ज्ञान रूप वृत्ति, बुद्धि का धर्म है।” इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार का ज्ञान बुद्धिवृत्ति से ही हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार बुद्धि तीन प्रकार की होती है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। सात्विक बुद्धि कर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को, बंधन और मोक्ष को भली-भांति जानती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि जिस बुद्धि से यह सब कुछ ठीक प्रकार से जाना जाता है उसे **सात्विकी बुद्धि** कहते हैं।

धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक प्रकार से नहीं जानने वाली बुद्धि को **राजसिक बुद्धि** कहते हैं।

अधर्म को धर्म समझने वाली और समस्त पदार्थों को विपरीत रूप से जानने वाली बुद्धि को **तामसिक बुद्धि** कहते हैं।

मनुष्य अपने जीवन में इन्हीं तीन प्रकार की बुद्धियों से अधिगम करता है। क्रियायोग के अभ्यास से अशुद्धियों का क्षय होता है। इसलिए मनुष्य को क्रिया करने में प्रवृत्त रहना चाहिए, क्योंकि क्रिया ही कार्य है और कार्य न करना अकार्य है। उस समय कार्य बंधन का कारण बन जाता है, जब हम राग-द्वेष से युक्त होकर कर्म करते हैं। हमारी क्रियाओं से

बुद्धि को बंधन और मोक्ष की अनुभूति होती है। क्रिया न करना बंधन और क्रिया करना मोक्ष है।

कर्म करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है क्योंकि फल की प्राप्ति कर्म से होती है। फलासक्त होकर कर्मफल का ही चिंतन करने से व्यक्ति, कर्म से चूक जाता है। कर्म नहीं करने पर व्यक्ति को भय होता है। भयभीत मन में आत्मविश्वास का अभाव होता है। अहंकार की भावना से मनुष्य आत्म-मूढ़ता का शिकार हो जाता है। कर्म करने से आत्मविश्वास पैदा होता है। आत्मविश्वास के अभाव में जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता की प्राप्ति संभव नहीं है। मनुष्य अपने कर्म के परिणामस्वरूप ही जन्म-मृत्यु, सफलता-असफलता, जय-पराजय, सुख-दुख आदि भोगों को भोगता है। मनुष्य के सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जा रहे हैं। प्रकृति से युक्त होकर आत्म-विमूढ़ व्यक्ति सात्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धि से कर्म करता है और कर्मफल को भोगता है।

राजसिक और तामसिक बुद्धि से किया जाने वाला कर्म बंधनकारी होता है। जो लोग सात्विक बुद्धि से श्रद्धायुक्त और असूया से रहित होकर कर्म करते हैं, वे कर्म के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। विचारणीय है कि जब मनुष्य का जन्म ही पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है, तब इस जन्म में प्राप्त परिणाम कर्म से अलग कैसे हो सकता है?

मनुष्य अपने कर्मों के कारण ही सुख-दुख रूपी कर्मफल को प्राप्त करता है। मन और कर्म के योग से मनोरथ सफल होता है। मात्र कर्मेन्द्रियों के संयम से ही सफलता नहीं मिलती है। मन जब वैकल्पिक वृत्तियों से मुक्त होकर कर्मेन्द्रियों से युक्त होता है, तब जीवन में सफलता की सिद्धि होती है। मन से अन्य विषयों का स्मरण करने वाले मूढ़ प्रकृति के लोग पाखंड से युक्त व्यवहार करते हैं।

जिस लक्ष्य को हम पाना चाहते हैं, उसकी प्राप्ति उत्कृष्ट कर्म से होती है। मनुष्य जब मन द्वारा इंद्रियों को नियंत्रित करके अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है, तब उत्कृष्ट कर्म होता है। उत्कृष्ट कर्म से निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इसलिए सत्य को जानने वाली सात्विक बुद्धि के द्वारा विचार करते हुए मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्म का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद और मोह की उत्पत्ति होती है। मनुष्य अपने मन से रात-दिन इंद्रियों के विषयों का चिंतन करता रहता है। विषयों का निरंतर ध्यान करने से उसके मन में विषयों के प्रति

आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति के कारण ही मन में इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा क्रोध को उत्पन्न करती है। क्रोध से चित्त में मूढ़ता उत्पन्न होती है। मूढ़ चित्त में स्मृति का नाश हो जाता है और स्मृति के नाश होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है। जिस व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह व्यक्ति भी नष्ट हो जाता है।

योग के अधिगम का प्रथम सिद्धांत अनुशासन है। अनुशासित मन वाला व्यक्ति अपनी इंद्रियों को वश में करके राग-द्वेष से रहित होकर अपना कर्तव्य कर्म करता है। कामनाओं के कारण राग-द्वेषात्मक वृत्ति से युक्त होकर कर्म करने से सफलता संदिग्ध हो जाती है। कर्म की पवित्रता अर्थात् आसक्ति से रहित कर्म से ही कर्मफल की प्राप्ति होती है।

रजोगुणी बुद्धि, काम और क्रोध को उत्पन्न करने वाली होती है। इस संसार में मनुष्य का इससे बड़ा कोई शत्रु नहीं है। कभी न तृप्त होने वाली इच्छाएं, रजोगुण से ही जन्म लेती हैं। संसार का प्रत्येक विषय-वस्तु रजोगुण से आवृत रहता है, इसलिए इस जगत में मनुष्य की इच्छाओं का कभी अंत नहीं होता है। इच्छाएं मनुष्य की चिर शत्रु हैं, क्योंकि यह सत्य स्वरूप ज्ञान को आवृत्ति करने वाली हैं। काम और क्रोध, पापपूर्ण कर्म करने को प्रेरित करते हैं।

योगवासिष्ठ में भी वर्णित है कि मन से अधिक शक्तिशाली इस संसार में अन्य कोई वस्तु नहीं है। मन के संकल्प से ही संसार की समस्त क्रियाएं होती हैं। इसलिए मनुष्य को रजोगुण और तमोगुण रूपी शत्रुओं से मन को मुक्त करके सतोगुणी बुद्धि से युक्त होकर कर्म करते हुए, अपने जीवन के लक्ष्य को सिद्ध करना चाहिये। मनोवांछित परिणाम प्राप्त करने का यही कर्म सिद्धांत है, जिसको सीख कर मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है।

मनुष्य अपनी ज्ञानेंद्रियों और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से सीखता है। भारतीय मनोविज्ञान में ज्ञानेंद्रियों और कर्मेन्द्रियों को महत्वपूर्ण इसलिए माना गया है कि इसके माध्यम ही, आत्मज्ञान और इंद्रियों के विषयों का भी ज्ञान होता है। व्यक्ति यदि इंद्रियों के विषयों में ही डूबा रहता है तो आत्मज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सकता है। आत्मज्ञान की उपलब्धि भी इंद्रियों की सहायता के बिना संभव नहीं है।

कठोपनिषद् में आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम, इंद्रियों को घोड़े तथा इंद्रियों के विषयों को चारागाह की संज्ञा दी गई है। मनीषी लोग आत्मा, इंद्रिय और मन से युक्त होने को भोक्ता कहते हैं। वह व्यक्ति, जो विवेकहीन तथा

चंचल मन का है, उसकी इंद्रियां उसके नियंत्रण में वैसे ही नहीं रहती, जैसे दुष्ट घोड़े सारथी के नियंत्रण में नहीं होते हैं। विवेकयुक्त और निश्चल मन वाले व्यक्ति की इंद्रियां, उसके वश में वैसे ही रहती हैं, जैसे उत्तम सारथी के वश में घोड़े रहते हैं।

योगसूत्र और योगवासिष्ठ में वर्णित अष्टांगयोग की यौगिक तकनीक के अभ्यास से चित्त की अशुद्धि नष्ट होने पर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। योग के इन अंगों का अभ्यास करने से प्रकृति और पुरुष को शुद्धता से समझने वाली विवेकख्याति से उत्पन्न दृष्टि प्राप्त होती है।

किसी भी प्रकार के अधिगम की प्रक्रिया में चित्त का शुद्ध होना परम आवश्यक है, क्योंकि चित्त में विचलन होने की स्थिति में व्यक्ति जो सीखना चाहता है, उसे कुशलतापूर्वक नहीं सीख पाता है। ध्यानपूर्वक सीखने पर ही किसी भी विषय-वस्तु का ठीक प्रकार से ज्ञान हो सकता है। मनुष्य सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, चखकर और सूंघकर ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही साथ पढ़कर और समझकर भी ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करने की यह प्रक्रिया, दूसरों पर आधारित हो करके ही पूरी की जा सकती है। स्वयं से भिन्न दूसरों की स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान, चित्त में क्लेश उत्पन्न करता है। मनुष्य के जीवन में दुख की अनुभूति इसी प्रकार के पराश्रित ज्ञान से होती है।

शरीर और इंद्रियों के द्वारा सापेक्षता के आधार पर ज्ञान की अनुभूति होती है। सापेक्षिक ज्ञान से युक्त चित्त का स्वभाव चंचल होता है। चंचल चित्त से दिव्य चेतन सत्ता की अनुभूति नहीं होती है। अष्टांगयोग के अभ्यास से योग के अधिगमकर्ता का चित्त जब क्लेशों से मुक्त होता है, तब उसे शरीर, इंद्रिय और मन से प्राप्त चित्तवृत्तियों के ज्ञान से भिन्न, अपने दिव्य चेतन स्वरूप का अनुभव होता है। विवेकख्याति का अंतिम परिणाम स्वरूपस्थिति ही है। इससे बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है, क्योंकि यहां प्रकृति और पुरुष दोनों की परम शुद्धि हो जाती है, इससे आगे अब कुछ शुद्ध करना शेष नहीं रह जाता है। योग के आठ अंग इस प्रकार हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

मन को निर्मल बनाने के लिए योगांगों में यम और नियम सदाचार के स्वरूप हैं। इनका अभ्यास करने से मनुष्य सामाजिक एवं व्यक्तिगत अनुशासन सीखता है। अष्टांगयोग का प्रथम अंग **यम** है और यम का अर्थ होता है— नियंत्रित करना। शरीर, मन तथा इंद्रियों को अपने वश में रखना यम कहलाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह यम

हैं। इन पांचों का परिपालन करने से मनुष्य का व्यक्तित्व लोक कल्याणकारी प्राणी के रूप में विकसित होता है।

अहिंसा समस्त सद्गुणों का स्रोत है। यह एक निषेधात्मक सद्गुण है, जिसमें सारे सद्गुण स्वयं आ जाते हैं। मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी के प्रति दुख देने की भावना और क्रिया का नहीं होना ही अहिंसा है। अहिंसा की भावना दृढ़ होने से अन्य प्राणी भी वैर भाव का परित्याग कर, मैत्रेय भाव से परस्पर जीवन जीते हैं। निर्वैर भाव से निर्भयता का जन्म होता है। भय दूसरों से होता है और हिंसा का भाव भी दूसरों के प्रति ही उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं के प्रति अहिंसक होता है। अहिंसा का अभ्यास करने से स्वयं का ज्ञान होता है, परिणामस्वरूप जीवन में क्लेश उत्पन्न करने वाले वैर भाव और भय से व्यक्ति को मुक्ति मिल जाती है।

सत्य का ज्ञान, त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न अपने चेतन स्वरूप का बोध है। श्रुति-प्रमाण और अनुभव से प्राप्त ज्ञान को मन में धारण करना सत्य भाव है। न्यायपूर्वक व्यवहार करने को सत्य आचरण कहते हैं। जैसा देखा, सुना और जाना उसको वैसा ही कहना, सत्य बोलना है। इस प्रकार चतुर्विध सत्य को अपने जीवन में धारण करना ही, सत्य की पूर्ण साधना है। सत्य की साधना में सिद्ध साधक का व्यक्तित्व, क्रिया और फल का आश्रय बन जाता है। सत्यनिष्ठ योगी की वाणी अमोघ और अचूक हो जाती है। सत्यपरायण व्यक्ति निर्भय और सुखी रहता है। उसका प्रभाव अन्य मनुष्यों पर पड़ता है, क्योंकि वह जो होता है, वह कहता है और जो कहता है, वह हो जाता है।

अस्तेय से तात्पर्य चोरी नहीं करने से है। किसी भी प्रकार के धन को अनीतिपूर्वक ग्रहण करना चोरी कहलाता है। किसी के अधिकार की वस्तु को छल और कपट से अपना बनाने की चेष्टा करना भी चोरी है। इस प्रकार के कर्म को नहीं करना अस्तेय है। अस्तेय का अभ्यास करने वाला साधक, जब अचौर्य में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसके पास सभी प्रकार के रत्न उपस्थित हो जाते हैं। जिसे स्वयं और संसार के सत्य का साक्षात्कार हो जाता है, उसके भोगों की लालसा भी मिट जाती है, इसलिए अनीतिपूर्वक धन प्राप्त करने की चाह समाप्त हो जाती है। मन जब संतोष धन से तृप्त हो जाता है, तब मानो संसार के सभी रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है— ब्रह्म से युक्त आचरण। ब्रह्म सत्य है और सत्य से युक्त आचरण ब्रह्मचर्य कहलाता है। मनुष्य के जीवन में श्रेष्ठ आचरण, मन और इंद्रियों पर

पूर्ण संयम करने से होता है। मन, वचन और कर्म से मैथुन कर्म के त्याग को भी ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि निर्विकार मनःस्थिति का निरंतर बने रहना, ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य के व्यक्तित्व में बल की वृद्धि होती है।

अपरिग्रह का अर्थ है वस्तु और धन का संग्रह न करना। अपने जीवन के लिए आवश्यकता से अधिक वस्तुओं और धन को संग्रहित नहीं करने की प्रवृत्ति को अपरिग्रह कहते हैं। मानव के जीवन में देहात्म वृत्ति के साथ संग्रह करने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। काम, क्रोध और लोभ के कारण यह प्रवृत्ति बनी रहती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य का पालन करने से अपरिग्रह की सिद्धि होती है। योग के अधिगमकर्ता की जब अपरिग्रह में स्थिरता हो जाती है, तब उसे अपने जन्म के विषय में ज्ञान हो जाता है।

जाति, देश, काल और निमित्त से परे होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करने से ये सार्वभौम महाव्रत हो जाते हैं। योग का लक्ष्य, अपने स्वरूप को समझना तथा अपने स्वरूप में स्थित होना है। योग के अधिगमकर्ता को योग के प्रथम अंग यम का अभ्यास करना चाहिए। निस्सीम होकर यम का अभ्यास जब सार्वदेशिक और सार्वकालिक व्यवहार बन जाता है, तब वह महाव्रत का रूप ले लेता है। योग के लक्ष्य को प्राप्त करना, जिन साधकों के जीवन का उद्देश्य है तथा जीवन मुक्ति की स्थिति में जो जीना चाहते हैं, उन्हें इस महाव्रत का पालन करना चाहिए।

नियम के अंतर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आते हैं। बाहर और भीतर की शुद्धता को **शौच** कहते हैं। बाहर की शुद्धता का अर्थ शरीर की शुचिता और भीतर की शुद्धता का अर्थ मन की शुचिता है। चित्त की शुद्धता के लिए सुख-दुख और पुण्य-पाप से संबंधित विषयों के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भाव से युक्त आचरण आवश्यक है। शरीर और मन को मैला करने वाले विषयों-वस्तुओं का पूर्ण रूप से त्याग कर देना ही शौच है। शरीर की शुद्धता रखने पर अपने अंगों से निरंतर मल निकलने के कारण उन अंगों से ही घृणा होती है और दूसरों के संसर्ग से भी हटकर रहने की मन में इच्छा होती है। चित्त की शुद्धता से बुद्धिशुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इंद्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता विकसित होती है।

संतोष— सहजता से प्राप्त विषय-वस्तु के साथ जीवन निर्वाह करना तथा उससे अधिक पाने की लालसा का न होना ही संतोष कहलाता है। संतोष के अभ्यास से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

तप— सुख-दुख, जय-पराजय, हानि-लाभ, भूख-प्यास, शीत-उष्ण इत्यादि में सम रहना तप कहलाता है। तप का अभ्यास करने से शरीर और इंद्रियों की सिद्धि के साथ ही साथ अशुद्धियों का क्षय होता है।

स्वाध्याय— अपने स्वयं के गुण-दोषों पर विचार करना तथा सद्ग्रंथों का अध्ययन करते हुए आत्मचिंतन करना ही स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय की साधना से योग के साधक का इष्ट देवता से मिलन हो जाता है।

ईश्वरप्रणिधान से तात्पर्य ईश्वर की शरणागति से है। आत्मज्ञान के अधिगम में ईश्वर का साहचर्य परम सहयोगी है, क्योंकि ईश्वर वह विशेष पुरुष है, जो प्रकृति से सदा-सर्वथा मुक्त है। ऐसे मुक्त-पुरुष का चिंतन करने से योग के अधिगमकर्ता को अपने आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में सहायता मिलती है। ईश्वर के प्रणिधान से योग के सर्वोच्च अंग समाधि की सिद्धि होती है। योग सीखने वाला कोई भी साधक तन, मन और वचन के विकारों को नष्ट किए बिना, समाधि का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता है। **यम और नियम** पूर्ण रूप से आत्म शोधन की प्रक्रिया है। अतः योग के अधिगम में इसका अभ्यास आवश्यक है।

मनुष्य अपने शरीर, इंद्रियों, मन और बुद्धि के माध्यम से अधिगम करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में रजोगुण से उत्पन्न हुए काम और क्रोध को मनुष्य के शत्रु की संज्ञा दी गई है। ज्ञानी पुरुष का ज्ञान ढक लेने वाली तथा कभी न तृप्त होने वाली यह कामरूपी अग्नि, मनुष्य की सबसे बड़ी शत्रु है। इससे प्रेरित होकर मनुष्य हिंसा, असत्य, चोरी, कामभोग और संग्रह की प्रवृत्ति से युक्त होकर, इस जगत में कर्म करता है। इन कर्मों से मन में क्षोभ और विरोध की भावना का विकास होता है। हिंसादि दुर्गुणों को **वितर्क** कहते हैं। वितर्क से युक्त भाव दशा का जन्म लोभ, क्रोध और मोह के कारण होता है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य के जीवन में दुख और अज्ञान रूपी अनंत फलों की प्राप्ति होती है।

वितर्क से युक्त कार्य, व्यक्ति या तो स्वयं करता है, या दूसरों से करवाता है, या वितर्कपूर्ण कार्यों को अनुमोदन प्रदान करता है। इन वितर्कों द्वारा उत्पन्न विरोधी मनःप्रवृत्तियों को मिटाने के लिए साधक को प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। वितर्क का प्रतिपक्ष सतर्क होता है। वितर्कपूर्ण व्यवहार से मन में क्लेश उत्पन्न होता है और मन के

क्लेशों को दूर करने के लिए यम और नियम का पालन करना परम आवश्यक है। भोग मार्गी मन, हिंसादि वृत्तियों की तरफ दौड़ता है। मुक्ति का मार्ग योग है। साधक को विवेक ज्ञान से संसार के दुखद् परिणामों की स्मृति करते हुए, अपने चित्त को योग-मार्ग में लगाना चाहिए।

मन को मलिन करने वाला काम, इंद्रियों में व्याप्त होता है। इन्द्रियां सूक्ष्म हैं, मन इंद्रियों से अधिक सूक्ष्म है, बुद्धि मन से अधिक सूक्ष्म है और आत्मा बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म है। मन को अपने वश में करके ही अधिगम की प्रक्रिया को पूर्ण किया जा सकता है। योग सीखने वाले साधक को सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा को पहचान कर, आत्मा के द्वारा मन को वश में करके, चित्त के शत्रुओं का संहार करते हुए अधिगम करना चाहिए।

योग के तीसरे अंग **आसन** की सिद्धि तभी हो सकती है, जब चित्त स्थिर हो। स्थिर और सुखपूर्ण स्थिति को आसन कहते हैं। अपने अविनाशी स्वरूप में मन को स्थिर करके चेष्टाहीन हो जाने पर ही आसन सफल होता है। आसन सिद्ध हो जाने पर साधक को सुख-दुख, राग-द्वेष, शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि द्वंद्व पीड़ा नहीं पहुंचाते हैं। आसन का अभ्यास हो जाने पर व्यक्ति द्वंद्वों से पीड़ित नहीं होता है।

आसन सिद्ध हो जाने पर, श्वास-प्रश्वास की गति का रुक जाना **प्राणायाम** कहलाता है। प्राणायाम का अभ्यास करने से विवेकज्ञान के प्रकाश को ढकने वाला आवरण क्षीण हो जाता है, मनुष्य के विवेक ज्ञान का आवरण माया-मोह है। मनोनिग्रह का जब अभ्यास किया जाता है, तब यह आवरण क्षीण हो जाता है। प्राणायाम का अभ्यास करने से मन में **धारणा** की योग्यता विकसित होती है। व्यक्ति, जिस धारणा में मन को स्थिर करना चाहता है, उसमें स्थिर कर देता है।

योग के पांचवें अंग **प्रत्याहार** से तात्पर्य है कि इंद्रियों का उनसे संबंधित विषयों से संयोग नहीं होने पर, चित्त के स्वरूप सा हो जाना है। चित्त के निरुद्ध होने पर इंद्रियों के निरुद्ध हो जाने को ही प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार के अभ्यास से ही मन और इंद्रियों को अपने वश में किया जा सकता है। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर इंद्रियों पर परम विजय की प्राप्ति होती है। इंद्रियविजय का अर्थ, चित्त सहित इंद्रियों का अपने विषयों से विरत हो जाना है। इंद्रियविजय के पश्चात् ही चित्त को किसी स्थान पर केंद्रित किया जा सकता है। चित्त को किसी एक देश में बांध देना **धारणा** कहलाता है। जिसमें चित्त को लगाया गया है, उस बिंदु या स्थान में मनोवृत्ति का लगातार बने रहना **ध्यान** है। जब ध्यान ही केवल ध्येय

मात्र के रूप में प्रतीत होने लगता है और चित्त का स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है, तब **समाधि** कहलाता है।

समाधि किसी धारणा में डूब जाना है। जिस स्थान में धारणा किया जाय, उसी में ध्यान का लग जाना और अंततः समाधि को उपलब्ध हो जाना संयम कहलाता है। **संयम** का अर्थ है— धारणा, ध्यान और समाधि का एक हो जाना। जब साधक संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसकी प्रज्ञा आलोकित होती है, जिसके परिणामस्वरूप मन, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ, हर्ष और शोक से रहित हो जाता है।

मनुष्य के जीवन का सहज स्वाभाविक उद्देश्य आनंद और सुख की तलाश है। आलोकित प्रज्ञा से ही इसकी प्राप्ति संभव है। संयमित जीवन नहीं होने के कारण ही मनुष्य के जीवन में तनाव, कुंठा, निराशा, हताशा, आत्महत्या की प्रवृत्ति, चिंता से युक्त जीवन इत्यादि अनेक प्रकार की समस्यायें दिखाई पड़ती हैं। ऐसी मनःस्थिति में जीवन एक संघर्ष बन जाता है। संघर्ष ही जीवन है, ऐसा कह कर बुद्धिमान मनुष्य, अपना मानसिक प्रबंधन करता है। स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन के साथ मनुष्य अपने स्वाभाविक स्वरूप सच्चिदानंद से अनुप्राणित हो सकता है। आनंद हमारा मूल स्वभाव है। अज्ञानता और व्यवहार में विकारों के कारण मनुष्य को दुख, चिंता और अनेक प्रकार की पीड़ा से गुजरना पड़ता है। योग आत्म-साक्षात्कार की विद्या है। जिससे आत्म नियंत्रण की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

आलोकित प्रज्ञा से स्वयं का बोध होता है। स्व में स्थित होने को स्वास्थ्य कहते हैं। योग मनुष्य को स्वस्थ जीवन जीने के लिए प्रशिक्षित करता है। भारत में प्राचीन समय से राजयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग, मंत्रयोग इत्यादि योग की पद्धतियां प्रचलित रही हैं। इनमें से अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार किसी भी पद्धति का अधिगम करके, मनुष्य अपने जीवन को स्वस्थ, समृद्ध एवं सामर्थ्य-शाली बना सकता है। इस जगत में विवेकपूर्ण ढंग से आत्मनियन्त्रित मनुष्य, आत्मनिर्भर होकर जगत और जगत के जीवों के जीवन का पोषक एवं रक्षक बन सकता है।

अध्याय—8

निष्कर्ष एवं सुझाव

शिक्षा और अधिगम का उद्देश्य मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का सर्वांगीण विकास करना है। शिक्षा के प्रकाश में मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे मार्ग का अनुकरण एवं अनुसरण कर सकता है। ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र भी कहते हैं, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली समस्याओं और उसके समाधान को समझने तथा समझाने में समर्थ बनाता है, एवं ज्ञान के अनुरूप कार्य करने के लिए प्रवृत्त करता है। ज्ञान और कर्म के योग से जीवन की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। मनुष्य का पूर्ण विकास आत्मिक रूप से विकसित होने के पश्चात् ही होता है। आत्मिक रूप से विकसित प्राणी ही इस जगत का सबसे विवेकशील प्राणी हो सकता है। इस जगत में जन्म लेने वाले जीव के अंदर, अपने जीवन को बनाए रखने की प्रवृत्ति जीवन भर बनी रहती है, इसलिए यहां जन्म लेने वाला कोई भी जीव मरना नहीं चाहता है। अपने जीवन को मूल्यवान समझने और सतत् बनाए रखने की प्रवृत्ति, प्रत्येक जीव में जन्म से मृत्युपर्यंत बनी रहती है। अपने जीवन जैसा ही जगत के जीवन को भी महत्वपूर्ण समझने की दृष्टि आत्मज्ञान से आती है और आत्मा का ज्ञान अध्यात्म विद्या के अधिगम से होता है।

इस जगत में जन्म लेने वाले जीवों में मनुष्य एकमात्र ऐसा जीव है, जो आत्मिक रूप से विकसित हो सकता है। आत्मिक विकास के साथ ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है। सर्वांगीण विकास से तात्पर्य शारीरिक विकास, भावात्मक या प्राणिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास और नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास है। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा के आधार पर जब मनुष्य का विकास होता है, तब उसका सर्वांगीण विकास होता है।

व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना शिक्षा, शिक्षण एवं अधिगम का प्रमुख उद्देश्य है। इस जगत में जन्म लेने वाले जितने भी जीव हैं, वे जन्म के साथ प्राप्त होने वाले शरीर तथा शरीर की आवश्यकताओं के साथ जीवन व्यतीत करते हैं, परंतु मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जो मनुष्य का शरीर प्राप्त कर लेने मात्र से मनुष्य नहीं बनता, मनुष्य बनने के लिए उसे पुरुषार्थ— चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करनी पड़ती है। मोक्ष परम

पुरुषार्थ है, जिसकी सिद्धि के लिए आत्मबोध की आवश्यकता है। आत्मबोध के पश्चात एकात्मता की दृष्टि से इस जगत के प्राणी पदार्थों में एकात्म-दर्शन होता है।

जगत में अपने को और अपने में जगत को देखने की दृष्टि ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। आत्म दृष्टि के साथ विकसित मनुष्य पूरी वसुधा को अपना परिवार मानता है। आत्मानुभूति से प्राप्त ज्ञान ही सत्य होता है। सत्य का साक्षात्कार ही आत्म-साक्षात्कार कहलाता है। शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से सत्य की सूचना प्राप्त हो सकती है और सूचनाएं सत्य को जानने के लिए प्रेरित करती हैं। सत्य के अधिगम के लिए सत्य की सूचना अभिप्रेरणा की भूमिका निभाती है। अधिगम में अभिप्रेरणा से तात्पर्य आंतरिक उत्तेजना से है, जो किसी भी प्रतिक्रिया का कारण बनती है। यह एक अदृश्य शक्ति की भांति काम करती है, जो दिखाई तो नहीं देती, पर किसी भी क्रिया को करने के लिए प्रेरित अवश्य करती है। सत्य को जानने वाले योगी और योग के शास्त्रों का संग करके योग का अधिगमकर्ता सत्य को जानने के लिए प्रेरित अवश्य हो सकता है। आत्मानुभूति से जाना गया ज्ञान सत्य है।

शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान चित्तवृत्तियों का निर्माण करता है और चित्त की वृत्तियां योग के अधिगम की बाधाएं हैं, क्योंकि योग चित्तवृत्तियों का निरोध है। योगविद्या से मनुष्य आत्मिक रूप से विकसित होकर जगत, जीव और जीवन के लिए कल्याणकारी हो सकता है। शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के आधार पर विकसित मनुष्य इस जगत का सबसे विध्वंसक प्राणी भी हो सकता है। वर्तमान समय में विश्व मस्तिष्क के समक्ष जितने भी तरह की समस्याएं परिलक्षित हो रही हैं उसका एकमात्र कारण शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक रूप से विकसित मनुष्य ही है और इन सभी समस्याओं का समाधान आत्मिक रूप से विकसित, पूरी वसुधा को अपना परिवार जानने वाला और सभी भूतों के हित में रत रहने वाला मनुष्य ही है। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली विद्या योगविद्या है, इसके अधिगम से मनुष्य के जीवन और जगत के जीवन में एकात्म दृष्टि के साथ आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन से ही विश्व मस्तिष्क को सुख, शांति और भाई-चारे का पाठ पढ़ाया जा सकता है, इसलिए भारतीय शिक्षा पद्धति में आत्मानुसंधान, आत्मबोध और आत्मज्ञान से मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए शिक्षा, शिक्षण एवं अधिगम कराया गया है।

शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आत्मिक रूप से विकसित विवेकशील व्यक्ति का निर्माण करना है, जो मानवता के गुणों ओत-प्रोत हो। मानवीय गुणों

के अभाव में व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का विकास, मात्र एक दिखावा बनकर रह जाएगा। मानवीय गुणों का दर्शन जब मानव के व्यवहार में नहीं दिखता, तब मानवीय गुणों का प्रदर्शन जीवन का लक्ष्य बन जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण शरीर, प्राण, मन और आत्मा से मिलकर होता है। व्यक्तित्व निर्माण की इस प्रक्रिया में शरीर से आत्मा की ओर उन्मुख होने से विवेक-बुद्धि का विकास होता है। सामान्य बुद्धि से सामान्य विज्ञान का ज्ञान हो सकता है, परंतु आत्म विज्ञान का ज्ञान विवेक से युक्त स्थिर-बुद्धि से होता है। पंचमहाभूतों से निर्मित जीव-जगत बुद्धि का विषय हो सकता है, पर इस जीव-जगत में सर्वव्यापी चैतन्य आत्मा, विवेक का विषय है और यह विवेक मनुष्य में विकसित हो सकता है। इस जगत में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो आत्म अनुसंधान से आत्म-साक्षात्कार कर विवेकशील हो सकता है। इसलिए भारत में पूरी शिक्षा पद्धति मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए ही विकसित हुई। शिक्षा को परिभाषित करते हुए स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि “शिक्षा का अर्थ उस पूर्णता को अभिव्यक्त करना है, जो मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान हैं।”

इस जीव जगत में जितने भी जीव-जंतु, प्राणी-पदार्थ हैं, उन सबका ज्ञान प्राप्त कर पाने में एकमात्र सक्षम प्राणी मनुष्य है। मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जिसमें ज्ञान और शक्ति का अनंत स्रोत विद्यमान है। यदि ऐसा नहीं होता तो सृष्टि के विकास क्रम में जितना विकास मनुष्य ने किया है, शायद ही कोई अन्य प्राणी इतना विकसित हो पाया है। विज्ञान के विकास ने जहां एक ओर मनुष्य के जीवन को साधन और सुविधा से संपन्न बनाया है, वहीं दूसरी ओर जगत के अन्य जीव-जंतुओं के जीवन को वैज्ञानिक विकास ने अनेक तरह की चुनौतियों का सामना करने के लिए मजबूर कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप जैव-विविधता का संकट खड़ा हो गया है। बहुत सारे जीव-जंतु और वनस्पतियां विलुप्त होते जा रहे हैं। जलवायु संकट, पर्यावरण प्रदूषण, ग्लोबल-वार्मिंग आदि अवांछित परिणामों का सामना जीव जगत को करना पड़ रहा है, इन सभी प्रकार की चुनौतियों का निर्माता बुद्धिमान मनुष्य है, और वह अपनी बुद्धि से ही इन समस्याओं का समाधान भी करना चाहता है। अनेक प्रकार के प्रयोग अनुसंधान किए जा रहे हैं परंतु प्राप्त जानकारीयों के आधार पर समाधान के साथ ही साथ नई समस्याओं का भी जन्म हो रहा है। विकास के साथ-साथ विनाश की इस प्रक्रिया को देखते हुए विश्व मस्तिष्क के समक्ष सतत विकास परिकल्पना विकसित हुई है।

मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो गया है कि जगत के जीवन को सुरक्षित किए बिना अपने जीवन की भी रक्षा नहीं की जा सकती। इस ज्ञान का आधार बौद्धिक होने के नाते यह ज्ञान, महज सूचना का आदान-प्रदान बनकर रह गया है। शिक्षा, शिक्षण, अधिगम की जो प्रक्रिया वर्तमान समय में अपनाई गई है उसके द्वारा विकसित मनुष्य, सूचनाओं का संकलनकर्ता बनकर रह गया है, ऐसे में समस्याओं के समाधान के लिए उपाय बहुत सारे होते हैं, पर समस्याएं ज्यों की त्यों बनी रहती हैं बल्कि बढ़ती ही जा रही हैं, क्योंकि ज्ञान व्यवहार का विषय नहीं बन पाया। बाहर से प्राप्त ज्ञान बौद्धिक समृद्धि तो प्रदान कर सकता है, पर विवेकशील मनुष्य का निर्माण करने में सक्षम नहीं है। वास्तव में ज्ञान स्वयं में विद्यमान है। व्यक्ति मात्र उसका आविष्कारक हो सकता है। स्वयं में विद्यमान ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए स्वयं का साक्षात्कार परम आवश्यक है।

भारत में शिक्षा, शिक्षण और अधिगम की प्रक्रिया स्वयं के साक्षात्कार से ही प्रेरित रही है। इस अधिगम प्रक्रिया की शुरुआत “मैं कौन हूँ?” से होती है। जब व्यक्ति अपने स्वयं की खोज में निकलता है तब सत्शास्त्रों और सत्पुरुषों के संग से अभिप्रेरणा मिलती है। स्वयं के अधिगम के लिए आवश्यक है कि चित्तवृत्तियों से मुक्त होकर स्वयं की तरफ उन्मुख हुआ जाए। किसी भी तरह के संस्कार से युक्त चित्त से स्वयं का ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान संभव नहीं है। चित्त के संस्कारों के कारण ही जन्म-मृत्यु का चक्र चलता रहता है।

मनुष्य का जन्म अन्य प्राणियों की भांति मृत्यु को प्राप्त करने के लिए नहीं, वरन् आत्म-कल्याण और मोक्ष के लिए हुआ है। इस मृत्युलोक में अमरता से तात्पर्य शरीर की अमरता से नहीं है। जन्म लेने वाले शरीर की मृत्यु तो जन्म के साथ ही सुनिश्चित हो गई है, पर शरीर में रहते हुए उस परम तत्व आत्मा को जान लेना ही अमरता की प्राप्ति है। आत्मा का ज्ञान शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से नहीं होता है, जब हम इन इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान से मुक्त होते हैं तब आत्म-साक्षात्कार होता है, जिसके परिणामस्वरूप विवेकशील मनुष्य का जन्म होता है। यह मनुष्य अतीत के संस्कारों से मुक्त होकर स्वयं में स्थित हो आनंदपूर्ण जीवन जीता है। जीवन में हर कोई आनंद चाहता है, पर आनंद संस्कारों से मुक्त चित्त से अभिव्यक्त होता है, ऐसा मनुष्य ही विश्वशांति और विश्वबंधुत्व की संकल्पना को साकार कर सकता है।

योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में शिक्षण और अधिगम की जिस प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, उस प्रक्रिया के द्वारा आनंदपूर्ण जीवन जीने वाले मनुष्य का निर्माण किया जा सकता है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन का उद्देश्य अधिगम की अवधारणा एवं यौगिक तकनीक से ऐसे विवेकशील मनुष्य का निर्माण करना है, जो वर्तमान समय में मानव जीवन और जगत के जीवन में व्याप्त समस्याओं का समाधानकर्ता हो सके। व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त किसी भी समस्या का समाधान योग के इन ग्रंथों में वर्णित अधिगमशैली एवं यौगिक तकनीक के माध्यम से किया जा सकता है।

अधिगम से तात्पर्य सीखने से है और सीखना जीवनपर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। सीखने के लिए एक निश्चित लक्ष्य का होना आवश्यक है, क्योंकि आवश्यकता के अनुसार ही व्यक्ति अधिगम करता है। मनुष्य जन्म लेने के पश्चात् जीवन भर कुछ न कुछ सीखते हुए बड़ा होता है। इससे स्पष्ट होता है कि अधिगम की प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है। अधिगम और अधिगम प्रक्रिया को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या है?, जिसको प्राप्त करने के लिए वह जीवन भर कुछ न कुछ सीखता रहता है। अन्य जीवों की भांति मनुष्य के जीवन में शरीर और शरीर से जुड़ी आवश्यकताओं को पूरा करना ही एकमात्र उसका लक्ष्य नहीं होता। मन की संतुष्टि और मन की इच्छाओं को पूरा करने के लिए व्यक्ति जीवन भर प्रयास करता है। प्रकृति के अन्य प्राणी जहां शरीर और शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करके सुखी और शांत हो जाते हैं, वही मनुष्य इन सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी प्रायः दुखी और अशांत दिखाई देता है, इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के दुख और अशांति का कारण उसकी आवश्यकताएं नहीं, वरन् मन में उत्पन्न होने वाली अनंत इच्छाओं की पूर्ति की अपेक्षाएं हैं।

मनुष्य जीवन भर अपनी इच्छाओं को पूरा करने में लगा रहता है पर इच्छाएं कभी पूरी होती नहीं हैं, इसका बौद्धिक रूप से ज्ञान तो हर मनुष्य को होता है, पर इस ज्ञान से किसी शांति नहीं मिलती है। बल्कि यह ज्ञान दूसरों को सिखाने के काम आता है क्योंकि यह ज्ञान भी दूसरों से ही प्राप्त है। दूसरों को सिखाने में सभी कुशल हैं पर स्वयं के काम वह ज्ञान नहीं आता जो दूसरों से प्राप्त हो। मन का निर्माण भी दूसरों को देखकर, सुनकर, समझकर, पढ़कर होता है, और इसी प्रक्रिया से मनुष्य अधिगम करता है। मन की इस प्रवृत्ति के कारण ही मन में अनंत इच्छाओं का जन्म होता है। इच्छायें उसी विषय-वस्तु की

होती हैं, जो प्राप्त नहीं है और जो प्राप्त है, उसकी इच्छा नहीं होती है। वास्तव में मन की अशांति का कारण इच्छायें ही हैं, जिनको पूरा करने में जीवन पूरा हो जाता है, पर इच्छायें अधूरी ही रहती हैं। इस अधिगम प्रक्रिया में जब मन को शांति नहीं मिलती है, तब शांति की इच्छा का भी जन्म हो जाता है। कामनाओं के नहीं पूरा होने से दुख और दुख से छुटकारा पाने के लिए किए जाने वाले कर्म की अंतहीन श्रृंखला से जन्म लेने वाली अशांति यही सामान्यतः हर मनुष्य के जीवन की कहानी है। वास्तव में देखें तो सुख और शांति की चाह ने मनुष्य को दुखी और अशांत बना रखा है, इसी को दूर करने के लिए अधिगम की प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है।

वर्तमान समय में मनुष्य के जीवन और जीवन में आने वाली समस्याओं को देखने पर ऐसा लगता है कि समाधान के साथ ही साथ नित-नूतन समस्याओं का भी जन्म होता जा रहा है। मानव अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने के प्रयास में जगत के जीवन में समस्या उत्पन्न करने वाला जीव बन गया है। सुख, शांति, समृद्धि और सुरक्षा की चाह ने दुखी, अशांत, दरिद्र और असुरक्षित मानव मस्तिष्क को निर्मित किया है। यह मस्तिष्क स्वयं के जीवन और जगत के जीवन की समस्याओं पर विचार करके समाधान प्राप्त करने के साथ ही साथ नई समस्याओं का भी निर्माता है। सूचना क्रांति के इस युग में बुद्धिजीवी वर्ग लगातार विकास की यात्रा में शामिल होकर नए प्रयोगों और प्राप्त परिणामों के आधार पर सतत् विकास को लक्ष्य बनाकर कार्य कर रहा है, परंतु सतत् विकास की संकल्पना को साकार करने के लिए बुद्धिमान मनुष्य ही काफी नहीं, बल्कि इस लक्ष्य की आपूर्ति के लिए विवेकशील मनुष्य की आवश्यकता है। विवेकशील मनुष्य का निर्माण योग के अधिगम से होता है। योग विद्या से मनुष्य का आत्मिक विकास होता है। आत्मिक विकास के आधार पर ही मनुष्य जगत का सबसे विवेकशील प्राणी बनता है। विवेक, इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर नहीं, बल्कि बोध से उत्पन्न होता है। बुद्धि का विकास सूचनाओं के संकलन से भी हो सकता है। अधिक से अधिक सूचनाओं को संकलित करने वाला व्यक्ति संसार में बुद्धिमान व्यक्ति कहलाता है।

वर्तमान समय में शिक्षा, शिक्षण और अधिगम, सूचनाओं के आदान-प्रदान का साधन बनकर रह गया है, जिसमें एक-दूसरे को सिखाने की योग्यता और एक-दूसरे में परिवर्तन की आकांक्षा सब में दिखाई देती है।

शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान की सूचनाओं का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि अभ्यास और अनुभूति से प्राप्त ज्ञान के माध्यम से व्यवहार में परिवर्तन है। ज्ञान से व्यवहार के परिमार्जन को अधिगम कहते हैं। व्यवहारिक ज्ञान से परिवर्तन होता है। सूचनाओं के ज्ञान से बुद्धिमान मनुष्य तो निर्मित हो सकता है, पर जब तक मनुष्य में विवेक जागृत नहीं होगा, तब तक ज्ञान व्यवहार का विषय नहीं बन पायेगा। अनुभूति और अभ्यास से होने वाले व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहा जाता है। मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है। सूचना के इस युग में मनुष्य का व्यवहार विवेकयुक्त होना चाहिए, पर सूचनाओं से बुद्धि का विकास होता है विवेक का नहीं। बुद्धिमान मनुष्य अच्छी बातें करना सीख जाता है पर उन बातों से अच्छा बनना नहीं सीख पाता है। अच्छा बनने के लिए अधिगम की उस प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, जिसमें स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करनी होती है।

शरीर से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से विवेक का विकास होता है। विवेक से अद्वैत दृष्टि प्राप्त होती है, जो मनुष्य को एक ऐसे सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित करती है कि उसे पूरी वसुधा अपना परिवार दिखाई देने लगता है। जगत में अपने परिवार का दर्शन करने वाला प्राणी लोक कल्याणकारी हो सकता है। सतत् विकास के लक्ष्य को लोक कल्याण की भावना से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस जगत और जगत के प्राणियों को अपने उपभोग और उपयोग की वस्तु के रूप में देखने वाला बुद्धिमान मनुष्य जहां समस्याओं के समाधान की तलाश करेगा, वहीं नई चुनौतियों और समस्याओं को भी जन्म देगा। आत्मविद्या के अधिगम से विकसित विवेकशील मनुष्य जगत में अपने जीवन को और अपने जीवन में जगत के जीवन को देखने की दृष्टि के साथ ही लोक कल्याण की भावना से कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह करेगा।

योगविद्या के अधिगम से विवेक-बुद्धि की प्राप्ति होती है। विवेक-बुद्धि के लिए चित्तवृत्तियों का निरोध आवश्यक है। व्यक्ति को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान वृत्तियों के साथ नहीं हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ही विवेक-बुद्धि प्राप्त होती है, जिससे यथार्थ सत्य का ज्ञान होता है। दृश्य और द्रष्टा का यथार्थ ज्ञान ही कैवल्य है, जिसकी प्राप्ति योगविद्या के अधिगम से होती है। योग का उद्देश्य सत्य ज्ञान का अनुसंधान कर उसे साक्षात् करना है। वास्तव में सत्य ज्ञान अपने होने का ज्ञान है। अपने होने से तात्पर्य शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के साथ होना ही नहीं, वरन् जिस चैतन्य की वजह से इन

सबका होना है, उस परम चैतन्य का साक्षात्कार होने के पश्चात् वास्तव में अपने होने का पता चलता है।

बौद्धिक विकास अहंकार से युक्त और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान से होता है, इसलिए हम सबको इस ज्ञान के साथ मैं जानता हूं या मैं नहीं जानता हूं इसका अधिगम होता है, परंतु चैतन्य का साक्षात्कार होने के पश्चात् जो विवेकजनित ज्ञान प्रकट होता है वह इस संसार समुद्र से तारने वाला और सबको सब प्रकार से जानने वाला होता है। इस ज्ञान में मैं जानता हूं या मैं नहीं जानता हूं इस प्रकार का अधिगम मिट जाता है, क्योंकि विवेक से उत्पन्न ज्ञान द्वारा प्रकृति और पुरुष की अशुद्धि दूर होकर समान भाव से इनकी शुद्धि हो जाती है। इन दोनों के शुद्ध स्वरूप के ज्ञान को ही दृश्य और द्रष्टा का यथार्थ ज्ञान कहते हैं और इस यथार्थ ज्ञान को कैवल्य की संज्ञा दी गई।

कैवल्य की अनुभूति के बाद इस जगत् में द्रष्टा और दृश्य के रूप में द्वैत तिरोहित हो जाता है और अपने होने का अर्थात् अद्वैत का बोध हो जाता है। अद्वैत से तात्पर्य ऐसी दृष्टि के विकास से है, जिसमें दूसरा दिखाई नहीं देता है। यत्र—तत्र—सर्वत्र आत्मदर्शन होता है। योगविद्या की साधना से साधक को जब आत्म—साक्षात्कार हो जाता है, तब पर वैराग्य की प्राप्ति होती है, जिसके परिणामस्वरूप त्रिगुणात्मक दृश्य जगत् के किसी भी विषय में राग—द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है। अहंकारजनित बुद्धि राग—द्वेष युक्त होती है और इस बुद्धि से सकाम कर्म किया जाता है। जीव के बंधन का कारण सकाम कर्म ही है। जन्म और मृत्यु का चक्र इस कर्म के परिणामस्वरूप अनवरत चलता रहता है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने के पश्चात् साधक निष्काम हो जाता है।

समत्वयोग का अधिगम निष्काम भावजगत् में होता है, जिसमें साधक पुण्य—पाप और पुण्य—पाप मिश्रित कर्म से मुक्त होकर निष्काम कर्म करता है। निष्काम कर्म करने की कला को कर्म की कुशलता कहते हैं। योग की साधना से साधक कर्म करने में कुशल हो जाता है। राग—द्वेष से मुक्त होकर निष्काम कर्म करने की योग्यता सामान्य बुद्धि से नहीं आती है। बुद्धि जब ऋतंभरा हो जाती, तब कर्म की कुशलता प्राप्त होती है। सत्य का साक्षात्कार सत्य को धारण करने वाली ऋतंभरा बुद्धि से होती है।

सत्य के ज्ञान से राग—द्वेष से मुक्त विवेकशील मनुष्य का निर्माण होता है, जिसको पूरे जगत् में एकात्मता का बोध होता है। इस एकात्मबोध को ही अद्वैत दर्शन कहते हैं। मनुष्य के जीवन और संसार में व्याप्त जितनी भी समस्याएं हैं, उनका एकमात्र समाधान

अद्वैत दर्शन है, क्योंकि जब दूसरा देखने की दृष्टि तिरोहित हो जाती है, तब यहां वहां हर जगह स्वयं का ही दर्शन होने लगता है। जगत में अपने को देखना और अपने में जगत को देखना ही अद्वैत दर्शन है। ऐसी दृष्टि के साथ विकसित मनुष्य लोककल्याणकारी हो सकता है। पंचमहाभूतों से निर्मित यह शरीर और संसार एक ही है। यह ज्ञान शाब्दिक और बौद्धिक न रहकर आत्मानुभूति से प्राप्त सत्यज्ञान बन जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अपने शरीर की भांति ही जगत के प्राणी पदार्थों की सुरक्षा का बोध मनुष्य में विकसित होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और इन पंचमहाभूतों से निर्मित यह जगत तथा जगत के जीव, जब मनुष्य को अपनी शरीर की भांति ही दिखाई देने लगे तब वह इनके लिए वह क्या नहीं करेगा? जो अपने शरीर के लिए करता है। इस प्रश्न और इसके उत्तर के साथ खड़ा मनुष्य वर्तमान समय में परिलक्षित होने वाली— प्रदूषण की समस्या, जलवायु परिवर्तन और असंतुलन की समस्या, पर्यावरण की समस्या, जैव-विविधता की समस्या, ग्लोबल-वार्मिंग की समस्या, वन संरक्षण की समस्या, इस पृथ्वी पर रहने वाले जीव और उनके जीवन से जुड़ी किसी भी प्रकार की समस्या का समाधानकर्ता बन जाएगा। ऐसा विकसित मनुष्य इस जगत को अपने उपभोग की वस्तु न समझकर अपने जीवन की आवश्यकता समझने लगता है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि इस जगत और जगत के प्राणी— पदार्थों के कारण हमारा होना है। हम सांस लेते हैं तो उसका कारण पेड़-पौधे हैं। हम भोजन करते हैं तो उसका कारण धरती और धरती पर रहने वाले अन्य जीव-जंतु हैं, जो हमारे खाद्य सामग्री को उत्पन्न करने में सहायता करते हैं, हमारी प्यास को बुझाकर हमारे जीवन की रक्षा करने वाली नदियां हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति के साधन किताब और अन्य व्यक्ति भी हो सकते हैं, पर क्या इस ज्ञान से इन समस्याओं का समाधान हो सकता है? अन्य से प्राप्त ज्ञान अधिगम के लिए प्रेरक तो हो सकता है, पर अधिगम स्वयं की अनुभूति से प्राप्त ज्ञान से होता है।

अनुभूति से प्राप्त ज्ञान व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाता है और व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया को अधिगम कहते हैं। यथार्थ ज्ञान के अधिगम से संपन्न व्यवहारिक मनुष्य ही जगत की समस्त समस्याओं का समाधानकर्ता और शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से प्राप्त चित्तवृत्तियुक्त ज्ञान से संपन्न मनुष्य समाधान के साथ ही साथ समस्याओं का निर्माता भी साबित होगा। विज्ञान प्रगति के इस युग में विकास के साथ-साथ विनाशलीला का जो दर्शन होता है उसका कारण चित्तवृत्तात्मक ज्ञान ही है।

उपभोगवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ विकसित मनुष्य अपने को केंद्र में रखकर जगत और जगत के प्राणियों को अपने उपभोग की वस्तु के रूप में देखता है और विकास के साथ-साथ विनाश का भी कारण बनता है। उपयोगितावादी दृष्टिकोण के साथ विकसित मनुष्य जगत और जगत के प्राणियों को अपने जीवन के लिए उपयोगी समझता है और अपने जीवन की भांति ही जगत में भी जीवन को देखता है। इच्छाओं के साथ जीने वाले लोग जीवन भर इच्छाओं को पूरा करने के लिए मरते और मारते रहते हैं, क्योंकि एक व्यक्ति की इच्छा को पूरा करने का सामर्थ्य इस जगत में भी नहीं है। इच्छाएं अनंत होती हैं, जो कभी पूरी नहीं होती कामनाओं का अंत नहीं होता, पर कामनाएं जीवन का अंत जरूर कर देती हैं। इसलिए योगी विवेकजनित ज्ञान से निष्काम कर्म करता है। निष्काम कर्म करने की कला में कुशल मनुष्य ही अपने जीवन और जगत के जीवन का रक्षक हो सकता है। ऐसे मनुष्य की दृष्टि में यह पूरी वसुधा और वसुधा में रहने वाले जीव, जंतु, वनस्पतियां, प्राणी, पदार्थ सब एक परिवार हैं, सब के प्रति आत्म-भावना से भावित होकर सभी भूतों के हित में रत रहने वाला मनुष्य योगी है। योगविद्या के अधिगम से ऐसे मनुष्य का निर्माण संभव है।

इस जगत में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो अपने दुख को दूर करने के साथ ही साथ जगत में स्थित अन्य प्राणी पदार्थों के जीवन में व्याप्त दुखों को अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण जान सकता है तथा उन्हें दूर करने का प्रयास भी कर सकता है। अज्ञात को जानने की प्रवृत्ति मनुष्य को जिज्ञासु बनाती है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य इस जगत का सबसे बुद्धिमान प्राणी कहलाता है।

सृष्टि के विकास क्रम में अपनी असीम बौद्धिक क्षमता के कारण जितना विकास मनुष्य का हुआ है, उतना किसी अन्य प्राणी का नहीं हुआ है परंतु इसके साथ ही साथ यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि इस जगत में जीवित अन्य प्राणियों के जीवन में जो असंतुलन पैदा हुआ है, उसका भी कारण मनुष्य का जिज्ञासु और विकासवादी प्रवृत्ति का होना ही है। इस प्रवृत्ति ने अपने जीवन के दुखों को दूर कर सतत् सुख प्राप्त करने के आकांक्षी को इस जगत और जगत में जीने वाले प्राणियों के जीवन में आने वाली अनेक प्रकार की चुनौतियों का निर्माता बना दिया।

विकासवादी दृष्टिकोण में समाधान के साथ ही साथ नई समस्याओं का निर्माण और उनसे जूझने की प्रवृत्ति का दर्शन होता है। दुख के वास्तविक कारण को नहीं जान

पाना और विकास के नए संसाधनों की खोज कर, दुख से मुक्ति के लिए प्रयास करने के साथ ही साथ निरंतर सुखी बने रहने की आकांक्षा में अशांत रहना, निवर्तमान मनुष्य और उसके द्वारा अर्जित विकास का परिणाम है। सुख खोजने की प्रवृत्ति का सतत् बने रहना मनुष्य के दुखी होने को प्रमाणित करता है, क्योंकि हम खोजते उसे ही हैं, जिसे हमने खो दिया हो या कहीं भुला दिया हो। किसी वस्तु के खो जाने पर उसका मूल्य पास रहने वाले अन्य सभी वस्तुओं से अधिक हो जाता है।

वास्तव में मनुष्य आनंद—स्वरूप है, पर अविद्या के कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। मरु—मरीचिका की नदी की भांति इस संसार में सुख और शांति खोजने लगता है, जो व्यक्ति के अकक्षाओं प्यास को बढ़ाने के साथ ही साथ उसके मृत्यु का कारण बन जाता है। अज्ञानतावश इस अनित्य, अपवित्र, दुख और अनात्मरूप संसार में नित्य, पवित्र, सुख और आत्मरूप का दर्शन होता है। इसी दृश्य जगत को देखकर, सुनकर, पढ़कर, समझकर अधिगम करते हुए मनुष्य, बुद्धिमान कहलाने लगता है। इस प्रकार शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के आधार पर विकसित बुद्धिमान मनुष्य जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने के साथ ही साथ नित नई समस्याओं के मकड़जाल में उलझना सीख जाता है। इस उलझन का कारण अविद्या से जन्म लेने वाली अस्मिता है। जिसमें देखने वाला द्रष्टा और दिखाई देने वाला दृश्य जो यद्यपि एक—दूसरे से भिन्न स्वभाव के हैं, तथापि इन दोनों में एकरूपता स्थापित हो जाती है। इस एकता के कारण जड़ बुद्धि में चेतना का अध्यास होने लगता है।

वास्तव में चेतन—द्रष्टा और जड़—बुद्धि की एकता हो ही नहीं सकती है। अविद्या के कारण जड़—चेतन की एकरूपता का आभास होता है। दृश्य जगत इसी आभास के कारण चैतन्य सा प्रतीत होता है। सामान्यता प्रत्येक मनुष्य को अपनी तीन अवस्थाओं का ज्ञान होता है। जागृत—अवस्था में दृश्य जगत का दर्शन होता है, जिसमें शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संबंधित मैं—मेरा, तू—तेरा का ज्ञान होता है। स्वप्न की अवस्था में मनरूपी इंद्रिय द्वारा निर्मित दृश्य जगत का ज्ञान होता है और निद्रा की अवस्था में शरीर और शरीर से संबंधित किसी भी प्रकार का ज्ञान शेष नहीं रह जाता है, परंतु किसी भी प्रकार की ज्ञान के नहीं होने का ज्ञान, निद्रा से जागने के बाद होता है। इसलिए योगसूत्र में महर्षि पतंजलि ने निद्रा को भी एक वृत्ति की संज्ञा दी है और योग को परिभाषित करते हुए कहा कि योग

चित्तवृत्तियों का निरोध है। चेतना और चित्त का संयोग होने के पश्चात् शरीर और इंद्रियों से प्राप्त अहंकार युक्त ज्ञान से चित्तवृत्तियों का ही निर्माण होता है।

किसी भी प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के दो साधन होते हैं— बाह्य करण, जिसमें पांच ज्ञानेंद्रियां आती हैं और अंतःकरण—चतुष्टय जिसके अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आते हैं। ज्ञान प्राप्त करने के इन्हीं साधनों के द्वारा मनुष्य अधिगम करता है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच प्रकार की वृत्तियां होती हैं। जब तक अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता तब तक द्रष्टा इन वृत्तियों को ही अपना स्वरूप समझता है। अविद्या के कारण निर्मित यह अवास्तविक समझ व्यक्ति को दुख से जूझने और सुख को प्राप्त करने की चाह के साथ बुद्धिमान बनाता है। बुद्धिमान मनुष्य जीवन भर कामनाओं को पूरा करते-करते मृत्यु की अधीनता को स्वीकार कर, आध्यात्मिक दृष्टि से व्यर्थ में जीवन गवा देता है।

मनुष्य जीवन की सार्थकता परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि में है। मोक्ष की प्राप्ति शरीर और इंद्रियों से प्राप्त चित्तवृत्तात्मक ज्ञान से नहीं होता है। जीवन में बिताए गए क्षणों पर ध्यान देने और संयम करने से विवेकजनित ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान सबको सब प्रकार से जानने वाला है। इस संसार सागर में जन्म-मृत्यु के दो किनारों से तारने वाला ज्ञान विवेकज्ञान है। जिसकी प्राप्ति के पश्चात् बुद्धि और पुरुष समान भाव से शुद्ध हो जाते हैं। बुद्धि रूपी दृश्य प्रकृति, पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान कर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेने के पश्चात् अपने कारण में विलीन हो जाती है और द्रष्टा प्रकृति से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही मोक्ष है, जिसको प्राप्त करना मनुष्य जन्म का अभीष्ट है। मोक्ष की सिद्धि के बिना मनुष्य पशुओं की भांति शरीर और शरीर से संबंधित आवश्यकतों की पूर्ति के साथ संतुष्ट नहीं हो सकता। जगत में जन्म लेने वाले इस प्राणी के असंतोष का एक सबसे बड़ा कारण यही है। परम सुख की प्राप्ति संतोष से होती है।

मनुष्य के जीवन के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि मनुष्य की मृत्यु का कारण अंतहीन इच्छाएं हैं, जिनको पूरा करने की कोशिश में स्वयं को मारता चला जा रहा है। स्वयं की विस्मृति और संसार के स्मृति भी एक प्रकार की मृत्यु ही है, जिसके परिणामस्वरूप असंतोष और अशांति के साथ असंतुलित जीवन की प्राप्ति होती है। अविद्या से जन्म लेने वाले क्लेशों के कारण ही सुख और दुख का अनुभव होता है, जिसके पीछे

जीव भागता रहता है। सुख की प्रतीति के पीछे राग और दुख की प्रतीति के पीछे द्वेष नामक क्लेश उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य के जीवन में अधिगम की प्रक्रिया में राग और द्वेष महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि सीखना हमेशा उद्देश्यपूर्ण होता है और सुख को पाना और दुख से अपने आप को बचाना, जन्म लेने वाले प्रत्येक जीव के जीवन का उद्देश्य होता है। जिसकी पूर्ति के लिए जीवन भर अधिगम की प्रक्रिया चलती रहती है। इस संसार सागर में जन्म और मृत्यु रूपी दो किनारों के बीच से गुजरने वाले जीवों के जीवन में स्वाभाविक रूप में परंपरा में चले आ रहे मृत्यु के भयरूपी क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं। यह मूर्खों की भांति विवेकशीलों में भी दिखाई देता है।

इस जगत में जन्म लेने वाले किसी भी जीव के जीवन में मृत्यु के भय का बने रहना, जन्म के साथ ही मृत्यु के ज्ञान को पूर्व अनुभव के रूप में प्रमाणित करता है। मृत्यु का अनुभव उसे ही हो सकता है जिसने जन्म लिया हो। इस आधार पर इस जन्म के पूर्व का जन्म भी प्रमाणित होता है क्योंकि अगर पूर्व जन्म नहीं हुआ होता तो इस जन्म में मृत्यु से पूर्व मृत्यु के भय का ज्ञान किसी भी जीव को नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि इस संसार सागर में जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया निरंतर चल रही है और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी, जब तक योग विद्या के अधिगम से विवेकजनित ज्ञान द्वारा पुरुष का प्रकृति से वियोग नहीं हो जाता है। अविद्या के कारण प्रकृति और पुरुष का योग होता है और योगविद्या के अधिगम के उपरांत प्रकृति से पुरुष का वियोग हो जाता है। पुरुष का प्रकृति से वियोग ही योग है। विद्या से अविद्या का नाश होने के पश्चात् पुरुष क्लेशों से मुक्त होता है, परिणामस्वरूप मनुष्य को अपने आनंद-स्वरूप का बोध हो जाता है।

द्रष्टा और दृश्य जगत का संयोग ही व्यक्ति के जीवन में दुख का कारण बनता है। इस संयोग का कारण अज्ञान है। यह संयोग वास्तव में पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए हुआ है। प्रकृति और पुरुष के सहयोग से निर्मित इस जगत के जीवों में मनुष्य ही एक मात्र ऐसा जीव है, जिसके जीवन का उद्देश्य वास्तव में भोग नहीं, वरन् मोक्ष की प्राप्ति है। मानव के जीवन में असंतोष का एकमात्र कारण मोक्ष का अभाव है क्योंकि संसार के किसी भी ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के पश्चात् भी, मनुष्य संतुष्ट नहीं हो सकता है। जड़ और चेतन के संयोग से निर्मित यह संसार दुख से युक्त है। योगविद्या से अविद्या का नाश होने के पश्चात् विवेक संपन्न योगियों को इस संसार में यत्र-तत्र-सर्वत्र दुख का ही दर्शन होता

है। इस संसार में सुख के लिए किए जाने वाले कर्म के परिणामस्वरूप प्राप्त सुख में राग उत्पन्न हो जाता है और सुख के भोग में किसी प्रकार की बाधा या असमर्थता उत्पन्न होने से द्वेष रूपी क्लेश उत्पन्न होता है।

कामनाओं से युक्त कर्म का फल राग-द्वेष रूपी परिणाम उत्पन्न करता है। पुण्य, पाप और पुण्य-पाप मिश्रित कर्म से उत्पन्न होने वाला फल परिणामदुख का निर्माण करता है, जिसे इच्छाओं से युक्त कर्म करने वाला हर व्यक्ति भोगता है। इस संसार में प्रत्येक जीव को दैहिक, दैविक और भौतिक ताप का सामना करना पड़ता है। यह पृथ्वी भोग भूमि है। यहां जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों का फल भोगना होता है।

सुख की प्राप्ति होने पर उसके समाप्त होने की संभावना से उत्पन्न भय को ताप दुख कहते हैं। सुख की कामनाओं के कारण अपने से अधिक सुख प्राप्त करने वाले व्यक्ति से ईर्ष्या भाव उत्पन्न होता है और ईर्ष्या के ताप से भी दुख होता है। कामनाओं से कम प्राप्त होने पर अपूर्णता का अनुभव होता है और इस अनुभव से भी ताप दुख का जन्म होता है। इन सभी प्रकार के दुखों का संस्कार चित्त में अंकित हो जाता है जो समय पाकर व्यक्ति की स्मृति में आते हैं और दुखी करते हैं। संस्कारों से होने वाले दुख को संस्कार दुख कहते हैं। इस प्रकार इस संसार में कामनाओं के साथ जीने वाले प्रत्येक जीव को परिणामदुख, तापदुख और संस्कारदुख का सामना करना पड़ता है।

वास्तव में दुख, सुख की चाह के कारण होता है। सुख चाहने की प्रवृत्ति ने ही व्यक्ति को दुखी कर रखा है। योग के अधिगम से जिन साधकों को विवेक बुद्धि प्राप्त हो गई है उन्हें, सभी प्रकार के कर्मफल दुखरूप ही दिखाई देते हैं। इसलिए योगी पुण्य और पाप से मुक्त कर्म अर्थात् निष्काम कर्म करते हैं। जिसका कोई परिणाम और संस्कार नहीं बनता है। योग में स्थित होकर सफलता और विफलता के प्रति समत्व भाव के साथ कर्म करने की कला ही कर्म की कुशलता है। कर्मफल की कामना से मुक्त होकर निष्काम भाव से कुशलता पूर्वक कर्तव्य कर्म करते रहना योग है।

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रकृति के तीन गुण हैं और इन गुणों के कार्य परस्पर भिन्न होने के कारण इनमें गुणवृत्ति विरोध बना रहता है। सतोगुण का मुख्य धर्म प्रकाश, रजोगुण का धर्म क्रिया और तमोगुण का मुख्य धर्म स्थिति है। अपने धर्म के अनुसार ही ये गुण कार्य करते हैं। सतोगुण जहां प्रकाश, ज्ञान और सुख प्रदान करता है वहीं तमोगुण अंधकार, अज्ञान और दुख का कारण है। रजोगुण इन दोनों गुणों की क्रियाशीलता

का कारण है। इन तीन परस्पर विरोधी गुणों से निर्मित इस दृश्य जगत में विवेकशील मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार के कामनाओं से युक्त कर्म का फल दुख रूप ही है।

योग की शिक्षा और अधिगम से मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि द्रष्टा और दृश्य के संयोग का कारण अविद्या है। इस यथार्थ तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ इस बात का ज्ञान होता है कि दुख का वास्तविक कारण यह अविद्याजनित संयोग ही है। योगविद्या से जब अविद्या की ग्रन्थि टूटती है, तब दृश्य जगत से वैराग्य हो जाता है। वैराग्य के अभ्यास से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। जिसके परिणामस्वरूप द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। जब तक द्रष्टा को चित्तवृत्तियों से मुक्त अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक द्रष्टा को वृत्तियों के अनुरूप ही अपने स्वरूप की प्रतीति होती है। ज्ञानस्वरूप चेतन आत्मा स्वभाव से सर्वथा शुद्ध होने पर भी बुद्धि के संयोग से बुद्धिवृत्ति के अनुरूप ही इस दृश्य जगत को देखने लगता है। संसार को देखने का यह दृष्टिकोण ही मनुष्य के दुख का कारण है। इस दुख से मुक्ति का एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है, जिसकी अनुभूति योग के अधिगम से होती है।

निष्कर्ष

मनुष्य के जीवन का स्वाभाविक लक्ष्य आनंद और सुख—शांति की तलाश है। इस स्वाभाविक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक जीव के जीवन में अभ्यास अथवा प्रयास द्वारा अधिगम की प्रक्रिया चलती रहती है। अभ्यास के द्वारा होने वाले व्यवहार परिवर्तन को अधिगम कहा जाता है। अधिगम की इस प्रक्रिया में अभ्यास द्वारा नये व्यवहार की प्राप्ति के साथ ही साथ पुराने व्यवहार को छोड़ना भी पड़ता है। प्राणी की समस्त मनो—दैहिक क्रियाएं अधिगम से प्रभावित और निर्धारित होती हैं।

अभ्यास के द्वारा व्यक्ति सीखे गए व्यवहारों का तिरस्कार करना भी सीखता है। व्यवहार का परिमार्जन करते हुए नया व्यवहार सीखना और अभ्यास द्वारा पुराने व्यवहार को छोड़ना अधिगम की प्रक्रिया और परिणाम के अंतर्गत आते हैं। अधिगम से होने वाले व्यवहार परिवर्तन के अनेक रूप हो सकते हैं। नवीन कला और नये कौशल को प्राप्त करना किसी परिस्थिति में अधिगम होता है, तो किसी परिस्थिति में कार्य के गुण और गति को बढ़ाने की प्रक्रिया को अधिगम कहते हैं। मनुष्य के व्यवहारों का रूपांतरण करने के साथ ही नये व्यवहार के सीखने की प्रवृत्ति को भी अधिगम कहते हैं।

अधिगम के परिणामस्वरूप परिवर्तित एवं परिमार्जित व्यवहार की स्मृति का आधार साहचर्य है। साहचर्य और अधिगम के बीच गहरा संबंध है। किन्हीं दो प्रकार की समान तथा एक-दूसरे से विपरीत घटनाओं में एक की उपस्थिति में दूसरे की स्मृति का होना स्वाभाविक अधिगम प्रक्रिया है। इसे **साहचर्य की समानता तथा विरोध का नियम कहते हैं।** एक-दूसरे के समीप घटित होने वाली घटनाओं में भी एक की उपस्थिति में दूसरे की स्मृति होती है। इसे **साहचर्य के समीपता का नियम कहते हैं।**

यह जगत जिसमें मनुष्य इन्द्रियों से सिखाता है, वह नामरूपात्मक अभिव्यक्ति है। मनुष्य नाम और रूप के अर्थ को अभिव्यक्त करने की कला उद्दीपन-अनुक्रिया साहचर्य के आधार पर सीखता है। शब्द के अर्थ को सीखने की प्रक्रिया में किसी प्रकट दृश्य वस्तु के लिए एक ध्वनि उत्पन्न की जाती है। सुनने वाला शब्द और वस्तु के रूप को साहचर्य के कारण संबंधित कर लेता है। अब जब भी वह वस्तु सामने दिखाई देगी, उस शब्द का स्मरण होगा, और जैसे ही वह शब्द सुनाई देगा, उस वस्तु की स्मृति होगी। नाम-रूपात्मक अधिगम की प्रक्रिया इसी प्रकार संपन्न होती है। यहां वस्तु उद्दीपन और उसके अर्थ को व्यक्त करने वाला शब्द अनुक्रिया है। इसमें वस्तु और शब्द के अर्थ का अधिगम, उद्दीपन-अनुक्रिया साहचर्य की समीपता सिद्धांत के आधार पर होता है।

योगसूत्र में समाधिपाद के उनतीसवें सूत्र में **अधिगम** शब्द आया है, जिसका अर्थ जीव के चैतन्य स्वरूप का ज्ञान होता है। ईश्वर के साहचर्य से साधक अपने आत्म स्वरूप के ज्ञान का अधिगम करता है। ईश्वर एक विशेष पुरुष है, जो क्लेश, कर्म, आशय और विपाक से रहित, सर्वज्ञ है। ईश्वर के साहचर्य से मनुष्य को अपने चित्त वृत्तियों से मुक्त आत्म स्वरूप की स्मृति होती है, और योग सीखने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का नाश होता है। योग सीखने का लक्ष्य अभ्यास द्वारा आत्मज्ञान को उपलब्ध होना है। श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मस्वरूप की स्मृति से ही अर्जुन का मोह नष्ट हुआ, और वह कर्तव्य कर्म करने के लिए सक्रिय हो सका। **चित्तवृत्तियों की स्मृति मोह और विषाद का कारण बनती है, और आत्मस्मृति से मन के विषाद दूर होते हैं।**

मनुष्य के जीवन में संतुलन के लिए वृत्तियों के स्मृति के साथ ही साथ वृत्तियों से निवृत्त होने के कौशल को भी सीखना पड़ता है। इंद्रियों के विषयों का बार-बार चिंतन करना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। विषयों के चिंतन से काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, जो स्वरूप की स्मृति को भ्रमित कर देते हैं। अपने आत्म

स्वरूप की विस्मृति के कारण ही मनुष्य संसार में सुख-शांति और आनंद को खोजता फिरता है। इसकी प्राप्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और विषयों को संकलित करने का कौशल सीखता है। अधिगम की इस प्रक्रिया में असंतोष और दुख की ही प्राप्ति होती है। इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में होता है।

योगसूत्र में वर्णित यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा नियम अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के अभ्यास से होने वाले अधिगम के परिणामस्वरूप, जीवन में दुखों से मुक्ति मिल सकती है। शारीरिक और मानसिक शुद्धि के परिणामस्वरूप शरीर और चित्त में स्थिरता आती है। जिसके पश्चात् आसन और प्राणायाम की सिद्धि होती है। योग के इन अंगों का अभ्यास करने से इंद्रियों का विषयों की ओर प्रवाहित होने वाली सहज स्वाभाविक वृत्ति, परिवर्तित होकर अंतर्मुखी हो जाती है। इंद्रियों के इस अंतर्मुखी वृत्ति को प्रत्याहार कहते हैं। योग के इन अंगों के अधिगम को वाहिरंग योग कहते हैं।

वाहिरंग योग का सतत् अभ्यास करने से साधक अंतरंग योग का कौशल सीखता है। चित्त को किसी एक विषय में एकाग्र करने की कुशलता और एकाग्रता की इस वृत्ति के लगातार बने रहने का कौशल, धारणा और ध्यान के अधिगम से होता है। समाधि की सिद्धि धारणा और ध्यान के अभ्यास से होती है। धारणा, ध्यान और समाधि के अधिगम को संयम भी कहते हैं। संयम की साधना से मनुष्य, चित्त को एकाग्र करने की कला सीखता है। एकाग्र चित्त से ही अधिगम की प्रक्रिया संपन्न होती है। यद्यपि चंचलता चित्त का स्वाभाविक गुण है, परंतु अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों के निरोध का अधिगम किया जाता है। अष्टांगयोग के अधिगम की इस प्रक्रिया से योग सीखने का परिणाम प्राप्त किया जा सकता है।

मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी है, इसलिए सीखने की प्रक्रिया में अंतर्दृष्टि का उपयोग करता है। मनुष्य के अधिगम में चिंतन और बुद्धि का प्रमुख स्थान है। बाल्यावस्था में जैविक आवश्यकताएं प्रमुख होती हैं, परंतु जैसे-जैसे बुद्धि का विकास होता है, वैसे-वैसे अधिगम से अनुभव कोष में नए ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव किए हुए विषय का चित्त में प्रकट होना स्मृति कहलाता है। जागृत अवस्था में प्रमाण, विपर्यय और विकल्प के द्वारा मनुष्य जिस प्रकार के विषय-वस्तुओं का अनुभव करता है, उसके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं, और उन्हीं संस्कारों की स्मृति होती है। संस्कार ही सीखने का आधार है। सीखने

की प्रक्रिया में संस्कार बनते और बिगड़ते रहते हैं। सीखने की प्रक्रिया गत्यात्मक होती है इसलिए अनवरत चलती रहती है।

योग सीखने की प्रक्रिया में नए संस्कारों को सीखना, पुराने संस्कारों को छोड़ना तथा संस्कारों के निरोध के लिए अभ्यास सतत् चलता रहता है। योग का सीखना बहुस्तरीय होता है। महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित अष्टांगयोग के प्रत्येक अंग के सीखने की प्रक्रिया और उसके परिणाम से युक्त होना ही योग का अनुशासन है। योग का अधिगम प्रक्रिया और परिणाम दोनों है। योगदर्शन मनुष्य को शरीर, इंद्रियों, मन, चित्तवृत्तियों और संस्कारों पर विजय प्राप्त करके समाधि का मार्ग सिखाता है।

योग का अर्थ ही सीखना है। मनुष्य मन से विचार करता है, बुद्धि से निश्चय करता है, वाणी से अभिव्यक्त करता है और शरीर से क्रिया का अभ्यास करते हुए सीखता है। सीखने की प्रक्रिया में मन, बुद्धि, वाणी और काया के योग का होना आवश्यक है। शरीर से मन श्रेष्ठ है, मन वाणी से श्रेष्ठ है और चित्त संकल्प से श्रेष्ठ है, क्योंकि चित्त में चेतना उत्पन्न होने के कारण मनुष्य संकल्प करता है और संकल्प से सीखता है। चित्त सीखने का आधार और सबके लय होने का स्थान है। सीखने के परिणामस्वरूप व्यक्ति का व्यक्तित्व बदल जाता है। नये ज्ञान से युक्त होने के पश्चात् व्यक्ति बदल जाता है और उसका व्यवहार परिवर्तित एवं परिमार्जित हो जाता है। इसे ही अधिगम कहते हैं।

ज्ञान और कर्म के योग से सीखने की प्रक्रिया संपन्न होती है। ज्ञानात्मक क्रियाओं का अधिगम संवेदन (Sensation) और अवगम (Perception) दो अवस्थाओं में होता है। किसी भी विषय का संज्ञान इन दोनों के योग से ही होता है। किसी चुने हुए अवगम को अवधान (Attention) कहते हैं। अधिगम के लिए अवधान का होना परम आवश्यक है। सीखना सही और गलत दोनों प्रकार से होता है। गलत अवगम को भ्रम कहते हैं। किसी उद्दीपन का विकृत अर्थ ग्रहण करने पर भ्रम उत्पन्न होता है। जैसे— रस्सी में सर्प की प्रतीति का होना भ्रम है, जो रस्सी के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। अविद्याजनित ज्ञान से अहंकारयुक्त मन राग, द्वेष और अभिनिवेश का अधिगम करता है। अध्यात्म विद्या के अधिगम से यह संसार रस्सी में सर्प की भांति प्रतीत होता है।

वास्तव में ज्ञान का अधिष्ठान ब्रह्म है, जिसमें शरीर और संसार की प्रतीति होती है। द्रष्टा के कारण दृश्य की प्रतीति होती है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति का ज्ञान द्रष्टा के कारण होता है। इन सभी परिवर्तनशील अवस्थाओं का ज्ञान द्रष्टा को होता है। द्रष्टा

अपरिवर्तनशील है। चित्तवृत्तियों के रूप में संकलित, प्रकृति के नाम—दृश्यात्मक ज्ञान को देखने के कारण ही पुरुष को द्रष्टा कहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध के परिणामस्वरूप पुरुष का प्रकृति से वियोग हो जाता है। इस वियोग को ही योग का अधिगम कहते हैं।

योगवासिष्ठ में शिक्षण और अधिगम की अनूठी प्रक्रिया का वर्णन है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के ज्ञान से युक्त श्रीराम भारत के विभिन्न तीर्थों की यात्रा करने के बाद अंतर्मुखी हो गये। इस अंतर्मुखी प्रवृत्ति के अधिगम का कारण वैराग्य से उत्पन्न विवेकजन्य ज्ञान था। शरीर और संसार के क्षणभंगुरता का साक्षात्कार होने के परिणामस्वरूप वैराग्य का उत्पन्न होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। वास्तव में वैराग्य जागतिक नश्वरता के सत्य का ज्ञान है। वैराग्य के अभ्यास से मनुष्य चित्तवृत्तियों के निरोध की कला सीखता है।

मनुष्य के जीवन में संतुलन के लिए वृत्तियों के अधिगम के साथ ही साथ वृत्तियों से मुक्त आत्मस्वरूप के अधिगम की भी आवश्यकता है। महर्षि वसिष्ठ ने श्रीराम को कर्तव्य कर्म के प्रति सकारात्मक एवं सक्रिय दृष्टि के निर्माण के लिए, विभिन्न पौराणिक उपाख्यानों के माध्यम से अद्वैत दर्शन का तब तक उपदेश दिया, जब तक उन्हें अद्वय ज्ञान का अधिगम नहीं हो गया। अष्टांगयोग का अभ्यास एवं अध्यात्म विद्या के ज्ञान से युक्त होने पर, अविद्या से उत्पन्न मानसिक और शारीरिक क्लेशों से जीव मुक्त हो जाता है। अद्वय ज्ञान से युक्त जीवनमुक्त पुरुष समत्व भाव के साथ अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह करता है। महर्षि वसिष्ठ के शिक्षण और अधिगम से श्रीराम लोक कल्याण के लिए योगी की तरह सतत् कर्मयोग की साधना में रत रहे।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण विषादयोग से ग्रसित अर्जुन को योगी बनने का उपदेश करते हैं। योगी तपस्वियों, ज्ञानियों और अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए कर्म करने वालों से श्रेष्ठ है। मनुष्य दिन—रात चित्तवृत्तियों से युक्त होकर इंद्रियों से विषयों का चिंतन करता रहता है। विषयासक्ति के कारण काम, क्रोध और लोभ नामक मानसिक विकारों का जन्म होता है। इसे नरक का तिराहा कहते हैं। यह आत्मा का नाश करने वाला है।

इस लोक में दैवी संपत्ति और आसुरी संपत्ति को लेकर मनुष्य पैदा हुआ है। दैवी संपत्ति मोक्ष प्रदान करने वाली और आसुरी संपत्ति बंधन में डालने वाली होती है। विषय भोग की कामना से युक्त, कभी न पूरी होने वाली इच्छाओं को पूरा करने में लगे हुए कामी

और क्रोधी आसुरी प्रवृत्ति वाले लोग, मोहवश अपनी इच्छाओं के दास बने रहते हैं। ऐसी मंदबुद्धि वाले मनुष्य इस जगत का शत्रु बनकर उसका नाश करने में ही लगे रहते हैं। अविद्या, अहंकार, काम, क्रोध और लोभ का आश्रय लेने वाले लोग अपने और दूसरों में स्थित आत्मतत्त्व से द्वेष करने वाले होते हैं। एकात्म दर्शन का अधिगम मनुष्य को आसुरी प्रवृत्ति से मुक्ति दिलाने तथा दैवी प्रवृत्ति से युक्त होने में सहायक होता है।

योगसूत्र में वर्णित द्रष्टा, दृश्य और ईश्वर की भांति श्रीमद्भगवद्गीता में भी क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम का वर्णन मिलता है। यह अश्वत्थ संसार-वृक्ष अर्थात् आने वाले कल तक नहीं टिकने वाला संसार, अविनाशी है। इस प्रकार से संसार को जानने वाला मनुष्य वेदों का ज्ञाता है। नाशवान दृश्य जगत क्षर और द्रष्टा के रूप में अवस्थित, स्थिर रहने वाला अन्तर्यामी अक्षर कहलाता है। योगसूत्र के ईश्वर की भांति इस जगत में क्षर और अक्षर से अतिरिक्त एक विशेष पुरुष जो सर्वज्ञ है, गीता में पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध है। इस संसार के मोह नामक व्याधि से रहित, जो मनुष्य इस पुरुषोत्तम स्वरूप को जानता है, वह सब कुछ जानता है। ईश्वर अथवा पुरुषोत्तम के साहचर्य से होने वाले अधिगम के परिणामस्वरूप, जीव को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान तथा योग के मार्ग में आने वाले विघ्न बाधाओं का नाश होता है।

वर्तमान समय में प्रचलित आधुनिक शिक्षा मनुष्य को ज्ञान और कौशल की दृष्टि से संपन्न बनाती है। प्रौद्योगिकी के नित्य नए हस्तक्षेप से प्रकृति की सीमाओं को तोड़ते हुए कृत्रिम जीवन स्थितियों का अधिकाधिक विस्तार होता जा रहा है। उत्सुकता, उपलब्धि और महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर मनुष्य अपने अहंकार की अप्रत्याशित वृद्धि करने में पूरी तरह से सक्रिय है। जिसके परिणामस्वरूप जीवन के विभिन्न स्तरों पर संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, हर्ष, शोक, कुंठा, शोषण और आत्महीनता के कारण गिरता आत्मविश्वास स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। ऐसी परिस्थिति में जीवन में सुख, शांति, संतुष्टि, सह-अस्तित्व और सह-जीवन के लिए चुनौतियां बढ़ रही हैं।

शिक्षा, शिक्षण और अधिगम के माध्यम से व्यक्ति और समाज का परिवर्तन एवं परिमार्जन होता है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य के सामाजिक चेतना एवं मानसिकता का निर्माण होता है। इक्कीसवीं सदी की वैश्विक परिस्थितियां, इस जगत में मनुष्य की सत्ता, संघर्ष, उसके होने का प्रयोजन, कर्तव्य और दायित्व पर पुनर्विचार की अपेक्षा करती हैं। आधुनिक विज्ञान में आस्था और विश्वास के साथ ही साथ जिस विवेक की परिपक्वता प्रत्याशित थी,

वह आज के परिवेश में खंडित हो रही है। अपने निजी स्वार्थ के प्रति निष्ठा के कारण मनुष्य, जगत की जीवंतता के प्रति असंवेदनशील हो गया है। एकांगी दृष्टि और अपरिपक्व सोच के परिणामस्वरूप जैव-विविधता, पर्यावरण के तीव्र विनाश और आरोग्य की हानि का दृश्य सर्वत्र दिखाई दे रहा है।

वर्तमान समय में प्रचलित शिक्षा पद्धति में विद्यार्थियों की उपलब्धि, गुणवत्ता और ज्ञान में वृद्धि का स्तर चिंताजनक है, परंतु मात्रात्मक सुधार अवश्य हुआ है। जीवन से सुख की अनुभूति दूर हो रही है और जीवन, संघर्ष एवं युद्ध का रूप लेता जा रहा है। जीवन का स्वाभाविक लक्ष्य आनंद और सुख की तलाश है, परंतु आज की परिस्थितियों में हम सभी लोग संघर्ष, असंतोष, चिंता, तनाव और कुंठा की अनुभूतियों के साथ जीवन जी रहे हैं। इन मानसिक कलेशों से मुक्ति दिलाने वाली विद्या योग है। योग विद्या के अधिगम से अविद्या से उत्पन्न होने वाले कष्टों से मनुष्य मुक्त होता है।

आनंद हमारा स्वभाव है। अपने इस स्वाभाविक गुण के कारण ही मनुष्य अपने हर क्रिया में आनंद खोजता है। वास्तव में हमारा स्वरूप सत चित आनंद से अनुप्राणित है। वृत्तियों को अपना स्वरूप समझने के कारण हमें दुख और पीड़ा से गुजरना पड़ता है। अपने स्वरूप के साक्षात्कार से समर्थ और सशक्त रहते हुए, सक्रिय जीवन जीने की कुशलता योग के अधिगम से प्राप्त होती है। मनुष्य अपने तथा अपनी दुनिया के लिए विवेकपूर्ण ढंग से आत्म अनुशासन द्वारा कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। व्यक्ति में सतत् विकास की समझ के साथ कल्याणकारी जीवन को सीखने और सिखाने की ललक पैदा करने वाली शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए विकल्प और परिस्थितियों का निर्माण करना भी शिक्षा नीति का आधार होना चाहिए। जिससे रचनात्मकता और रुचि के अनुसार व्यक्ति का बहुमुखी विकास हो सके।

इस शोध कार्य द्वारा विद्यालयों में विद्यार्थियों के संपूर्ण विकास को ध्यान में रखते हुए योग विद्या के अधिगम से अविद्या का नाश करने पर जोर दिया गया है। योग विद्या के अधिगम से विवेक विकसित होता है। जिसके परिणामस्वरूप समग्र दृष्टि प्राप्त होती है। इस दृष्टि से ही विश्वबंधुत्व और विश्वशांति की संकल्पना को साकार किया जा सकता है। जीवन में सफलता के लिए स्वयं की सुरक्षा के साथ ही साथ, जगत के जीवन की सुरक्षा के लिए सकारात्मक रूप से क्रियाशील बने रहना परम आवश्यक है। जीवन में योग संजीवनी सरीखी विद्या है। यह भारतीय ज्ञान और अभ्यास की महत्वपूर्ण परंपरा है। वैश्विक

जगत में उत्पन्न चुनौतियों का सामना भारतीय मानस शास्त्र में वर्णित ज्ञान और कर्म के योग से किया जा सकता है।

महर्षि पतंजलि द्वारा योगसूत्र में वर्णित अष्टांग योग का क्रमिक रूप से मनुष्य को अभ्यास करना चाहिए। योग के इन अंगों का जो मनुष्य अपने जीवन में अनुष्ठान, प्रयोग और व्यवहार करता है, उसके चित्त के क्लेश क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। शुद्ध चित्त में ज्ञान का प्रकाश आत्मा-अनात्मा का विवेक होने तक बढ़ता है। शरीर की इंद्रियों तथा मन को अपने नियंत्रण में करने के लिए यम का अभ्यास परम आवश्यक है। योगसूत्र में यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जाति, देश, काल, काल और निमित्त से अनवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत की संज्ञा दी गई है। व्यक्ति द्वारा जब योग के प्रथम अंग—यम का सार्वदेशिक और सर्वकालिक व्यवहार किया जाता है, तब यह महाव्रत बन जाता है। यम के अभ्यास के साथ ही साथ नियम अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का पालन करना भी आवश्यक है।

योग का अधिगम करने के लिए चित्त की एकाग्रता परम आवश्यक है। चित्त का एकाग्र होना, यम और नियम के पालन के बिना संभव नहीं है। अंतःकरण की पवित्रता चित्त के क्लेशों के मिटने पर ही होगी। यम और नियम के अभ्यास से शरीर की स्थिरता और प्राणायाम से मन की स्थिरता को प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः योग का स्वरूप यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक आठ अंगों से बनता है। इसमें पहले पांच को बहिरंग और तीन को अंतरंग योग कहते हैं। अंतरंग योग अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि को संयम भी कहते हैं। इस प्रकार अंतरंग और बहिरंग योग रूपी दो पंखों की सहायता से पूर्ण योग की सिद्धि होती है। योगवासिष्ठ में भी पंखों के दो पंखों से उड़ान भरने का उदाहरण देते हुए, ज्ञान और कर्म के योग से मोक्ष की सिद्धि होती है, ऐसा वर्णन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का विधिवत अधिगम कराया गया है। अपने गुण और अभिरुचि के अनुसार इनका अभ्यास करते हुए योगी आत्मस्थ हो जाता है।

योग का अधिगम मनुष्य को स्वस्थ जीवन जीने के लिए प्रशिक्षित करता है। योग द्वारा मनुष्य आत्मस्थ होने की कला सीखता है। यह कला मनुष्य में उस कौशल का विकास करती है, जिसमें द्वैतदर्शन तिरोहित हो जाता है और अद्वैत का दर्शन होने लगता

है। “वसुधैवकुटुंबकम्” का दर्शन आत्म दृष्टि से होता है। यह दृष्टि ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है।

अध्यात्म विद्या से आत्मज्ञान होता है और आत्मज्ञान से अपने स्वरूप की स्थिति का ज्ञान होता है। यह ज्ञान मनुष्य को स्थितप्रज्ञ बनाता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में स्वस्थ शरीर और मन को स्वाभाविक स्थिति माना गया है। वास्तव में स्वास्थ्य, स्व में स्थित होना ही है। स्वयं के ज्ञान की अनुभूति के बिना स्वयं में स्थित होने की कला नहीं आती है। योग स्वयं में स्थित होने की कला सिखाता है। योग के इस कौशल से युक्त होकर योगी, स्वामी हो जाता है।

स्व का ज्ञान, स्वानुभूति, स्वास्थ्य, स्वभाव, स्वाभिमान, स्वतंत्रता इत्यादि शब्दों का अध्ययन स्व से जुड़ा होने के कारण स्वाध्याय कहलाता है। इसके लिए भारत की प्राचीन शिक्षण एवं अधिगम प्रक्रिया में राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग, ध्यानयोग, लययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग इत्यादि पद्धतियां प्रचलित रही हैं। आधुनिक युग में भी इनके विस्तार की आवश्यकता है। महर्षि पतंजलि, गुरु वसिष्ठ और योगेश्वर श्री कृष्ण के द्वारा योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में योग के अधिगम का विधिवत निरूपण किया गया है। योग के इन ग्रंथों में किए गए विवेचन को देखने पर ज्ञात होता है कि एक प्राणी के रूप में मनुष्य को सचेत होकर, अपने व्यवहार का निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करते हुए उसका परिमार्जन करना चाहिए। व्यवहार का परिमार्जन ही अधिगम है।

वस्तुतः योग का अर्थ ही सीखना है। अधिगम की प्रक्रिया संपन्न होने पर ज्ञान में कुछ नया जुड़ता है। सीखना जीवन में चलने वाली एक सतत् प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सीखे गए कुछ पुराने ज्ञान की विस्मृति और नए ज्ञान की स्मृति होती है। सीखने की प्रक्रिया में नया सीखने के साथ ही साथ कुछ सीखे हुये को भुलाने की प्रक्रिया भी चलती रहती है। जिसका प्रयोग उपयुक्त समय और परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन में करता है। अपनी स्मृति के आधार पर ही मनुष्य उद्दीपनों के अनुकूल अनुक्रिया करता है। योग के इन तीनों ग्रंथों का उद्देश्य अपने स्वरूप की वास्तविक स्मृति का अधिगम कराना है।

मनुष्य के जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, आदि भावों से उत्पन्न तनाव, चिंता, हताशा, अवसाद, अनिद्रा, हिंसा, आत्महत्या जैसे मनो-दैहिक (साइकोसोमेटिक) किस्म के मानसिक बीमारियों की तेजी से वृद्धि हो रही है। अज्ञानता और अहंकार से जन्म लेने

वाले इन सभी विकारों से मुक्ति के लिए आत्मसंयम और योग का अभ्यास परम आवश्यक है। योग आत्मानुशासन सिखाता है। अस्थिर मन को आत्मा में स्थिर करके ही, मन को मानसिक विकार उत्पन्न करने वाले विचारों से मुक्त किया जा सकता है। योग से युक्त होने के परिणामस्वरूप मन अंतर्मुखी होकर आत्मा में विलीन हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है। स्थिर बुद्धि से ही योग सीखने की प्रक्रिया संपन्न होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि योग का अधिगम प्रक्रिया और परिणाम दोनों का योग है।

योग का अर्थ जोड़ना है और अधिगम में भी स्मृति में नया ज्ञान जुड़ता है। मनुष्य मन से विचार करता है, बुद्धि से निश्चय करता है, वाणी के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करता है और शरीर से व्यवहार करता है। इस प्रकार मन, बुद्धि, वाक और शरीर के माध्यम से अधिगम की प्रक्रिया पूरी होती है। सीखने के बाद व्यक्ति पूरी तरह से बदल जाता है। एक बच्चा प्रारंभ में देखकर, सुनकर, चलना, बोलना, समझना, क्रिया— प्रतिक्रिया करना, यथोचित व्यवहार करना सीखता है। यह सब सीखने के पश्चात् वह ज्ञान से युक्त हो जाता है। विवेक से युक्त हो जाने को ही योग कहते हैं। अधिगम से युक्त होने के पश्चात व्यक्ति के व्यवहार में परिष्कार एवं परिमार्जन होता है। योग सीखने की प्रक्रिया भी है और परिणाम भी है। इसके अधिगम से मनुष्य अपने मूल स्वभाव आनंद को प्राप्त करता है। जीवन का स्वाभाविक उद्देश्य आनंद और सुख की खोज ही है। जिसको योग के इन ग्रंथों में वर्णित अधिगम की अवधारणा और यौगिक तकनीकी का अभ्यास करके प्राप्त किया जा सकता है।

इस जगत में जन्म लेने वाले जीव को जीवनभर कर्म करना पड़ता है। योग मनुष्य को जीवन कौशल सिखाता है। कर्म करने की कुशलता, योग के अधिगम से आती है। आज के संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, चिंता और तनाव से युक्त जन—जीवन में जीवन कौशल का महत्व बहुत बढ़ गया है। अज्ञानता और अहंकार के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह की बेड़ियों में बंधे मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और स्वस्थ समाज का निर्माण करना एक वैश्विक चुनौती बन गया है।

उत्सुकता, उपलब्धि और महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अपने अहंकार की अप्रत्याशित वृद्धि को ही मनुष्य अपना धर्म समझ बैठा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के नित्य— नूतन प्रयोग एवं हस्तक्षेप के द्वारा प्रकृति की सीमाओं को ढहाते हुए, कृत्रिम एवं यांत्रिक जीवन शैली को स्वीकार कर, प्राकृतिक जीवन शैली से दूर होते जाना ही आज के समय में मनुष्य का कर्तव्य बन गया है। जीवन का धर्म, कर्तव्य—कर्म और जीवन—कौशल के ज्ञान के

लिए योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं विशेष रूप से योगेश्वर श्री कृष्ण द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित योग के अधिगम की अवधारणा, विवेचन एवं यौगिक तकनीक का आधुनिक शिक्षा पद्धति में शिक्षण एवं अधिगम कराना चाहिए। इन ग्रन्थों में योग के विवेचन को देखने पर पता चलता है कि आधुनिक युग में मनुष्य को सचेत होकर अपने व्यवहार का परीक्षण, निरीक्षण एवं विश्लेषण करते हुए उसका परिष्कार एवं परिमार्जन की कला सीखनी चाहिए।

मनुष्य जो कुछ भी सीखता है उसकी स्मृति चित्त में बनी रहती है। आशयपूर्वक किए गए कर्म का बीज चित्त में बना रहता है। कर्माशय समय-समय पर प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार भाव से प्रकट होता रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित सात्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धि से मनुष्य सीखता है और अपनी आवश्यकतानुसार सीखे गए ज्ञान का जीवन में उपयोग करता है।

चित्त में चेतना उत्पन्न होने से मनुष्य संकल्प करता है और संकल्प से ही अधिगम होता है। चित्त, संकल्प से श्रेष्ठ है और संकल्प मन से श्रेष्ठ है। मन में अनंत विचारों का प्रवाह बना रहता है। किसी विचार के साथ संकल्पित मन, बुद्धि बन जाता है। अधिगम के लिए बुद्धि आवश्यक है। अधिगम के पश्चात् बुद्धि का ही विकास होता है। गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि “बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूं।”

योगवासिष्ठ के अनुसार जहां मन है, वहां संकल्प निश्चित है क्योंकि संकल्प करने का नाम ही मन है। मन का स्वभाव संकल्प है। व्यक्ति जिस प्रकार के जगत की कल्पना करता है, मन अपने संकल्प की शक्ति से वैसा ही जगत निर्मित कर देता है। परम चित्त जब कल्पनात्मक रूप धारण करता है, तब वह विषयों की ओर आकर्षित होता है और मन बन जाता है। मनुष्य को जागृत, स्वप्न, और सुषुप्ति की जिन तीन अवस्थाओं का ज्ञान होता है, वह सब मन का रूपांतर है।

मन सबको रचने वाला है और स्वयं ही पुरुष है। मन में अपार शक्ति है। जिस वस्तु को प्राप्त करना मन चाहता है, उसे प्राप्त कर लेता है। मन, क्षण को कल्प और कल्प को क्षण बना देता है। मन स्वयं ही स्वतंत्रतापूर्वक शरीर की रचना करता है, और मनुष्य शरीर और मन के द्वारा जीवनपर्यंत सीखता रहता है।

महर्षि पतंजलि प्रणीत अष्टांगयोग के अभ्यास और विवेकपूर्ण वैराग्य के योग से अधिगम में आने वाली बाधाओं को दूर करते हुए, मनुष्य मन की वृत्तियों से मुक्त अपने आत्मस्वरूप का अधिगम कर सकता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम को विवेक से उत्पन्न वैराग्य के कारण, शरीर और संसार की नश्वरता का ज्ञान हुआ। जिसके परिणामस्वरूप इस जगत में उनके करने योग्य कुछ शेष नहीं रह गया। ऐसी परिस्थिति में महर्षि वसिष्ठ के द्वारा उनको योगवासिष्ठ महारामायण के शिक्षण द्वारा योग का अधिगम कराया गया। योग के अधिगम से विवेक जागृत होता है। जिसके परिणामस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होता है। विवेक से उत्पन्न वैराग्य से युक्त श्री राम जी को कर्तव्य-कर्म को कुशलतापूर्वक करने के लिए भी योग का अधिगम कराया गया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि योग—अधिगम, अधिगम की प्रक्रिया और अधिगम का परिणाम है।

सामान्य मनुष्य जिस प्रकार से अधिगम करता है उसको ध्यान में रखते हुए, श्रीमद्भगवद्गीता के शिक्षण एवं अधिगम का विवेचन विशेष रूप से प्रासंगिक है। अधिगम उद्देश्यपूर्ण होता है। मनुष्य अपने जीवन में विभिन्न लक्ष्यों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सतत अधिगम करता रहता है। जीवन की यात्रा में अनुकूल—प्रतिकूल, अच्छा—बुरा, उचित—अनुचित परिस्थितियाँ आती रहती हैं, और उन परिस्थितियों के अनुसार मनःस्थिति का निर्माण होता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में मन विषादग्रस्त हो जाता है। विषादग्रस्त मन मनुष्य को किंकर्तव्यविमूढ़ बना देता है।

विषादग्रस्त मन का प्रतीक अर्जुन है। अर्जुन के विषादयोग से मुक्ति के लिए योगेश्वर श्री कृष्ण द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में योग का गीत गाया गया। गीता कर्मयोग—शास्त्र है, जिसमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का विस्तार से विवेचन किया गया है। मनुष्य चित्त से संकल्प करता है और संकल्प से सीखता है। चित्त में ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक संस्कार होते हैं। ज्ञानात्मक संस्कार से स्मृति, भावनात्मक संस्कार से कलेशों और संवेगों तथा क्रियात्मक संस्कार से कर्माशय उत्पन्न होते हैं। सीखने की प्रक्रिया और सीखने के परिणामस्वरूप संस्कारों का निर्माण होता है। चित्त में सीखने के संस्कार होते हैं और संस्कार से मनुष्य सीखता है। सीखने में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए और आवश्यकतानुसार सीखने के लिए योग का अधिगम आवश्यक है।

गीता में वर्णित ज्ञानयोग से ज्ञानज संस्कार, भक्तियोग से भावनात्मक संस्कार और कर्मयोग से क्रियात्मक संस्कार से उत्पन्न दोषों को दूर कर, जीवन कौशल के लिए आवश्यक अधिगम किया जा सकता है। इसलिए वर्तमान समय मनुष्य के जीवन और

समाज में उत्पन्न चुनौतियों को दूर करने के लिए, श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित योग के शिक्षण एवं अधिगम की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:-

1. आर.ई.सीगल एवं आर.एच. कूप (1974), कोग्नीटीव स्टाइल एंड क्लास रूम प्रैक्टिस इन साइकोलॉजी कांसेप्ट इन द क्लास रूम. आर.एच. कूप एंड के. व्हाइट (एडी.), न्यूयार्क: हार्पर एंड रो, 53-
2. लीकाक, के. (1978), एसेसिंग लर्निंग करैक्टरिस्टिक्स. इन रोबर्ट एम. एंडरसन. जॉन जी. ग्रीर एंड सेरी जे. ओडली(इड्स). इंडिविजुअलाइजिंग एजुकेशनल मटेरियल फॉर स्पेशल चिल्ड्रेन द मेन स्ट्रीम, बाल्टीमोर. यूनिवर्सिटी लार्क प्रेस, 29
3. ड्रेवर जे., गुप्ता एस.पी. (1996), उल्लेखित, आधुनिक मनोविज्ञान,
4. रिले पी., लेविस आर. एवं वांग बी. (2012), इन्वेस्टिगेटिंग टीचर्स एक्सप्लेनेशन फॉर एग्रेसिव क्लासरूम डिसिप्लिन स्ट्रेटेजीज इन चाइना एंड ऑस्ट्रेलिया. एजुकेशनल साइकोलॉजी, 32(3), 389-403- डीओआयी 10-1080/01443410-2012-662151-1
5. ब्रह्मप्रकाश, (2009), बाल मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 22/4735 प्रकाश दीप बिल्डिंग, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली।
6. मिश्र, बृजकुमार, (2010) मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन, पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली-110001।
7. मुरजानी, जानकी एवं जैन, मीना, (2007), सामान्य मनोविज्ञान, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स जयपुर- 302003।
8. अजीमुर्रहमान, (1978), सामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली- 110007।
9. जेम्स, डब्ल्यू. (1890). द प्रिंसिपल ऑफ साइकोलॉजी, इन टू वॉल्यूम्स. न्यूयॉर्क हेनरी होल्ट एंड कंपनी।
10. गुप्ता, एस.एन.दास, (1996), योगा फिलासफी, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली- 110007।
11. जायसवाल, सीताराम, (2004), भारतीय मनोविज्ञान और शिक्षा, आर्य बुक डिपो करोलबाग नई दिल्ली- 110005।
12. त्रिपाठी, जयगोपाल (2001), असमान्य मनोविज्ञान, एच.पी. भार्गव बुक हाउस, भार्गव भवन, 4/352 कचहरी घाट आगरा।
13. वर्मा, डॉ. रामपाल सिंह (1982), नैदानिक मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर रागेय राघव मार्ग, आगरा।
14. शर्मा, रामनाथ, शर्मा रचना भारतीय मनोविज्ञान एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स दरियागंज नई दिल्ली।
15. एस.वी. आदिनारायण (1950), द ह्यूमन माइण्ड हचिन्सन्स लंदन।
16. पाण्डेय, राजबली (1978), हिन्दू धर्म कोष, उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
17. एस. के. मंगल शिक्षा मनोविज्ञान, (2010) पी. एच. आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड।
18. सिन्हा अरुण कुमार, उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।
19. चौबे सरयु प्रसाद, (1953), मनोविज्ञान और शिक्षा, अग्रवाल लक्ष्मीनारायण।
20. शुक्ला लालजी राम, (2001), नवीन मनोविज्ञान और शिक्षा प्रकाशन ग्रंथमाला कार्यालय अतना।
21. स्वामी व्यासदेव (1959), आत्मविज्ञान योग निकेतन ट्रस्ट स्वर्गाश्रम ऋषिकेश, उत्तराखण्ड।
22. विनोबा (1981), अध्यात्म तत्व सुधा, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
23. ईशादि नौ उपनिषद शंकराचार्य भाष्यार्थ सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण-2066।
24. अरविंद, (1967), भागवत मुहूर्त, अदिति कार्यालय पांडिचेरी।
25. सम्पूर्णानंद, (1965), योगदर्शन, हिन्दी समिति सूचना विभाग उ.प्र. लखनऊ।
26. आत्मानंद, स्वामी अक्षय (1981), योग के चमत्कार, हिन्द पाकेट बुक्स, नई दिल्ली।
27. अरविंद, (1969), योग समन्वय (पूर्वार्द्ध), श्री अरविंद सोसायटी, पांडिचेरी।
28. शर्मा, वेंकटेश्वर, (1975), आध्यात्म योग और चित्त विकलन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना।
29. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर।

30. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001।
31. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर।
32. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा।
33. शर्मा, चंद्रधर(2019). भारतीय दर्शन(आलोचन और अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, ISBN-9788120821347.
34. शास्त्री, श्रीकृष्णपंत, (2016), योगवासिष्ठ (महारामायण), चौखंभा, सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
35. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत् 2073), गीताप्रेस गोरखपुर।
36. दशोरा, नंदलाल, (2010), योगवासिष्ठ महारामायण, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, उत्तराखंड।
37. गोयंका हरिकृष्णदास(संवत् 2073), शांकरभाष्य श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर।
38. राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, (2012), भगवद्गीता, हिन्द पॉकेट बुक्स, जे. 40, जोरबाग लेन नई दिल्ली-110003।
39. स्वामी अपूर्वानंद, (1988), श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012।
40. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020।
41. डॉ. हरियन्ना, एम, (1983), भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली,
42. स्वामी विवेकानंद, राजयोग, रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर- 440012।
43. डॉ. शुक्ला, लक्ष्मी, (1971), भारतीय मनोविज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
44. सिन्हा, यदुनाथ (1958), इण्डियन साइकोलाजी, वोल्यूम -1, सिन्हा पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता।
45. दशोरा, नन्दलाल, (2003), पातंजल योगसूत्र-योगदर्शन, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, उत्तराखण्ड,
46. पतंजलि योगसूत्र श्रीश्री रविशंकर द्वारा व्याख्यान (2011) Elegant Printing Works, Bangalore।
47. आरण्य, श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द, (2014), पातंजल योग दर्शन, व्यास भाष्य, मातीलाल बनारसीदास दिल्ली,
48. ओशो (2017) बुलाते हैं फिर तुम्हें पतंजलि योगसूत्र भाग-4, फ्यूजन बुक्स नई दिल्ली-110020,
49. दौनेरिया डॉ0 साधना (2014) पातंजल योगसार मधूलिका प्रकाशन, इलाहाबाद।
50. गोस्वामी, महाप्रभुलाल (1988), 'महाकवि श्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः योगवासिष्ठ', तारा बुक एजेंसी, कामच्छा, वाराणसी
51. आत्रेय, डॉ. भीखन लाल (1957), योगवासिष्ठ और उनके सिद्धांत तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस
52. शर्मा, पं. श्रीराम, शर्मा भगवती देवी (2015) 108 उपनिषद् (सरल हिन्दी भावार्थ सहित) ज्ञानखण्ड, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 281003,
53. गोयंदका हरिकृष्णदास (सं. 2071), ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर।
54. गोयंदका जयदयाल (सं. 2072), श्रीमद्भगवद्गीता गीता प्रेस गोरखपुर
55. स्वामी तेजोमयानन्द (2016), योगवासिष्ठसारसंग्रहः, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई-400072 महाराष्ट्र।
56. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009), गीता माता, डायमंड पाकेट बुक्स नई दिल्ली-110020,
57. तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, (2017), गीता रहस्य, डायमंड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली-110020,
58. स्वामी तेजोमयानन्द (2006), श्रीमद्भागवत- प्रवचन, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई- 400072 (महाराष्ट्र)
59. विनोबा (2017), गीता-प्रवचन, सर्व सेवा संध-प्रकाशन राजघाट, वाराणसी- 221001
60. श्रीवास्तव, डॉ. सुरेशचन्द्र (1998), पातंजलयोगदर्शन, चौखम्भा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
61. रामसुखदास, स्वामी (संवत् 2072), श्रीमद्भगवद्गीता साधक-संजीवनी गीता प्रेस, गोरखपुर।
62. गोयंदका, जयदयाल (संवत् 2072), श्रीमद्भगवद्गीता तत्व विवेचनी, गीता प्रेस, गोरखपुर।
63. विवेकानंद, स्वामी (2001), ज्ञानयोग, सत्रहवां संस्करण रामकृष्णमठ, धन्तोली नागपुर।
64. विवेकानंद, स्वामी (2008), कर्मयोग, छब्बीसवां संस्करण रामकृष्णमठ, धन्तोली नागपुर।

65. विवेकानंद, स्वामी (2001), व्यक्तित्व का विकास, रामकृष्णमठ, धन्तोली नागपुर।
66. ब्रह्मवर्चस, (2006) सरस-सफल जीवन का केन्द्रबिन्द उत्कृष्ट चिंतन, युगनिर्माण योजना गायत्री तपोभूमि मथुरा।
67. शर्मा, पं. लीलापत (1999), भगवान श्रीराम के जीवन का सोलहवां वर्ष (मर्यादा पुरुषोत्तम बनने का रहस्य), युगनिर्माण योजना गायत्री तपोभूमि मथुरा।
68. शास्त्री, डॉ. रामचन्द्र वर्मा, महर्षि वाल्मीकि प्रणीत योगवासिष्ठ, डायनेमिक पब्लिकेशन लि0, 11-शिवाजी मार्ग मेरठ।
69. गुप्ता, डॉ. कान्ता, (1998), योगवासिष्ठ; नाग प्रकाशक, दिल्ली।
70. शर्मा पंडित श्रीराम, (1988), योगवासिष्ठ नवज्योति प्रेस, मथुरा।
71. दास, डॉ. सुभाषचन्द्र, देवी शान्तिप्रिया, (2011), द योगा फिलॉसफी ट्रेडीशन एण्ड रिप्लेक्शन, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।
72. कुमार, डॉ. कामाख्या, (2013), योगा फिलॉसफी, डी.के. प्रिन्ट वर्ड नई दिल्ली।
73. शिवानंद, स्वामी (2002), मनोजय, द्विव्य जीवन संघ प्रकाशन टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड।
74. शुक्ल, लालजी राम, आध्यात्मिक मनोविज्ञान, नन्दकिशोर एण्ड संस, पो.बा. 17, चौक बाजार वाराणसी।
75. बोरा, राजमहल (1984) भाव, उद्वेग और संवेदना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज नई दिल्ली।
76. योगांक (संवत् 2059), गीता प्रेस, गोरखपुर।
77. श्री अरविन्द, (1967), भागवत् मुहूर्त, अदिति कार्यालय पांडिचेरी।
78. Shrivastav GNP, prospectives in teacher education, concept publishing company, 2004.
79. Cherry, N., & Bowden, J. A. Action research: A pathway to action, knowledge and learning. *Action Research: A Pathway to Action, Knowledge and Learning*, xvii, 1999.
80. Preston, J., & Hammond, C., *The Wider Benefits of Further Education*.
81. Centre for Research on the Wider Benefits of Learning, Institute of Education, University of London, 2002.
82. Sri Aurobindo 'The Hour of God' (Cent. Ed. Vol. 17)

शोध पत्रों का प्रकाशन

1. शशिकान्त मणि त्रिपाठी, डॉ० उपेन्द्र बाबू खत्री (मई, 2020), ध्यान एवं योग के अधिगम की आधुनिक वैश्विक परिदृश्य में आवश्यकता – श्रीमद्भगवद्गीता के संदर्भ में । दृष्टिकोण यू.जी.सी. केयर जर्नल वाल्यूम नम्बर 12, इश्यू 5 ।
2. शशिकान्त मणि त्रिपाठी, डॉ० उपेन्द्र बाबू खत्री (मई, 2020), योग के प्रमुख ग्रन्थों यथा— योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित योग के अधिगम की आधुनिक समय में उपयोगिता, अधिगम यू.जी.सी. केयर जर्नल वाल्यूम नम्बर 6, इश्यू 5 ।
3. शशिकान्त मणि त्रिपाठी, डॉ० उपेन्द्र बाबू खत्री, डॉ० अखिलेश कुमार सिंह, डॉ० शाम गणपत तिखे (दिसम्बर, 2017), पातंजल योगसूत्र में अधिगम की अवधारणा, रिसर्च मैगमा, इन्टरनेशनल मल्टी डिस्सीप्लीनरी जर्नल वाल्यूम 1, इश्यू 10 ।
4. शशिकान्त मणि त्रिपाठी, डॉ० उपेन्द्र बाबू खत्री, डॉ० अखिलेश कुमार सिंह, डॉ० शाम गणपत तिखे (अप्रैल, 2019), श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की अवधारणा, अनन्ता, इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ संस्कृत रिसर्च जर्नल ।

शोध पत्रों का प्रस्तुतीकरण

1. शशिकान्त मणि त्रिपाठी, उपेन्द्र बाबू खत्री (2018), योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित योग के शिक्षण एवं अधिगम से भारत का नव निर्माण, राष्ट्रीय सेमिनार 14 से 15 दिसम्बर, 2018 माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल ।
2. शशिकान्त मणि त्रिपाठी, उपेन्द्र बाबू खत्री (2020), आधुनिक वैश्विक परिदृश्य में ध्यान एवं योग के अधिगम की आवश्यकता एवं महात्मा गांधी के अनासक्ति योग सम्बंधी विचारों की प्रासंगिकता, राष्ट्रीय सेमिनार 30 से 31 जनवरी, 2020 क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान (NCERT), भोपाल ।

प्रकाशित शोध पत्र :-



PUBLICATION CERTIFICATE

This publication certificate has been issued to

शशिकांत मणि त्रिपाठी

For publication of research paper titled

ध्यान एवं योग के अधिगम की आधुनिक वैश्विक परिदृश्य में आवश्यकता- श्रीमद्भगवद्गीता
के संदर्भ में

Published in *Drishtikon* with ISSN 0975-119X

Vol. 12 Issue 5 Month May Year 2020

Impact Factor 5.10

The journal is indexed, peer reviewed and listed in UGC Care.

SH Sharma

Editor

Note: This eCertificate is valid with published papers and the paper must be available online at the website under the network of
EDUindex. For cross check you can contact at editor@eduindex.org

**ध्यान एवं योग के अधिगम की आधुनिक वैश्विक परिदृश्य में आवश्यकता - श्रीमद्भगवद्गीता के सन्दर्भ में
शशिकांत मणि बिपाठी^१, डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री^२**

**१ शोधार्थी पीएचडी., योग एवं आयुर्वेद (विभाग, साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय
रायसेन, मध्य प्रदेश, भारत ।**

**२. प्राध्यापक योग एवं आयुर्वेद विभाग, साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, रायसेन
मध्य प्रदेश भारत ।**

सारांश

गान्धीजी ने श्रीमद् भगवद्गीता के श्लोकों का सरल एवं बोधगम्य भाषा में अनुवाद कर 'अनासक्ति योग' की संज्ञा प्रदान की। अनासक्ति योग का पालन राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में सतत किया। 'अनासक्ति योग' में उन्होंने आश्रम वासियों के जीवन दर्शन का भी उल्लेख किया है। उन्होंने अनासक्ति योग को उपनिषदों का मूलतत्त्व बताया। योगसूत्र के अनुसार 'योग चित्त वृत्तियों का निरोध है'। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के रूप में पांच प्रकार की साधक एवं बाधक वृत्तियों का योग सूत्र में वर्णन किया गया है। शरीर और इंद्रियों से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उससे चित्त वृत्तियों का ही निर्माण होता है। बाह्य करण और अंतःकरण के माध्यम से ज्ञान की प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुभूति होती है। शरीर और संसार का ज्ञान इसी प्रकार होता है। बाह्य करण के अंतर्गत पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और अंतःकरण के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आते हैं। ज्ञान प्राप्ति के इन साधनों के आधार पर ही व्यक्ति को संसार के किसी भी विषय वस्तु का ज्ञान होता है।

आत्मज्ञान अपरोक्षानुभूति से होता है। योग के अधिगम से जब चित्त वृत्तियों का निरोध होता है तब अपरोक्षानुभूति होती है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान की अनुभूति के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता होती है परंतु अपरोक्षानुभूति स्वयं सिद्ध होती है, क्योंकि वहाँ कोई अन्य शेष रहता ही नहीं है। जहाँ दूसरा नहीं हो वहीं आत्मस्वरूप का बोध होता है। यही महात्मा गाँधी जी के वसुधैव कुटुम्बकम् सम्बन्धी विचारों को साकार रूप प्रदान करता है। अद्वैत दृष्टि के साथ ही मनुष्य प्राणिजगत का सबसे विवेकशील प्राणी बनता है। जिसके परिणाम स्वरूप वसुधा के समस्त प्राणी पदार्थों में अपने परिवार का दर्शन होता है। आत्मिक रूप से विकसित मनुष्य ही अपने जीवों में जगत को और जगत के जीवन में अपनी आत्मा को देख सकता है। वसुधैव कुटुम्बकम् का ज्ञान योग के अधिगम से ही संभव है क्योंकि शरीर और इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान चित्त वृत्तियों का निर्माण करता है और योग चित्त वृत्तियों का निरोध है, जिसके पश्चात् दृष्ट को अपने स्वरूप का बोध होता है। यह बोध ही एक वैश्विक मनुष्य का निर्माण करता है, जिसके चित्त में विश्व अपना परिवार दिखाई देता है। शिक्षा सभ्य समाज आधार स्तम्भ है सामाजिक मनुष्य का विकास आत्मिक विकास के आधार पर ही संभव है। वर्तमान समय में विश्व मस्तिष्क की विभिन्न समस्याओं जैसे रंगभेद, वर्गसंघर्ष,

लैंगिक असमानता, आतंकवाद, आत्महत्याएं, युद्धोन्माद, असहिष्णुता आदि से जूझ रहा है उनका वास्तविक समाधान अध्यात्म विद्या आधारित ध्यान एवं योग में ही निहित है।

ध्यान एवं योग के अधिगम से जब आत्मानुभूति होती है तब व्यक्ति का व्यवहार बदल जाता है। आत्म दृष्टि से जगत में दूसरा दिखाई ही नहीं देता है। इसी को विवेक ज्ञान कहते हैं। इस दृष्टिकोण के साथ पूरी वसुधा में अपने परिवार का दर्शन होता है। विश्व बंधुत्व एवं विश्व शांति की संकल्पना को इसी दृष्टि के साथ साकार किया जा सकता है। ध्यान एवं योग के अधिगम से ऐसे विवेकशील मनुष्य का निर्माण होता है जो आत्मिक रूप से विकसित होकर अपने जीवन और जगत के जीवन की रक्षा कर सकता है।

विशिष्टशब्द: योग, ध्यान, आत्मज्ञान, अधिगम, अनासक्ति योग।

1. प्रस्तावना

इस संसार का सृजन दृश्य और दृष्टा के योग से हुआ है। जड़ और चेतन के संयोग से निर्मित इस जीव जगत में अनेक प्रकार के प्राणी पदार्थ रहते हैं। इन सबका जीवन जगत के लिए मूल्यवान है। समस्त प्राणियों में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो जीवन के इस परम रहस्य को जान सकता है। मनुष्य जन्म लेने के साथ ही दृश्य जगत की विविधता और अनेकता को देखते हुए बड़ा होता है। वह देखकर सुनकर समझकर आदि प्रकार से अधिगम करता है। शरीर और इंद्रियों के माध्यम से होने वाली अधिगम की प्रक्रिया में सापेक्षता के आधार पर ज्ञान होता है जो चित्त में असंख्य वृत्तियों का निर्माण करता करता है और वृत्तियों के अनुरूप ही दृष्टा इस दृश्य जगत की विविधता और अनेकता देखने लगता है। योग के अधिगम से जब चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होती हैं और दृष्टा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है तब इस जगत में एकात्मता के साथ अखंडता का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के साथ ही मनुष्य जगत का सबसे विवेकशील प्राणी बनता है।

शरीर और संसार से होने वाले अधिगम में मनुष्य बौद्धिक आधार पर विकसित होता है। इस विकास में मनुष्य, मानव समाज तथा वैश्विक जगत का जीवन अनेक प्रकार के संघर्षों का सामना कर रहा है। विज्ञान की प्रगति ने विकास और विनाश दोनों को जन्म दिया है। जैव विविधता का संकट जीव जगत के जीवन का संकट बन गया है। मानसिक और बौद्धिक रूप से विकसित मानव समाज में अनेक प्रकार के मानसिक एवं भावनात्मक विकारों का जन्म हुआ है। जिसके परिणामस्वरूप असुरक्षित एवं आक्रामक व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा है। वर्तमान समय में जिन परिस्थितियों का निर्माण हुआ है उसमें वर्ग संघर्ष, असंतोष, हिंसा, प्रतिस्पर्धा, पाशविक प्रवृत्तियों का विकास, युद्ध की प्रवृत्ति, अशांति, असहिष्णुता, लैंगिक असमानता, नशाखोरी, आत्महत्या, बुजुर्गों के प्रति असंवेदनशीलता, अध्यात्म की शिक्षा देने वाले संत समाज का आत्मिक क्षरण इत्यादि घटनाएं सहज ही परिलक्षित होती हैं। मनुष्य के इस प्रकार के व्यक्तित्व ने प्रकृति को पूरी तरह से असंतुलित कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप जलवायु परिवर्तन, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ग्लोबल वार्मिंग, विभिन्न प्रकार के प्रदूषण आदि संकटों का

सामना प्रकृति को करना पड़ रहा है। बौद्धिक और मानसिक रूप से विकसित मनुष्य किसी न किसी रूप में जीव और जगत के जीवन का संकट बना हुआ है। योग के अधिगम से मनुष्य को जब अपनी चेतना का यथार्थ ज्ञान होता है तब अविद्या से निर्मित जागतिक भ्रम की समाप्ति होगी। यह भ्रामक संयोग ही मनुष्य के दुःख का कारण है जिससे मुक्ति पाने के लिए वह विभिन्न तरह से अधिगम करते हुए अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है, परंतु इससे वास्तविक सफलता की प्राप्ति नहीं होती है। योग विद्या से अविद्या का नाश होने के पश्चात कैवल्य की अनुभूति होती है इस अनुभूति का एकमात्र उपाय निश्चल और निर्दोष विवेक ज्ञान है। (1/25, 26 योगसूत्र)¹

वर्तमान समय में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में अधिगम प्रक्रिया शरीर मन बुद्धि और अहंकार को पुष्ट करने वाली है। जिससे खंडित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसके अंतर्गत मनुष्य दूसरों से सीखने और दूसरों को सिखाने की योग्यता में दक्ष हो जाता है परन्तु उस ज्ञान का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार में दिखाई नहीं देता है। इस व्यावहारिक जगत में ज्ञान और कर्म दोनों की एकता से ही व्यक्ति का अंतर्मन प्रभावित हो सकता है। कहा भी जाता है कि आचार्य वही है जो ज्ञान को आचरण से व्यक्त करें। व्यक्ति में रूपांतरण कोरे ज्ञान से नहीं वरन आचरण से होता है। वर्तमान समय में युवा पीढ़ी की दिशा और दशा को व्यवस्थित एवं अनुशासित करने के लिए उनके समक्ष एक ऐसे आदर्श व्यक्तित्व की आवश्यकता है जिसका ज्ञान मात्र कहने और सुनने का विषय न हो कर व्यावहारिक रूप से प्रदर्शित होता हो। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के व्यवहार से प्रभावित होकर जो सामाजिक परिवर्तन हुआ वह इसी तथ्य को पुष्ट करता है। मात्र अच्छी बातों से परिवर्तन नहीं होता बल्कि योग और ध्यान के अधिगम से निर्मित विवेकवान मनुष्य की उपस्थिति में उससे होने वाले कर्म एवं ज्ञान से होता है। स्वयं के साक्षात्कार के बिना अनेकता में एकता और अखंडता का बोध संभव नहीं है। इस बोध के बिना मनुष्य जगत की समस्याओं का कारण बन कर समाधान खोजता फिरता है अगर ध्यान से देखें तो वैश्विक परिदृश्य में जिस भी तरह की समस्या दिखाई दे रही है उसका एकमात्र कारण मनुष्य ही है। इन समस्याओं का निदान ध्यान और योग के अधिगम से आत्मिक रूप से विकसित मनुष्य ही कर सकता है। आत्मिक रूप से विकसित मनुष्य को पूरी वसुधा में अपने परिवार जैसी ही अनुभूति होती है। इस अनुभूति के साथ अनेकता में एकता देखने की दृष्टि प्राप्त होती है। विश्व बंधुत्व और विश्व शांति की संकल्पना को इसी दृष्टि के द्वारा साकार रूप प्रदान किया जा सकता है।

गाँधी जी द्वारा रचित अनासक्ति योग पुस्तक में यह उल्लेख है कि गीता एक आध्यात्मिक निदान ग्रंथ है। जिसमें कर्म कौशल का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्म की फल में आसक्ति का नहीं होना ही अनासक्ति योग है। यह संसार जन्म एवं कर्मभूमि है जहाँ पर जन्म लेने वाले को निरंतर कर्म कर अंततः मरना पड़ता है। प्रत्येक देह धारी को कर्म करना ही पड़ता है कोई भी मनुष्य कर्म से मुक्त नहीं है। कर्म में किसी न किसी प्रकार का दोष भी निहित होता है। इस दोष से मुक्ति के लिए गीता में निष्काम कर्म, यज्ञार्थ कर्म, कर्म के फल का त्याग करके किया जाने वाला कर्म कृष्णार्पण अर्थात् भगवन को अर्पित करके किये जाने वाले कर्म का उल्लेख है। इस मृत्यु लोक में जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति मरना नहीं चाहता है जबकि शरीर की मृत्यु जन्म के साथ ही सुनिश्चित है। अतः व्यक्ति को अमरता की प्राप्ति शरीर से नहीं वरन अनासक्त कर्म से होती है।

अतः आधुनिक वैश्विक शिक्षा प्रणाली में भारत की पारंपरिक ध्यान एवं योग के अधिगम की प्रक्रिया एवं महात्मा गाँधी के अनासक्ति योग के सिद्धांतों को सम्मिलित किया जाना प्रासंगिक होगा।

2. अधिगम

अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। सीखना हमेशा उद्देश्यपूर्ण होता है। जीवन में सीखने की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। जीवन की परिस्थिति एवं पर्यावरण में समायोजन स्थापित करने के लिए प्राणी सतत सीखता रहता है। अधिगम शिक्षा एवं व्यवहार मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण विषय है। किसी भी शिक्षण का उद्देश्य अधिगम उत्पन्न करना होता है। अधिगम के बिना शिक्षण कार्य पूर्ण नहीं माना जाता है। शिक्षण को अगर एक साधन के रूप में माना जाए तो अधिगम साध्य है। जिसकी प्राप्ति के लिए शिक्षण कार्य किया जाता है। शिक्षण शब्द की व्युत्पत्ति “शिक्ष” धातु से हुई है, जिसका अर्थ सिखाना या सीख देना है। शिक्षण को आंग्ल भाषा में टीचिंग (Teaching) कहते हैं। जिसका अर्थ शिक्षा प्रदान करने की प्रक्रिया है। विस्तृत अर्थों में शिक्षा और अधिगम जीवन पर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है, जिसके द्वारा औपचारिक और अनौपचारिक रूप से प्राणी आजीवन सीखता रहता है।

मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण में अधिगम एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनुभूति या अभ्यास के फलस्वरूप प्राणी के व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थाई परिवर्तन होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्यवहार के किसी भी परिवर्तन को अधिगम नहीं कहा जा सकता है। कई बार व्यवहार में परिवर्तन का कारण बीमारियाँ, थकान, दवा, परिपक्वता आदि भी हो सकते हैं। इन कारणों से व्यवहार में जो परिवर्तन होता है, उसे अधिगम नहीं कहा जा सकता। अधिगम उस व्यवहारिक परिवर्तन को कहते हैं, जो अभ्यास या अनुभूति के परिणामस्वरूप होता है। यह परिवर्तन ही प्राणी को पर्यावरण एवं विभिन्न परिस्थितियों में समायोजित करने में मदद करता है। अधिगम उस व्यवहार परिवर्तन को कहते हैं, जो अभ्यास या अनुभूति के फलस्वरूप होता है। जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने को विभिन्न परिस्थितियों में समायोजित करता है।

सीखने की प्रक्रिया जन्म के तुरंत बाद से ही प्रारंभ हो जाती है और जीवन पर्यंत चलती रहती है। जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष कार्य क्षमताएं विद्यमान रहती

हैं, जिसके परिणामस्वरूप वह कुछ सरल अनुक्रियाओं को करने में समर्थ हो पाता है। सलन (Solon) ने कहा है कि “मैं प्रतिदिन कुछ न कुछ नई चीजें सीखते हुए ही प्रौढ़ के रूप में विकसित हुआ हूँ।”²

क्रानबेक के अनुसार “सीखना अनुभव के परिणामस्वरूप व्यवहार में बदलाव द्वारा व्यक्त होता है।” एक बच्चे में जन्म लेने के पश्चात शैशवावस्था में कोई ज्ञान नहीं होता है, इसलिए ही उसे अबोध बालक कहते हैं। भूख-प्यास लगने पर वह रोता है। उसके पश्चात उसे दूध की प्राप्ति होती है। कालांतर में यह आदत बन जाती है और भूख लगने पर उसे रोना चाहिए यह सीख जाता है। आगे चलकर यह रोना ही उसकी वाणी बन जाती है। एक परिस्थिति में बालक की यह क्रिया सहज है परंतु दूसरी परिस्थिति में यह क्रिया अधिगम है। इस प्रकार कह सकते हैं कि सीखना व्यवहार का बदलाव है, जिसमें किसी नवीन तथ्य का ज्ञान होता है। नवीन तथ्य का ज्ञान होना अधिगम कहलाता है। बुडवर्थ के अनुसार “नवीन ज्ञान और नवीन प्रतिक्रियाओं को प्राप्त करने की प्रक्रिया सीखने की प्रक्रिया है।”³

मनुष्य में सीखना जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत पाया जाता है। सीखने के द्वारा ही जीवन में क्रिया प्रारंभ होती है। परिणामस्वरूप व्यवहार में परिवर्तन होता है। मार्गन (1956) के अनुसार “सीखना सापेक्षतः व्यवहार में ऐसा स्थाई परिवर्तन है जो अतीत के अनुभव का परिणाम होता है।”⁴

2.1 योग का अधिगम

योग के अधिगम का परम लक्ष्य सत्य का दर्शन है, जिसकी प्राप्ति चित्त वृत्तियों से प्राप्त ज्ञान के माध्यम से नहीं वरन चित्त वृत्तियों के निरोध से होती है। यह दृश्य जगत असद् और मरण-धर्मा है। इससे दृष्टा का संयोग हो जाने पर अविद्या के कारण दृष्टा, दृश्य जगत के धर्म को धारण कर लेता है। अपना स्वरूप भूलकर दृश्य के स्वभाव को अपना मान लेना अविद्या है, जिसके परिणामस्वरूप अज्ञान के अंधकार का उदय होता है। अज्ञानता अंधकार का प्रतीक है, जो ज्ञान के प्रकाश द्वारा दूर होती है।

द्रष्टा जब अपना सत् स्वरूप त्यागकर असद् उपभोग को अपना स्वाभाविक धर्म समझने लगता है तब अविद्या का जन्म होता है। इस अविद्या से मुक्ति चेतना के वास्तविक अधिगम से

होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में “असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतमगमय” कहा गया है। (1/2/28 बृहदारण्यकोपनिषद्)⁵

इस प्रकार मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्मा का अधिगम है, जिससे मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। जिसकी प्राप्ति के लिए योग सूत्र में योग के अधिगम की तकनीकी के रूप में अष्टांग-योग, क्रिया-योग और अभ्यास एवं वैराग्य रूपी साधनों का वर्णन किया गया है। साधक अपनी योग्यता अनुसार इन साधनों का चयन करके चित्त की बाधाओं को दूर कर प्रत्येक चेतना का अधिगम कर सकता है।

ईश्वर विशेष पुरुष है। वह सर्वज्ञ है। परिवर्तनशील प्रकृति से किसी भी काल में उसका संयोग नहीं होता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से जन्म लेने वाले क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से ईश्वर का कोई संबंध नहीं है। ईश्वर प्रणिधान के द्वारा स्वरूपाधिगम होता है। यही योग के अधिगम का साध्य है।

2.2 योगी की स्थिति

चित्त और आत्मा के भेद को समाधिजनित विवेक ज्ञान से जब योगी प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उसकी आत्म भावना सर्वथा मिट जाती है। जब तक मनुष्य को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक यह आत्म भावना किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। अज्ञान की अवस्था में सामान्यतया मनुष्यों का चित्त विषयों की ओर अभिमुख होता है। परंतु जब विवेक ज्ञान का उदय होता है तब योगी का चित्त संसार के विषयों से सर्वथा विरक्त होकर कैवल्य के अभिमुख हो जाता है। चित्त के कैवल्य के अभिमुख होने से तात्पर्य अपने कारण में विलीन हो जाना है। चित्त के विलीन होते ही दृष्टाम अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य है और योग के अधिगम का अंतिम परिणाम है।

3. जीवन में योग और ध्यान की प्रासंगिकता

योग से तात्पर्य जुड़ने या जोड़ने से है। किसी से मिलने या किसी से संयुक्त होने को योग कहा जाता है। इस जगत् को ध्यान से देखने पर इस बात का बोध होता है कि जगत् के सारे प्राणी पदार्थ परस्पर एक दूसरे से किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं। इस बोध के साथ योग का अधिगम हो सकता है। योग का उद्देश्य देखने वाले को अर्थात् दृष्टा को अपने स्वरूप

का यथार्थ बोध करना है और यह बोध तब होता है जब शरीर और इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान से चित्त पूरी तरह से मुक्त हो क्योंकि बाह्यकरण और अंतःकरण के माध्यम से प्राप्त ज्ञान चित्त वृत्तियों का निर्माण करता है। महर्षि पतंजलि ने “योग को चित्त वृत्तियों का निरोध कहा है।” (1/2 योगसूत्र)⁶

योग का साधक जब प्रकृति जन्य विकारों को त्याग कर अपनी आत्मा से संयुक्त होता है तब इसे योग कहते हैं। इस योग की सिद्धि के लिए योगसूत्र में अष्टांग योग का विस्तार से वर्णन किया गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—यही योग के आठ अंग हैं। योग के सातवें अंग ध्यान को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि “जिस विषय पर ध्यान किया जाता है उस विषय की ओर मन का सतत प्रवाह ध्यान कहलाता है। दूसरे शब्दों में जिस विषय में चित्त को ठहराया जाए उसी में वृत्ति का सतत प्रवाहित होना ध्यान है।” (3/2 योगसूत्र)⁷

मनुष्य के जन्म के पश्चात अधिगम की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। अधिगम जीवनपर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। इस जगत में सामान्यतया व्यक्ति बाहर की ओर जागरूक होकर अपनी कामनाओं के अनुसार सीखता रहता है। योग के पांचवें अंग प्रत्याहार की साधना से जब इंद्रियों का उनसे संबंधित विषयों से संबंध नहीं रहता और चित्त अपने स्वरूप जैसा हो जाता है तब साधक में मन को एकाग्र करने और किसी एक विषय में ठहराने की योग्यता विकसित होती है, जिसे धारणा कहते हैं। जिसमें धारणा की जाए उसी विषय में मन का सतत प्रवाह ध्यान कहलाता है और जब मन विषय के साथ एकरूपता को ग्रहण कर ले तो ऐसी अवस्था को समाधि कहते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्रीकरण संयम कहलाता है। इस संयम की साधना से चेतना के प्रकाश का प्राकट्य होता है। चेतना के प्रकाश में ही व्यक्ति को अपने स्वरूप की अपरोक्षानुभूति होती है। आत्मज्ञान की अनुभूति प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से ना होकर अपरोक्ष होती है।

शरीर और इंद्रियों से प्रत्यक्ष और परोक्ष का ज्ञान तो हो सकता है परंतु स्वयं के ज्ञान के लिए दूसरों से प्राप्त ज्ञान का विलय होना परम आवश्यक है। जब दूसरा नहीं होता है तब वास्तव में हमारे होने का पता चलता है। योग और ध्यान के अधिगम से जब व्यक्ति को स्वयं का साक्षात्कार होता है तब उसे इस बात का बोध होता है कि इस इस जगत में दूसरा है ही नहीं। यही अद्वैत दर्शन है, जहां पूरी वसुधा में अपने होने का ज्ञान होता है। वसुधैव कुटुंबकम का बोध स्वयं के बोध के साथ ही होता है और इसी बोध के साथ मनुष्य जगत का सबसे विवेकशील प्राणी बन जाता है। ऐसा मनुष्य ही विश्व-बंधुत्व की भावना से भर कर विश्व में शांति की स्थापना कर पाने में सक्षम होता है।

वर्तमान अधिगम प्रक्रिया में जहां व्यक्ति शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक रूप से विकसित होकर बुद्धिमान और समझदार बनता है वही प्राचीन भारत की यौगिक अधिगम प्रक्रिया में व्यक्ति आत्मिक रूप से विकसित होकर सत्य का साक्षात्कार करता है और इस यथार्थ सत्य को जान लेता है कि पूरी वसुधा में दूसरा है ही नहीं। सत्य का ज्ञान स्वयं के अनुभव के साथ ही होता है। योग और ध्यान के अधिगम से सत्य का साक्षात्कार होता है।

जिसमें विश्व बंधुत्व की भावना विकसित होती है और यही भावना पूरी वसुधा को अपना परिवार बना देती है। स्वयं के अनुभव के बिना जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अज्ञानता को छिपाने का साधन बन सकता है, ज्ञान के प्रकाश का नहीं। अज्ञान अंधकार है और ज्ञान प्रकाश। प्रकाश में ही देखा जा सकता है। वसुधैव कुटुम्बकम् का दर्शन स्वयं के बोध से प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में ही संभव है।

4. अनासक्तियोग संबंधी महात्मा गांधी जी के विचार

इस जीव जगत में मनुष्य एकमात्र ऐसा प्राणी है जो जगत के जीवन में अपने जीवन को और अपने जीवन में जगत के जीवन को देखने की दृष्टि रखता है। यह दृष्टि ही मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी के रूप में विकसित करती है अन्यथा पशु के जीवन में और मनुष्य के जीवन में कोई फर्क नहीं है। मनुष्य का जीवन प्राप्त करना भाग्य का विषय तभी हो सकता है जब उसमें विवेक हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ चतुष्टय कहते हैं। अपने पुरुषार्थ से व्यक्ति क्रमशः इनकी सिद्धि करता है। महात्मा गांधी जी कहते हैं सामान्यतः लोग धर्म और अर्थ को परस्पर विरोधी समझते हैं परंतु श्रीमद्भगवद्गीता में इस भ्रम को दूर किया गया है। परम पुरुषार्थ मोक्ष और सांसारिक व्यवहार के बीच कोई भेद नहीं है। जब धर्म को व्यवहार में उतारा गया हो तब वह धर्म है। जो धर्म व्यवहार में नहीं उतारा जा सके वह वास्तव में धर्म ही नहीं है। महात्मा गांधी जी के अनुसार ऐसी बात गीता में कही गई है। गीता के अनुसार ऐसे सारे कर्म का त्याग कर देना चाहिए जो आसक्ति के बिना नहीं किए जा सकते हो। आसक्ति के साथ किया जाने वाला कर्म मनुष्य को धर्म संकट में डालता है और अनासक्ति के साथ किया जाने वाला कर्म अनेक धर्म संकटों से बचाता है। अनासक्ति के साथ कर्म करने वाले मनुष्य का जीवन सरल बन जाता है और वह शांति के साथ अपना जीवन व्यतीत करता है। गीता जी की शिक्षा के अनुसार आचरण करने वाला मनुष्य स्वाभाविक रूप से सत्य और अहिंसा का पालन करता है। फल की आसक्ति के अभाव में मनुष्य कि जीवन में ना तो झूठ बोलने और ना ही हिंसा करने का लालच होता है। किसी फल की प्राप्ति के आकांक्षा से प्रेरित होकर ही मनुष्य असत्य और हिंसा से युक्त कार्य करता है।

गीता अनासक्ति का सिद्धांत प्रतिपादित करती है। अनासक्ति में सत्य और अहिंसा सहज रूप से आ जाती है। गीता के अनुसार निषिद्ध कर्म फलासक्ति है और अनासक्ति विहित कर्म है। गीता में कर्म का त्याग सन्यास नहीं है। गीता का सन्यासी अति-कर्मी है और फिर भी अति-अकर्मी है। अनासक्ति से किया जाने वाला कर्म अकर्म है। कर्म में अकर्म और और अकर्म में कर्म देखने की दृष्टि जिसके पास है वही वास्तव में देखता है।

गीता सिद्धि और असिद्धि में सम रहकर कर्म करने के कौशल को योग की संज्ञा देती है। कर्म की यह कुशलता कर्मफल की अनासक्ति के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। इसलिए गीता का कर्मयोग अनासक्ति योग है। सत्य और अहिंसा का पालन अनासक्ति योग से ही संभव है। किसी भी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर किए जाने वाले कर्म अंततः बंधन का कारण बनते हैं और कर्मफल में आसक्त हुए बिना किये जाने वाले कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। फल की आसक्ति को त्याग कर कर्म करने वाला मनुष्य कभी भी धर्मसंकट में नहीं फंसाता है।

यह संसार कर्मभूमि है यहां जन्म लेने वाले प्रत्येक प्राणी को कर्म करना ही पड़ता है। कर्म के बिना इस संसार में एक पल भी जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। जीवन में इच्छाओं का होना और इच्छाओं के कारण जन्म और मृत्यु का होना जीवन का धर्म है। अपनी अनंत इच्छाओं को पूरा करने में लगा हुआ व्यक्ति अधूरी इच्छाओं के साथ ही मृत्यु को प्राप्त करता है। इस मृत्युलोक में मोक्ष की कामना हर मनुष्य को होती है क्योंकि पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। ध्यानपूर्वक देखने पर यह पता चलता है कि अनासक्ति योग से युक्त होकर कर्म करने से मोक्ष की सिद्धि होती है। फल की आसक्ति व्यक्ति को धर्म संकट में और फल में अनासक्ति धर्म संकट से मुक्ति दिलाती है। महात्मा गांधी जी के अनुसार अनासक्ति योग से सत्य और अहिंसा का पालन करते हुए मनुष्य अपने जीवन और जगत के जीवन में परिवार भावना के साथ वसुधैव कुटुंबकम् की संकल्पना को साकार कर सकता है। सत्य और अहिंसा ही विश्व-बंधुत्व और विश्व-शांति का आधार बन सकता है, जिसकी सिद्धि अनासक्ति योग से संभव है।

5. निष्कर्ष

शिक्षा जीवनपर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। जिसका उद्देश्य मनुष्य का चतुर्दिक विकास करना है। शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक आधार पर जब मनुष्य का विकास होता है तब वह पूर्ण व्यक्तित्व का स्वामी बनता है। वर्तमान शिक्षण एवं अधिगम प्रक्रिया में शरीर और इंद्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार अपने विकास से संबंधित ज्ञान का अधिगम करता है। अधिगम की इस प्रक्रिया में सूचनाओं के आदान-प्रदान, संकलन और संग्रह को ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान से मनुष्य बौद्धिक रूप से संपन्न तो हो जाता है परंतु आत्मिक रूप से विकसित नहीं हो पाता है। आत्मिक विपन्नता के कारण के कारण ही मैं, मेरा और तू, तेरा की प्रवृत्ति से ऊपर व्यक्ति नहीं उठ पाता है। विश्व में जिस भी तरह की समस्याओं का निर्माण हुआ है उसका एकमात्र कारण खंडित ज्ञान की यह प्रवृत्ति ही है। ज्ञान की इस प्रवृत्ति ने जगत को मनुष्य की इच्छाओं और जीवन के लिए उपभोग की वस्तु बना दिया है। जीवन को देखने का यह उपभोगवादी दृष्टिकोण पंचमहाभूत के प्रदूषण से लेकर जैव विविधता, ग्लोबल वार्मिंग, जलवायु परिवर्तन, अतिवृष्टि, अनावृष्टि अनेक प्रकार के प्राकृतिक असंतुलन के साथ ही साथ मनुष्य के जीवन में आने वाली विविध समस्याओं जैसे वर्ग संघर्ष, लैंगिक असमानता, प्रतिस्पर्धा, टूटता परिवार और सिमटते रिश्ते, वृद्धजनों के प्रति अमानवीय दृष्टिकोण, आतंकवाद, सीमा विवाद, हत्या, असंतोष,

आत्महत्या, प्रेम और सौहार्द भावना का अभाव, भयभीत मानस और भयभीत समाज इत्यादि का कारण बना हुआ है।

कर्मफल के त्याग को ही राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी अनासक्ति योग कहते हैं। गीता के अनुसार जो कर्म आसक्ति के बिना किया ही नहीं जा सके वह कर्म त्याग देने योग्य है, क्योंकि आसक्ति के कारण ही हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह आदि कर्म किए जाते हैं। अनासक्ति योग से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह कर्म होता है। महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र में वर्णित अष्टांग योग के प्रथम अंग यम के अंतर्गत इन पंच कर्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनका क्रमशः पालन करने से मनुष्य का जीवन सरल और शांतिपूर्ण हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के शिक्षण और अधिगम से मनुष्य के जीवन में सत्य का ज्ञान और कर्म में अहिंसा का उदय होता है। कर्मफल की आसक्ति से रहित होने पर मनुष्य के जीवन में न तो झूठ बोलने का लालच होता है और न ही हिंसा करने की इच्छा होती है। कामना से युक्त होकर कर्म करने के परिणामस्वरूप झूठ बोलने और हिंसा करने की प्रवृत्ति विकसित होती है। शरीर के रहते कर्म के बिना एक क्षण भी रहना संभव नहीं है। किसी फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर किया जाने वाला कर्म बंधनकारी और कर्मफल की आसक्ति से रहित होकर किया जाने वाला कर्म मोक्ष प्रदान करने वाला होता है। गीता में योग से तात्पर्य कर्मयोग से है और इसकी सिद्धि कर्मफल की अनासक्ति से होती है। कर्म के बंधन से मुक्ति के लिए गीता में निष्काम कर्मयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है।

ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि सत्य के यथार्थ ज्ञान और उस ज्ञान के अनुसार किए जाने वाले कर्म के अभाव में इन समस्याओं का सामना प्राणी जगत को करना पड़ रहा है। योग और ध्यान के अधिगम से संपूर्ण समस्याओं का समाधान किया जा सकता है, क्योंकि प्राचीन योगिक शिक्षण एवं अधिगम की प्रक्रिया का उद्देश्य मनुष्य का आत्मिक विकास है। आत्मिक विकास अध्यात्म विद्या से होता है। विद्या से मुक्ति और अविद्या से बंधन की प्राप्ति होती है। यह जगत जड़ और चेतन के संयोग से निर्मित है। इसमें जन्म लेने वाला जीव जड़

चेतन की ग्रंथि से ग्रसित होकर जन्म, आयु और भोग को प्राप्त करता है। योग विद्या के अधिगम से इस ग्रंथि का भेदन होता है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य विवेकवान बनता है। विवेकवान मनुष्य आत्मानुभूति के पश्चात इस जगत में दूसरा नहीं है इस अद्वैत ज्ञान को प्राप्त करता है। अद्वैत का ज्ञान शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से प्राप्त चित्त वृत्तियों का ज्ञान नहीं है। योग और ध्यान के अधिगम से जब चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होती हैं और दृष्टा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है तब आत्मिक आधार पर संपूर्ण जगत में एकात्मता का दर्शन होता है। यह एकात्म दर्शन एक ऐसे महामानव का निर्माण करता करता है जिसे पूरी वसुधा में अपने अतिरिक्त दूसरा दिखाई ही नहीं देता है और यही दृष्टिकोण पूरी वसुधा को अपना परिवार बना देती है। आत्मिक आधार पर विकसित ऐसा मनुष्य ही जगत की सारी समस्याओं का समाधान कर्ता हो सकता है अन्यथा वर्तमान समय में प्रचलित शिक्षण और अधिगम की प्रक्रिया में मनुष्य ज्ञान विज्ञान संपन्न तो हो सकता है परंतु आत्मिक विपन्नता के कारण जगत, जीव और जीवन की रक्षा करने के बजाए उसके विनाश का कारण बन जाता है। बारूद के ढेर पर खड़ी यह दुनिया बौद्धिक और वैज्ञानिक आधार पर विकसित मनुष्य की सोच का ही परिणाम है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में योग और ध्यान के अधिगम के साथ ही साथ साथ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के अनासक्ति योग संबंधी विचार को शामिल करके विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान करते हुए विश्व बंधुत्व एवं विश्व शांति की संकल्पना को साकार किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. मिश्र, बृजकुमार, (2010) मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन, पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली-110001।
3. डॉ. ब्रह्मप्रकाश, (2009), बाल मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 22/4735 प्रकाश दीप बिल्डिंग, अंसाही रोड, दरियागंज नई दिल्ली। पृष्ठ- 217।
4. मुरजानी, डॉ. जानकी एवं जैन, डॉ. मीना, (2007), सामान्य मनोविज्ञान, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स जयपुर- 302003। पृष्ठ-123
5. शर्मा, शिवशंकर(1911) 'बृहदारण्यकोपनिषद्', बनस्थली विश्वविद्यालय, वैदिक ग्रंथालय, अजमेर।

6. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत् 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर।
7. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद-211001।
8. पुरोहित सोमेश्वर(1969) 'अनासक्तियोग&महात्मा गाँधी द्वारा गुजराती में अनुदित श्रीमद्भागवद्गीता का हिंदी रूपांतर', नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, ISBN& 978-81-7229-130-3।



PUBLICATION CERTIFICATE

This publication certificate has been issued to

शशिकान्त मणि त्रिपाठी

For publication of research paper titled

**योग के प्रमुख ग्रंथों यथा- योगसूत्र, योगवासिष्ठ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित योग के
अधिगम की आधुनिक समय में उपयोगिता**

Published in *ADHIGAM JOURNAL* - ISSN NO. 2394-773X

Vol. 6 Issue 5 Month May Year 2020

Impact Factor 5.60

The journal is indexed, peer reviewed and listed in UGC Care.

Sh Sharma

Editor

Note: This eCertificate is valid with published papers and the paper must be available online at the website under the network of EDUindex. For cross check you can contact at editor@eduindex.org



Research maGma

An International Multidisciplinary Journal

ISSN- 2456-7078

IMPACT FACTOR- 4.520

VOL-1, ISSUE-10, DEC-2017

पातंजलयोगसूत्र में अधिगम की अवधारणा

^१शशिकान्त मणि त्रिपाठी, ^२डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री, ^३डॉ. अखिलेश कुमार सिंह,
^४डॉ. शाम गणपत तीरथ

^१पी.एच.डी. सॉन्सी बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, रायसेन, (म.प्र.)

^२सहायक प्रध्यापक सॉन्सी बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, रायसेन, (म.प्र.)

^३सहायक प्रध्यापक सॉन्सी बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, रायसेन, (म.प्र.)

^४सहायक प्रध्यापक सॉन्सी बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, रायसेन, (म.प्र.)

सारांश

भारतीय दर्शन परंपरा में अधिगम का संबंध अंतरात्मा के ज्ञान से है। योगदर्शन महर्षि पतंजलि द्वारा विरचित एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। जिसमें अधिगम प्रक्रिया का वर्णन आया है। ईश्वर की भक्ति से अंतरात्मा अधिगम सरलता से किया जा सकता है। 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥' अंतरात्मा का ज्ञान ही योग साधना का परम लक्ष्य है। पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष की प्राप्ति परम पुरुषार्थ है। मनुष्य के जन्म मुख्य लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। जो योग के माध्यम से सम्भव है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार योग चित्तवृत्तियों का निरोध है। 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः॥' इस योग से द्रष्टा को अपने स्वरूप का बोध होता है। द्रष्टा और दृश्य के योग से सृष्टि होती है। अविद्या का जन्म भी इसी के परिणाम स्वरूप होता है।

अविद्या क्लेशों का मूल है, जिससे मुक्त होने के लिये जीव जीवन भर प्रयास करता है। योग विद्या से अविद्या जनित अधिगम से निवृत्ति होती है। योगिक अधिगम का लक्ष्य द्रष्टा का दृश्य से वियोग है। जिसके पश्चात् साधक को अपने शुद्ध चैतन्य आनंद स्वरूप का ज्ञान होता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में योगिक अधिगम के बारे में वर्णन किया गया है। जीव के दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति अपने स्वरूप बोध के पश्चात् ही होती है। द्रष्टा जब दृश्य से मुक्त होता है, तब अपने स्वरूप में स्थित होता है। द्रष्टा का स्वरूपाधिगम ही योग है। यह योग विद्या ही द्रष्टा-दृश्य संयोग से उत्पन्न अविद्यादि पंच क्लेशों से मुक्ति दिलाती है। जो मुक्ति दिलाए उसे विद्या कहते हैं। 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वह है, जो मुक्ति प्रदान करे।

प्रमुख बिन्दु :

अधिगम, योगसाधना, चित्तवृत्ति, विद्या-अविद्या, योगसूत्र, ईश्वरप्रणधान।

प्रस्तावना :

भारतीय षट्दर्शन में महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत योगदर्शन एक अत्याधिक महत्वपूर्ण तथा निर्विवाद दर्शन है। आत्मानुभूति के लिए योग की साधना परम आवश्यक है। स्वरूपाधिगम चित्त वृत्तियों के निरोध होने पर होता है। योगसूत्र 195 सूत्रों एवं चार पादों में विभक्त है। प्रथमपाद समाधिपाद है। जिसमें 51 सूत्रों में योग चित्त और उसकी वृत्तियों, समाधि और उसके प्रकारों का वर्णन है। द्वितीय पाद साधन पाद है, जिसमें क्रियायोग, अष्टांगयोग, पंच क्लेशों तथा उन क्लेशों को दूर करने के साधन तथा

योग के बहिरंग साधन आदि का 55 सूत्रों में वर्णन है। तृतीय पाद विभूतिपाद कहलाता है। इस पाद में 55 सूत्रों में योग के अंतरंग साधन एवं योग की साधना से उत्पन्न योग की विभूतियों का वर्णन किया गया है। अंतिम चतुर्थ पाद कैवल्यपाद है। इस पाद में 34 सूत्रों में समाधि सिद्धि और कैवल्य आदि का वर्णन किया गया है।

महर्षि पतंजलि ने योग को चित्तवृत्तियों का निरोध कहा है। “योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।।” द्रष्टा को स्वरूप का अधिगम इसके पश्चात् होता है। “तदा द्रष्टुः स्वरूपे वस्थानम्।।” पातंजलयोगसूत्र के प्रथम पाद (समाधिपाद) के 29वें सूत्र में अधिगम शब्द आया है। यहाँ अधिगम का अर्थ अंतरात्मा के स्वरूप का ज्ञान है। जो कि ईश्वरनाम जप का फल है। स्वरूप का अधिगम चित्त वृत्तियों के निरोध के पश्चात् होता है।

योग तथा अधिगम :

योगा अंगों के अनुष्ठान करने से अशुद्धियों का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति पर्यंत हो जाता है। सामान्य अर्थों में अधिगम से अभिप्राय सीखने से है। सीखना जीवन पर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास इसी प्रक्रिया के द्वारा होता है। वर्तमान में हमें जो कुछ भी ज्ञान है वह हमने किसी न किसी रूप में सीखा है। संसार में मनुष्य का जन्म धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए हुआ है। क्रमशः इन पुरुषार्थों को सिद्ध करके हम अपने स्वरूप का ज्ञान होता है।

योगसूत्र में आत्म स्वरूप के ज्ञान को अधिगम कहा गया है। अधिगम द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना है और यह तब होता है। जब चित्त की सारी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। हम जिन साधनों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अंतःकरण चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सम्मिलित है। ज्ञान के इन साधनों से हम सीखते रहते हैं। सीखने के क्रम में हम श्रुत बुद्धि और अनुमान बुद्धि का प्रयोग करते रहते हैं। श्रुत बुद्धि का अधिगम सुनकर व पढ़कर और अनुमान बुद्धि का अधिगम प्रत्यक्ष ज्ञान की स्मृति के आधार पर होता है। संसार का ज्ञान श्रुत प्रज्ञा और अनुमान प्रज्ञा के द्वारा हो सकता है। परंतु आत्म स्वरूप का ज्ञान ऋतंभरा प्रज्ञा से प्राप्त होता है।

योग की साधना के पश्चात् जब निर्विचार समाधि अत्यंत निर्मल होती है। तब अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। उस समय प्रज्ञा ऋतंभरा होती है। इस ऋतंभरा प्रज्ञा से वस्तु के यथार्थ और पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होता है।

योग में अधिगम की अवधारणा :

विद्या और अविद्या दोनों अनिवार्य :

योग में अधिगम की अवधारणा ऋतंभरा प्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान से है। इस ज्ञान से मुक्ति मिलती है। जो मुक्ति दिलाए उसे विद्या कहते हैं। “सा विद्या या विमुक्तये” अर्थात् विद्या वह है, जो मुक्ति प्रदान करे। संसार की सृष्टि अविद्या जनित ज्ञान के कारण होती है। अविद्या से जन्म लेने वाला ज्ञान क्लेश प्रदायी है। सारे क्लेशों का मूल कारण अविद्या है। इससे मुक्ति विद्या प्रदान करती है। इसलिए योग ‘विद्या’ है। विद्वानों के द्वारा इसे ‘योगविद्या’ ही कहा गया है। योग का अधिगम जीव को क्लेशों से मुक्त कर सकता है। प्रत्येक चेतना का अधिगम ही योग का अधिगम है। “ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।।” इसके बिना विद्या और अविद्या भी अज्ञान के अंधकार को दूर नहीं कर सकते हैं।

यजुर्वेद का 40वाँ अध्याय (जिसे ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं) में कहा गया है, कि जो केवल अविद्या अर्थात् भौतिक-पदार्थपरक विद्या की ही उपासना करते हैं, वह गहन अंधकार अर्थात् सांसारिक उपभोग के साधनों में आसक्त होते हुए अंततोगत्वा नारकीय जीवन को व्यतीत करते हैं। और वे जो केवल विद्या (चेतना विद्या) की ही उपासना में अनुरक्त हैं वे धर्म, अर्थ और कामवासना के अवशेष रहने से गहनतम अंधकार को प्राप्त होते हैं।

अतः विद्या और अविद्या दोनों की साधना करनी चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है कि जो व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है। वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को जीतकर अर्थात् सांसारिक सुख साधनों का उपयोग करता हुआ अंत में विद्या (आत्मज्ञान) के द्वारा अमरता को प्राप्त करता है। अविद्या जनित ज्ञान से जो अधिगम होता है। उससे इह लोक में अभ्युदय और जो विद्याजनित ज्ञान से जो अधिगम होता है उससे परलोक में निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मुण्डकोपनिषद् में इस परम पद मोक्ष की प्राप्ति के लिए विद्या को परा और अपरा नाम से दो भागों में बांटा गया है। ऐहिक ही का अभ्युदय दिलाने वाली विद्या अपरा जिसके अंतर्गत चारों वेद एवं छः वेदांग आते हैं, और भवसागर से मुक्त करा कर परमतत्त्व (अक्षरब्रह्म) का ज्ञान कराने वाली विद्या को परा विद्या कहा गया है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में एक दृष्टांत है। जिसमें “विद्याया देवलोको” अर्थात् विद्या से देवलोक की और कर्मणाः पितृलोकः अर्थात् कर्म अविद्या से पितृलोक की प्राप्ति होती है।

संसार में हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह बाह्य-करण और अंतःकरण के माध्यम से प्राप्त करते हैं। इन करणों से प्राप्त ज्ञान, अज्ञान के अंधकार को दूर नहीं कर पाता है। शरीर और इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान अस्मिता जन्य होता है। अस्मिता का जन्म अविद्या के कारण होता है और द्रष्टा और दृश्य संयोग से अविद्या का जन्म होता है। संसार दुःख स्वरूप है, जो हेय है। इसकी सृष्टि

का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है। यह संयोग ही दुःख का कारण है।

संसार का हर जीव इस दुःख के कारण ही सुख खोजता रहता है। सुख की खोज जीवों के दुःखी होने का प्रमाण है। क्योंकि खोज उसकी होती है जो होता तो है, मगर कहीं खो गया है। प्रकृति से पुरुष का संयोग हो जाने के पश्चात् पुरुष अपने स्वरूप को भूलकर प्रकृति के स्वभाव को ही अपना स्वरूप समझने लगता है। द्रष्टा और दृश्य का संयोग चित्तवृत्तियों का निर्माण करता है। इस संयोग के पश्चात् चित्त पांच वृत्तियों से आवृत्त हो जाता है। ये पांच वृत्तियों—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति हैं।

जीव इन्हीं पांच वृत्तियों के साथ जगत में जीवन व्यतीत करता है। जगत का सारा ज्ञान चित्त वृत्तात्मक है। यह ज्ञान दृक् और दर्शन शक्ति की एकता के पश्चात् जन्म लेने वाले अस्मिता के कारण होता है। जिन योगियों को प्रत्यक्ष चेतना का अधिगम होता है। उन्हें पुरुष के ज्ञान से प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है। और पर वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है। जिनकी प्रज्ञा ऋतभरा होती है। उन्हें इस संसार में सब में परिणाम, ताप और संस्कार दुःख तथा तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण दुःख ही दिखाई देता है।

यह दृश्य जगत किसी न किसी रूप में उन्हें दुःख रूप ही दिखाई देता है, जिन्हें अपने स्वरूप का अधिगम हो गया है। योग सूत्र में अधिगम की अवधारणा द्रष्टा का दृश्य जगत की वृत्तियों से मुक्त होकर स्वरूपस्थ होना है।

जब दृश्य जगत की वृत्तियों से द्रष्टा का वियोग होता है और द्रष्टा अपने स्वरूप में होता है तब योग का अधिगम होता है। इस अधिगम में ईश्वर प्रणिधान एक साधन है। क्योंकि ईश्वर में सर्वज्ञता का ज्ञान निरतिशय है।

ईश्वर पुरुष विशेष है। जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सर्वथा मुक्त है। यह ईश्वर पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि इसका किसी भी समय में अवच्छेदन नहीं हुआ है। इस ईश्वर के स्वरूप का चिंतन और नाम जप करने से अंतरायों का अभाव और आत्म स्वरूप का भी ज्ञान (अधिगम) होता है। प्रकृति से युक्त पुरुष कालाधीन और प्रकृति से मुक्त पुरुष कालातीत होता है। ईश्वर के स्वरूप का चिंतन करने से द्रष्टा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। यही योग सूत्र में अधिगम की अवधारणा है।

यौगिक अधिगम में विघ्न

यौगिक अधिगम में चित्त के नौ विक्षेप—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व ही अंतरायः हैं।

“व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनलब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते न्तरायाः।।”

चित्त के इन विक्षेपों के साथ—साथ दुःख, दोर्मनस्य अंगमेजयत्वं श्वास और प्रश्वास ये पांच विघ्न भी आते हैं। चित्त के विक्षेप और विघ्नों को दूर करने के लिए एकत्व का अभ्यास करना चाहिए।

ईश्वर के स्वरूप का चिंतन और उसके नाम ओम का जप करने से इन अंतरायों का अभाव हो जाता है। इन विघ्न और विक्षेपों की उपस्थिति आत्म स्वरूप का बोध नहीं होने के कारण होती है। जैसे प्रकाश की उपस्थिति मात्र से अंधकार का अभाव हो जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक चेतना के अधिगम से अंतरायों का अभाव हो जाता है। जिस प्रकार अंधकार प्रकाश का अभाव है उसी प्रकार चित्त के विक्षेप और विघ्न, चेतना के अधिगम का अभाव हैं। यौगिक अधिगम के प्रत्यक्ष होने मात्र से चित्त के विक्षेप और विघ्न दूर हो जाते हैं।

ऋग्वेद में साधक को परा—विद्या (जो मोक्ष प्रदायी है) की प्राप्ति के लिए आत्मा वारे द्रष्टव्योः श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासिष्य का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा वल्ली में “सत्यं वद्, धर्मं चर। स्वाध्याय यान्माप्रमदः” का उपदेश दिया गया है। आत्म तत्त्व का अधिगम ही सत्य का ज्ञान है। इस ज्ञान से अधिगमकर्ता को मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

वैदिक अधिगम प्रक्रिया में अधिगमकर्ता को अंतेवासी कहा गया है। आचार्य अपने उपदेश से अंतेवासी को श्रुतार्थ बनाता है।

सत्य का श्रवण करने से जो श्रुत थे, वही अंतेवासी सत्य का साक्षात्कार करने से ऋषि बन जाते हैं। अधिगम की प्रक्रिया सत्य के साक्षात्कार से पूर्ण होती है। सत्यम् ज्ञानम् अनंतं ब्रह्म अर्थात् सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है।

यजुर्वेद के महर्षियों ने अधिगम के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहा है। कि सत्य का मुख्य स्वर्ण पात्र से ढका हुआ है। सत्य के दर्शन के लिए हे पूषन्! तू उसे हटा दे।

“हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।”

सत्य का दर्शन योग के अधिगम का लक्ष्य है। जिसकी प्राप्ति चित्तवृत्तियों के निरोध से होती है। यह दृश्य जगत असत् और मरण धर्मा है। इससे द्रष्टा का संयोग हो जाने पर अविद्या के कारण द्रष्टा, दृश्य जगत के धर्म को धारण कर लेता है। अपना स्वरूप भूलकर दृश्य के स्वभाव को अपना मान लेना अविद्या है। जिसके परिणाम स्वरूप अज्ञान के अंधकार का उदय होता है। द्रष्टा जब अपना सत् स्वरूप त्यागकर असद् रूप भोग को अपना स्वाभाविक धर्म समझने लगता है। तब अविद्या का जन्म होता है। इस अविद्या से मुक्ति चेतना के अधिगम से होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन है—

“असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा मृतम् गमय ”

उपसंहार :

इस प्रकार मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्मा का अधिगम है। जिससे मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इसकी प्राप्ति के लिए योग सूत्र में यौगिक तकनीकी के रूप में अष्टांग योग, क्रिया योग और अभ्यास एवं वैराग्य रूपी साधनों का वर्णन किया गया है। साधक अपनी योग्यता अनुसार इन साधनों का चयन करके चित्त की बाधाओं को दूर कर प्रत्येक चेतना का अधिगम कर सकता है।

ईश्वर विशेष पुरुष है। वह सर्वज्ञ है। परिवर्तनशील प्रकृति से किसी भी काल में इस विशेष पुरुष का संयोग नहीं होता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से जन्म लेने वाले क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से ईश्वर का कोई संबंध नहीं है। इसलिए ईश्वर प्रणिधान के द्वारा स्वरूपाधिगम होता है। स्वरूप का अधिगम ही योग दर्शन का परम लक्ष्य है। महर्षि पतंजलि चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात होने वाले योग से स्वरूप का अधिगम करने की ही बात करते हैं। योग दर्शन का अधिगम आत्म साक्षात्कार है। पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि अष्टांग यौगिक तकनीकी से होता है।

संदर्भ सूची

1. योगसूत्र (1/2)
2. योगसूत्र (1/3)
3. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥
4. योगसूत्र (2/28)
5. योगसूत्र (1/2 एवं 3)
6. योगसूत्र (1/40)
7. योगसूत्र (1/41)
8. योगसूत्र (1/29)
9. यजुर्वेद (40/9)
10. यजुर्वेद 40/11)
11. मुण्डकोपनिषद् (1/1/5)
12. बृहदारण्यकोपनिषद् (1/5/16)
13. “द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः” योगसूत्र (2/17)
14. “वृत्तिसारूप्यमितरत्र” योगसूत्र (1/4)
15. “प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥” योगसूत्र (1/6)
16. “दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥” योगसूत्र (2/6)
17. “तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्यम् ॥” योगसूत्र (1/16)
18. “परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥” योग सूत्र (2/15)
19. “तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥” योगसूत्र (1/25)
20. “क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर ॥” योग सूत्र (2/24)
21. “ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥” योग सूत्र (1/29)
22. योगसूत्र (1/30)
23. “दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥” योग सूत्र (1/31)
24. “तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥” योग सूत्र (1/32)
25. तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षा / 11 / 1)
26. ब्रह्म सूत्र (1/1/23)
27. यजुर्वेद (40/15)
28. बृहदारण्यकोपनिषद् (1/3/28)



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2019; 5(3): 15-17
© 2019 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 08-03-2019
Accepted: 12-04-2019

शशिकांत मणि त्रिपाठी

शोधार्थी (पी.एच.डी.) योग एवं
आयुर्वेद विभाग, सौंजी बौद्ध भारतीय
ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय रायसेन,
मध्य प्रदेश, भारत

डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री

सहायक प्राध्यापक, योग एवं
आयुर्वेद विभाग सौंजी बौद्ध भारतीय
ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय रायसेन,
मध्य प्रदेश, भारत

डॉ. अखिलेश कुमार सिंह

सहायक प्राध्यापक, योग एवं
आयुर्वेद विभाग सौंजी बौद्ध भारतीय
ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय रायसेन,
मध्य प्रदेश, भारत

डॉ. शाम गणपत तीखे

सहायक प्राध्यापक, योग एवं
आयुर्वेद विभाग सौंजी बौद्ध भारतीय
ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय रायसेन,
मध्य प्रदेश, भारत

Correspondence

शशिकांत मणि त्रिपाठी

शोधार्थी (पी.एच.डी.) योग एवं
आयुर्वेद विभाग, सौंजी बौद्ध भारतीय
ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय रायसेन,
मध्य प्रदेश, भारत

श्रीमद्भगवद्गीता में योग के अधिगम की अवधारणा

शशिकांत मणि त्रिपाठी, डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री, डॉ. अखिलेश कुमार सिंह, डॉ. शाम
गणपत तीखे

सांख्य

भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से विकसित मनुष्य ही मनुष्यता के गुणों से ओतप्रोत होगा। मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की प्राप्ति है। योग के अधिगम का लक्ष्य परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। मानव जीवन में अधिगम एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। मानवीय गुणों के अधिगम के बिना मनुष्य का निर्माण नहीं होता है। मनुष्य का देह धारण कर लेने मात्र से विवेक की प्राप्ति नहीं होती है। विवेक आत्मज्ञान से प्राप्त होता है। आत्मा का ज्ञान होने के पश्चात् ही मनुष्य विवेकवान होता है। विवेकशील मनुष्य ही सब में अपने को और सबको अपने में देखने की दृष्टि प्राप्त करता है। देखने की यह दृष्टि आत्मदर्शन के पश्चात् प्राप्त होती है। अध्यात्म के ज्ञान से जीवन के विषाद से मुक्ति मिलती है। दुःख की अत्यधिक निवृत्ति ही मोक्ष है, जिसकी प्राप्ति योग के अधिगम से संभव है। प्रस्तुत शोध पत्र में गीता में योग के अधिगम के बारे में वर्णन किया गया है। जीवन में विषाद से मुक्ति अपने वास्तविक स्वरूप के बोध के साथ ही संभव है। देहात्म भाव से मुक्त होकर आत्म भाव में प्रतिष्ठित होना योग है। दृष्टा का अपने स्वरूप का अधिगम योग का अभीष्ट है। यह योग विद्या ही दृष्टा और दृश्य के संयोग से उत्पन्न अविद्याजनिता मानसिक वलेशों से मुक्ति दिलाती है। विद्या वह है जो मुक्ति दिलाए (सा विद्या या विमुक्तये)।

कुटुम्बः योग, अधिगम, मानसिक विषाद, समत्व, निष्काम कर्म तथा कर्म की कुशलता

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा में श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थान त्रयी में से एक घटक रही है। अपने सिद्धांतों को प्रमाणित करने के लिए आचार्यों ने गीता को एक प्रमाण ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में गीता महाभारत के भीष्म पर्व के 18 अध्यायों से ली गई है परंतु कालांतर में इसे एक स्वतंत्र ग्रंथ रूप में स्वीकार कर लिया गया। मनुष्य अपने जीवन में पुरुषार्थ से क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए साधन करता है। धर्म पुरुषार्थ मनुष्य के जीवन निर्माण का आधार स्तम्भ है। जीवन में जब ऐसे प्रश्न खड़े होते हैं जिनका उत्तर सामान्य मानस से प्राप्त नहीं होता तब गीता जीवन के धर्म ग्रंथ के रूप में समूल प्रश्नों का उत्तर देती है। गीता एक वास्तववादी ग्रंथ है, जिसमें यह बताया गया है कि जिस समय जो करना उचित है उसे करना ही धर्म है, चाहे वह युद्ध ही क्यों न हो। इस संसार में श्रीमद्भगवद्गीता के समान मानव कल्याण के लिए उपयोगी शायद कोई ग्रंथ नहीं है। गीता में ज्ञान योग, ध्यान योग, कर्म योग, भक्ति योग आदि विभिन्न साधन बताए गए हैं, इन साधनों में से व्यक्ति अपनी योग्यता, रुचि और श्रद्धा के अनुसार अपना कल्याण कर सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता 18 अध्यायों एवं 700 श्लोकों में वर्णित है। प्रथम 6 अध्यायों में कर्म योग का ज्ञान दिया गया है, उसके पश्चात् दूसरे 6 अध्यायों में भक्ति योग की शिक्षा दी गई है, तत्पश्चात् अंतिम 6 अध्यायों में ज्ञान योग का अधिगम कराया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता की टीका की भूमिका में आदि शंकराचार्य जी कहते हैं कि “संपूर्ण वैदिक शिक्षाओं के सारतत्त्व का संग्रह इस गीता शास्त्र में है, इसकी शिक्षा से सभी प्रकार की माननीय महत्वाकांक्षाओं की सिद्धि होती है।”

अधिगम

सामान्य अर्थों में अधिगम से तात्पर्य सीखने से है। सीखने के पश्चात् ही व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन होता है। कई बार व्यवहार परिवर्तन का कारण बीमारी, थकान और परिपक्वता भी हो सकती है, परंतु

अधिगम उस व्यवहार परिवर्तन को कहते हैं जो अपेक्षाकृत स्थाई हो। सीखना एक व्यवहारिक बदलाव है। यह बदलाव अनुभूति या अभ्यास के परिणामस्वरूप होता है, जो अपेक्षाकृत स्थाई होता है। किसी भी प्रकार के शिक्षण का मूल उद्देश्य अधिगम है।

श्रीमद्भगवद्गीता में योग के अधिगम की अवधारणा

शाब्दिक अर्थों में योग से तात्पर्य जोड़ना है। किन्हीं दो वस्तुओं का मिलना ही योग है। यहां जीवात्मा और परमात्मा का मिलन योग है। मिलन की इस प्रक्रिया को प्रक्रिया को गीता में बार-बार वर्णित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता योग शास्त्र है। इसको उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र के बराबर का ग्रंथ माना गया है। यह तीनों ग्रंथ मिलकर प्रस्थान त्रयी कहलाते हैं। गीता के 18 अध्याय महाभारत के भीष्म पर्व के 23 से 40 अध्यायों के संकलन हैं, इसमें 700 श्लोक हैं। इसके उल्लेखित 18 अध्यायों में किसी न किसी रूप में योग का निरूपण किया गया है। योग का परम लक्ष्य अपने वास्तविक सत्य स्वरूप की प्राप्ति है, जिसके पश्चात् पूर्णता की अनुभूति होती है। इस लक्ष्य तक पहुंचने के तीन मार्ग हैं— ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग। ज्ञानयोग के द्वारा वास्तविकता का ज्ञान, भक्ति योग के द्वारा परमात्मा की उपासना और कर्म योग के द्वारा अपने संकल्प को परमात्मा को समर्पित कर फल की आकांक्षा से मुक्त होकर अर्थात् निष्काम होकर कर्म करना बताया गया है। मनुष्य अपने प्राकृतिक गुणों के कारण चित्तनशील, भावुक और सक्रिय प्रवृत्ति के होते हैं, उनकी इस विभिन्नता के कारण ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के तीन मार्ग बताए गए हैं। अद्वय ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त होता है। अधिगम, अभ्यास और अनुभूति का विषय है। ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में विद्यमान बाधाओं के हटते ही ज्ञान का प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है।

गीता में योग का अधिगम

योग के अधिगम का लक्ष्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है। गीता में मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए अधिविद्या ब्रह्मविद्या के साथ ही साथ उसके अनुशासन अर्थात् योगशास्त्र का विस्तार से वर्णन किया गया है।

मनुष्य ब्रह्म का अंश है। यह ज्ञान शाब्दिक न होकर अनुभूतिपरक है। इस अद्वय ज्ञान के साक्षात्कार के परिणामस्वरूप परमात्मा से इतर कोई भी अनुभूति केवल भ्रांति प्रतीत होती है। योगशास्त्र ब्रह्मविद्या के सिद्धांतों तक ही सीमित न रहकर आध्यात्मिक अनुभूति की गति विज्ञान का भी अधिगम करता है। योग शब्द का निर्माण “युज” धातु से हुआ है, जिसका अर्थ जोड़ना है। योग से तात्पर्य अपनी आत्मशक्ति को एक जगह जोड़ना, संतुलित करना और उसे विस्तार देना है।

गीता मनुष्य के समक्ष सर्वांग-संपूर्ण योग शास्त्र प्रस्तुत करती है, जिसमें आत्मा की स्वतंत्रता और एकात्मता के ज्ञान के साथ ही साथ आत्म विकास के माध्यम से ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग प्रशस्त होता है। यह आत्म ज्ञान मनुष्य जाति को जीवन के नवीन अर्थ तक ले जाता है। इस अनुशासन से संबंधित प्रत्येक वस्तु को योग की संज्ञा प्रदान की जाती है। जैसे— ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि। ज्ञान वास्तव में एक प्रत्यक्ष अनुभव है, जो ज्ञान प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं के हटते ही प्रकाशित हो जाता है। मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार ज्ञान का अधिगम करता है। सामान्यतः मनुष्य चित्तनशील, भावुक और सक्रिय प्रकृति का होता है। चित्तनशील प्रकृति के मनुष्य ज्ञान के मार्ग अर्थात् ज्ञानयोग, भावुक प्रकृति के मनुष्य भक्ति के मार्ग अर्थात् भक्तियोग और सक्रिय प्रकृति के मनुष्य कर्म के मार्ग अर्थात् कर्मयोग का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार योग सीखता रहता है।

गीता में वर्णित “सांख्य” शब्द से आशय सांख्य दर्शन से और “योग” शब्द से आशय पातंजल योगदर्शन से नहीं है। गीता में सांख्य अद्वय ज्ञान और कामनाओं के परित्याग पर जोर देता है

और योग समत्व भाव के साथ कर्म करने पर। कामना युक्त कर्म समत्व भाव के साथ संभव नहीं है।

सुख-दुःख कामना युक्त कर्म के परिणाम हैं। सामान्यतया सुख की कामना और दुःख से मुक्ति के लिए मनुष्य कर्म करता है। यह कर्म बंधनकारी है। बंधन से मुक्ति के लिए गीता में कहा गया है कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ 2/47 गीता

इस कर्मभूमि में जीव को कर्म करने का अधिकार है पर फल पर अधिकार नहीं है। कर्म का उद्देश्य फल नहीं होना चाहिए और न ही अकर्म के प्रति आकर्षण होना चाहिए। कर्मयोग के इस प्रसिद्ध श्लोक में अनासक्ति का सिद्धांत मूल रूप से विद्यमान है। जीवन में सफलता-असफलता का संबंध सिर्फ व्यक्ति के कर्म पर ही नहीं अपितु अनेक कारणों पर निर्भर है। मनुष्य जब समस्त प्रकार की आसक्तियों को त्यागकर निष्काम भाव से सिद्धि और असिद्धि में मन को सामान सामान रखकर अपना कर्तव्य कर्म करता है तब इसे योग कहते हैं, क्योंकि मन की समता ही योग है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ 2/48 गीता

जिस मनुष्य ने अपने मन को बुद्धि से जोड़कर अपने को स्वरूप में स्थित कर लिया है उसके लिए अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म और उनसे प्राप्त परिणाम का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। वह इन सबसे मुक्त हो जाता है। योग बुद्धि से युक्त होकर सब कर्मों को करने की कुशलता का नाम योग है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ 2/50 गीता

सफलता और विफलता में मन को सामान बनाए रखने का नाम ही योग है और यही कर्म की कुशलता है, जिसमें कर्ता कर्म करने को ही अपना अधिकार समझता है और निष्काम भाव से सतत कर्म करता रहता है। इस प्रकार किया जाने वाला कर्म मोक्ष का कारण बनता है। योग का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है।

फल की कामना में किया जाने वाला कर्म दुःख का कारण बनता है। योगी फल की इच्छा न रखते हुए निष्काम कर्म करता है। निष्काम कर्म का परिणाम दुःख के संयोग से वियोग है। योग वह विद्या है जो दुःख के संयोग से अलग करती है, इसलिए दृढ़ संकल्प और अनुद्विग्न मन से योग का अभ्यास करना चाहिए।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ 6/23 गीता

योग की साधना करने वाला साधक जब बुद्धि योग से समत्व भाव को प्राप्त हो जाता है तब वह समस्त प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में समस्त प्राणियों को देखने की दृष्टि प्राप्त कर लेता है। वह सब जगह एक जैसा ही देखता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन॥ 6/29 गीता

यह दृष्टि तब प्राप्त होती है जब दृष्टा को दृश्य जगत् से वियोग होने के पश्चात् अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । 1/3 योगसूत्र

बुद्धि से युक्त मन समानता के स्वभाव वाला हो जाता है। सामान्यतया मन का स्वभाव चंचल है। योग के अभ्यास एवं वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को योगी बनने की शिक्षा दे रहे हैं क्योंकि योगी तपस्वियों से, ज्ञानियों से और कर्मकाण्डियों से भी बड़ा है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ 6/46 गीता

उपसंहार

श्रीमद्भगवद्गीता में योग के अधिगम से तात्पर्य मन की स्थिरता से है, जिसकी सिद्धि अभ्यास और वैराग्य से संभव है। स्थिर मन से आशय समान स्वभाव वाले मन से है, जिसमें सिद्धि और सिद्धि के प्रति समत्व भाव होता है। समत्व भाव से किया जाने वाला कर्म दुःख से मुक्ति दिलाता है। योग कर्म की कुशलता है। योग में कुशल योगी सब में अपनी आत्मा को और सबको अपनी आत्मा में देखता है। ऐसी दृष्टि के साथ किया जाने वाला जाने वाला कर्म मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। योग का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, जिसकी सिद्धि बुद्धि योग से समत्व भाव के साथ किये जाने वाले निष्काम कर्म से होती है। यही कर्म की कुशलता है और यह कुशल कर्म ही योग है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अजीमूरहमान, 1978 सामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
2. गोयन्दका हरिकृष्णदास, संवत् 2072 योगदर्शन, गीताप्रेस, गोरखपुर
3. तिलक लोकमान्य बालगंगाधर, 2017 गीता रहस्य डायमण्ड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली
4. तीर्थ स्वामी ओमानंद, संवत् 2069 पातंजल योग प्रदीप, गीताप्रेस, गोरखपुर
5. ब्रह्मप्रकाश, 2009 बाल मनोविज्ञान यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली
6. जयसवाल डॉ. सीताराम, 2004 भारतीय मनोविज्ञान और शिक्षा, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली
7. मिश्र ब्रजकुमार, 2010 मनोविज्ञान, मानव व्यवहार का अध्ययन, पी.एच.आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली
8. राधाकृष्ण डॉ. सर्वपल्ली, 2012 भगवद्गीता, हिंद पॉकेट बुक, नई दिल्ली
9. शांकर भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता, सं. 2073 गीताप्रेस, गोरखपुर
10. स्वामी अपूर्वानंद, 1988 श्रीमद्भगवद्गीता, रामकृष्णमठ, रामकृष्ण आश्रम, नागपुर

प्रस्तुत रिसर्च पेपर

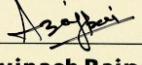
**Makhanlal Chaturvedi National University of Journalism
and Communication, Bhopal**

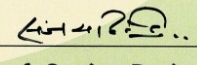


DEPARTMENT OF MANAGEMENT
National Conference
on
Effective Strategies for New India : Challenges and Opportunities
14-15 December, 2018

Certificate

This is to certify that Prof./Dr./Mr./Ms. **Shashikant Mani Tripathi**.....
Chaired the session / participated / presented a paper titled ✓ **योग सूत्र योगवाशिष्ठ एवं**
श्रीमद् भगवद्गीता में वर्णित योग के शिक्षण एवं अधिगम से भारत का नव निर्माण in the Conference
held on 14-15 December, 2018 successfully.


Prof. Avinash Bajpai
Head of the Department


Prof. Sanjay Dwivedi
Registrar



National Conference on Implications of Gandhian Thoughts for School Curriculum

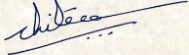


Organised by
Regional Institute of Education, NCERT, Bhopal
(NAAC Accredited A+ Grade Institute)

January 30-31, 2020

Certificate

This is to certify that Prof./Dr./Mr./Ms. शशिकांत मणि त्रिपाठी
of सॉची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय रायसेन, मध्य प्रदेश, भारत।
presented a paper titled आधुनिक वैश्विक परिदृश्य में ध्यान एवं योग के अधिगम की आवश्यकता एवं महात्मा गाँधी के
अनासक्ति योग संबंधी विचारों की प्रासंगिकता
in the **National Conference** held at Regional Institute of Education, Bhopal from January 30-31, 2020.


Dr. Chitra Singh
Organizing Secretary
Associate Professor, RIE, Bhopal


Prof. N. Pradhan
Patron
Principal, RIE, Bhopal